नाट्यम्

91-94

रामजी उपाध्याय का नाट्य साहित्य

प्रधान संपादक
राधावल्लभ त्रिपाठी

संपादक
आनन्दप्रकाश त्रिपाठी

प्रबन्ध संपादक
सञ्जय कुमार

संपादक मण्डल
नौनिहाल गौतम, रामहेत गौतम
शशिकुमार सिंह, किरण आर्या

प्रकाशक
नाट्य परिषद्, संस्कृत विभाग
डाक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय) सागर (म.प्र.)

नाट्यम् **91-94, अक्टूबर 2019-सितम्बर 2020**
रंगमंच एवं सौन्दर्यशास्त्र की पूर्वसमीक्षित त्रैमासिक शोधपत्रिका
रामजी उपाध्याय का नाट्य साहित्य (शताब्दी स्मरण विशेषांक)
ISSN : 2229-5550
UGC Approved Journal Sr. No. 41002
नाट्य परिषद् **(पंजीकरण क्र. 100066)**
संस्कृत विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
दूरभाष-फैक्स (कार्यालय) 07582-264366 पिन-470 003

Natyam : A Quarterly Journal of theatre and aesthetics
published by Natya Parisad. Deptt. of Sanskrit,
Doctor Harisingh Gour University, Sagar,
Madhya Pradesh-Pin-470 003. India.
Phone-Fax (off.) : 07582-297149

सदस्यता शुल्क :
विशेषांक - 200/- रु.
प्रत्येक अंक - 25/- रु., वार्षिक - 100/- रु.
आजीवन (प्रति व्यक्ति) - 1000/- रु.
आजीवन (प्रति संस्था) - 5000/- रु.
इस अंक का मूल्य - 200/- रु.

यह शुल्क मनीआर्डर, चेक या नगद दिया जा सकता है
जो नाट्य परिषद्, सागर के नाम देय होगा।

पत्रव्यवहार :
प्रो. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) 470003
e-mail : sanskritsagar1946@gmail.com, Mob : +919425656284
© सर्वाधिकार सुरक्षित

मुद्रण : अजय जैन, **अमन प्रकाशन** नमक मंडी,
कटरा, सागर (म.प्र.) मो. 9826434225

नाट्यम् में प्रकाशित नाटकों के अनुवादों/रूपान्तरों या किसी भी अन्य सामग्री की किसी भी रूप में प्रस्तुति के लिए *नाट्य परिषद्* से अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है।
प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति अथवा विचारों से *नाट्य परिषद्*, संपादक या संपादक मंडल की सहमति अनिवार्य नहीं है।

सूचना - आजीवन ग्राहकों को डाक व्यय 250 रु. (दो सौ पचास रूपये मात्र) पर नाट्यम् के उपलब्ध पुराने अंक भी निःशुल्क देय हैं।

सम्पादकीय

हमें अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है कि वर्ष 2020 आचार्य रामजी उपाध्याय का शताब्दी वर्ष है। वे विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के आरंभिक युग के आचार्य एवं अध्यक्ष थे। प्रथम विभागाध्यक्ष डॉ. वी.एम. आप्टे (1947-1957) थे। उपाध्याय जी ने 1957 से 1980 तक संस्कृत विभाग के अध्यक्ष पद को सुशोभित किया और विभाग की कीर्ति की आधार पीठिका तैयार की जिस पर आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी ने संस्कृत साहित्य का भव्य शिखर निर्मित किया। आचार्य उपाध्याय के व्यक्तित्व और कृतित्व के बहुआयामी पक्षों को संस्कृत जगत में भरपूर सराहना मिली। उनके पढ़ाये हुए छात्रों और शोधार्थियों ने देश के विभिन्न क्षेत्रों में इस विभाग की यशः पताका फहरायी। संस्कृत विभाग को जो प्रतिष्ठा उपाध्याय जी ने दिलायी उसकी गौरव गाथा में परवर्ती आचार्य और उनके प्रिय शिष्य प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी ने अपना अविस्मरणीय योगदान किया है।

आचार्य रामजी उपाध्याय का खांटी बनारसी व्यक्तित्व बहुत लोकप्रिय हुआ। अपने शिष्यों के प्रति उनमें विश्वास और गहरा अनुराग था। उनमें लोकोपकार की बलवती भावना थी। अध्यापन की दृष्टि से भी वे अद्वितीय थे। विश्वविद्यालय के अध्यापकों के बीच उन्हें पर्याप्त सम्मान मिलता था। हिन्दी व संस्कृत दोनों विभागों के अध्यापक व छात्र अपनी ज्ञान पिपासा शांति हेतु उनके सम्पर्क में बने रहते थे। उनके व्यक्तित्व का देशजपन भी लोकप्रिय था।

आचार्य रामजी उपाध्याय बहुमुखी प्रतिभा के धनी व्यक्तित्व थे। गद्य और पद्य दोनों ही विधाओं में उन्हें महारत हासिल थी। आलोचना, काव्य शास्त्र, कथा, नाटक, अनुवाद आदि विभिन्न विधाओं में उन्होंने मूल्यवान ग्रंथ रचे। आचार्य उपाध्याय ने रामकथा के प्रमुख कथापात्र सीता कैकेयी और शम्बूक को कथा को नवीन दृष्टि से अंकित करने का प्रयास किया है। ऐतिहासिक पात्र गौतम बुद्ध, नन्द, सम्राट् अशोक के जीवन प्रसंगों को भी नाटक का आधार बनाया है। सीताभ्युदयम्, कैकेयी विजयम्, नन्द गौतमीयम, शम्बूकाभिषेकम्, नचिकेता विजयम् संस्कृत के नाटक हैं और 'पूर्वपथ' एवं 'विश्वविजयम्' हिन्दी नाटक हैं। बहुत प्रयास के बाद भी नचिकेता विजयम् और पूर्वपथ हमें उपलब्ध नहीं हो सका।

इस सिलसिले में आचार्य उपाध्याय के सुपुत्र से भी सम्पर्क किया गया, किन्तु उनके पास भी ये नाट्य कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं। इसलिए उपलब्ध नाटकों के आधार पर आचार्य रामजी उपाध्याय के नाट्य वैशिष्ट्य को समझने का प्रयास किया गया है।

नाटयम्' के इस अंक में लेखकों द्वारा आचार्य प्रवर के संस्कृत नाटक साहित्य पर गंभीर मंथन किया गया है। उनके संस्कृत नाटकों के सामान्य परिचय के साथ ही विभिन्न नाट्य शास्त्रीय तत्त्वों के संदर्भ में लेखकों ने विचार-विमर्श किया है। संभवतः पहली बार उपाध्याय जी के नाट्य साहित्य पर विपुल साहित्य सामग्री इस पत्रिका में एकत्र हुई है, जिससे आचार्य उपाध्याय के नाट्य साहित्य को समझने की स्पष्ट दृष्टि हमें मिलेगी।

इस विशेषांक में उनके प्रिय शिष्य आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी ने उन्हें अपने संस्मरण में श्रद्धाभाव से याद किया है। डॉ. श्यामसुंदर दुबे भी उपाध्याय जी के शिष्यवत् रहे हैं। उन्होंने अपने संस्मरण में उपाध्याय जी के व्यक्तित्व और पारिवारिक जीवन को बहुत आदर के साथ स्मरण किया है। डॉ. त्रिपाठी और डॉ. दुबे के संस्मरण के कारण हम उनके व्यक्तित्व की दुर्लभ झांकी देख पाये हैं। नाट्यम में नाट्य संबंधी सामग्री प्रकाशित करना हमारी प्रतिबद्धता है, इसी कारणवश आचार्य रामजी उपाध्याय के अन्य साहित्य पर विचार करना हमारे लिए संभव नहीं हुआ। इस बात के लिए हम खेद व्यक्त करते हैं।

हम कृतज्ञ है इस अंक के सभी लेखकों के प्रति जिन्होंने के रामजी उपाध्याय शताब्दी स्मरण के अवसर पर नाट्यम् पत्रिका के लिए अपना रचनात्मक सहयोग किया है। प्रबंध संपादक डॉ. संजय कुमार ने लेख एकत्र करने और संयोजन का महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस योजना को साकार करने में विभाग के सभी शिक्षकों के योगदान के प्रति आभार। निश्चय ही यह अंक सभी के सम्मिलित सहयोग का ही प्रतिफल है।

विश्वास है नाट्यम् का यह विशेषांक सभी सुधिजनों और विद्वानों को पसंद आयेगा। हार्दिक शुभकामनाएं।

- प्रो. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी

अनुक्रम

1. **गुरुस्मरण** 7
राधावल्लभ त्रिपाठी
2. **डॉ. रामजी उपाध्याय : संस्कृत और संस्कृति के परम हंस** 17
श्यामसुंदर दुबे
3. **साहित्य-संस्कृति के अनन्य उपासक रामजी उपाध्याय** 24
सञ्जय कुमार
4. **सीताभ्युदय कथा** 31
राम सुमेर यादव
5. **सीताभ्युदयम् में लोकसंस्कृति** 36
वत्सला
6. **सीताभ्युदयम् : विविध पक्ष** 49
रूपा कुमारी
7. **कैकेयीविजयम् में नारी चेतना** 60
जयप्रकाश नारायण
8. **कैकेयी का राजधर्म** 68
सुकदेव वाजपेयी
9. **कैकेयी-विजय** 73
शिल्पा सिंह
10. **यशस्विनी कैकेयी** 80
कृष्णा जैन
11. **कैकेयीविजयम् : नाट्यशास्त्रीय समीक्षा** 87
कविता कुमारी मीणा
12. **सामाजिक समरसता की कृति : शम्बूकाभिषेक** 93
रमाकान्त पाण्डेय
13. **चराचरवृन्दैर्लब्धं पदनिर्वाणम्** 100
रामहेत गौतम
14. **संस्कृत काव्य परंपरा में शम्बूकाभिषेकम् नाटक** 113
ठाकुर शिवलोचन शाण्डिल्य
15. **शम्बूकाभिषेकम् में सामाजिक जन-जीवन** 120
जहाँआरा
16. **सहकारी सरोकार का रंग लोक : अशोक-विजयम्** 124
अजय कुमार मिश्र
17. **अशोक-विजयम् में विश्वबन्धुत्व एवं अहिंसा-भावना** 137
यशदेव आर्य

18. **नन्दगौतमीयम् : एक विवेचन** 143
शालिनी सक्सेना

19. **नवीन उद्भावनाओं का अतिरंजित चित्रण और विश्वविजय नाटक** 151
आनन्दप्रकाश त्रिपाठी

20. **नन्दगौतमीयम् में अलंकार-योजना** 158
सन्दीप कुमार यादव

21. **मानवीय उत्थान में मालवीय जी की भूमिका : आचार्य रामजी उपाध्याय की दृष्टि में** 162
किरण आर्या

22. **आचार्य रामजी उपाध्याय के नाटकों में जीवन दृष्टि** 169
अर्चना जोशी

23. **आचार्य रामजी उपाध्याय के नाटकों में मानव-मूल्य** 177
रामाश्रय राजभर

24. **रामजी उपाध्याय के नाटकों में लोकहित की प्रतिष्ठा** 185
नौनिहाल गौतम

25. **रामजी उपाध्याय के नाटकों में लोकहित चिन्तन** 190
प्रभातकुमार सिंह

26. **रामजी उपाध्याय के नाटकों की दार्शनिक समीक्षा** 196
रवीन्द्र कुमार पंथ

27. **रामजी उपाध्याय के नाटकों में गंगा माहात्म्य** 202
निकिता यादव

28. **रामजी उपाध्याय के नाटकों में रूढ़ियों का निराकरण** 208
प्रभाशंकर शुक्ल

29. **रामजी उपाध्याय के नाटकों में रस** 214
पूनम यादव

30. **रामजी उपाध्याय के नाटकों में नायक-नायिका** 219
अरुण कुमार निषाद

31. **रामजी उपाध्याय के नाटकों में रीति-विचार** 225
शिवपूजन चौरसिया

32. **रामजी उपाध्याय के नाटकों में औचित्य** 233
नीरज कुमार

33. **नन्दगौतमीयम् में विश्वशान्ति** 241
मैत्रयी कुमारी

34. **रामजी उपाध्याय के नाटकों में भाषिक सौन्दर्य** 245
सरोज कौशल

- **लेखकों के पते** 254

1
गुरुस्मरण

राधावल्लभ त्रिपाठी

एक : प्रथम दर्शन

आचार्य रामजी उपाध्याय के प्रथम दर्शन मैंने आज से छप्पन साल पहले 1965 के साल में उस समय किये जब मैं छतरपुर के महाराजा महाविद्यालय में बी. ए. प्रथम वर्ष का छात्र था। मेरे पिताजी (आचार्य गोकुल प्रसाद त्रिपाठी) इस महाविद्यालय में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष थे। विभाग में छात्रों की संस्कृत परिषद् संचालित की जाती थी। इस परिषद् की समिति का प्रतिवर्ष नामांकन या चयन किया जाता था। साल 1965-66 में जब मैंने महाविद्यालय प्रवेश लिया, तब इसके अध्यक्ष एम.ए. उत्तरार्ध के छात्र सुन्दरलालजी हुए। अन्य प्रतिनिधियों का अब मुझे स्मरण नहीं है उनका चयन कक्षानुसार वरिष्ठता क्रम से कर लिया जाता था, इसलिये एम.ए. पूर्वार्ध के कोई छात्र सचिव थे, और बी.ए. अंतिम वर्ष में संस्कृत के कोई छात्र सहसचिव, शायद चौरसिया जी। परिषद् की प्रभारी प्राध्यापक बनाई गईं विभाग में सबसे कनिष्ठ और तेजस्वी प्राध्यापिका अर्चना वसु।

अर्चना वसु जी ने सागर विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम.ए. किया था, आचार्य रामजी उपाध्याय का वे बहुत सम्मान करती थीं। उपाध्याय जी के 'द्वा सुपर्णा' संस्कृत उपन्यास को जो हमारे पाठ्यक्रम में था, वे बहुत सराहना के साथ पढ़ातीं थीं।

संस्कृत परिषद् का वार्षिक समारोह होना था। अर्चना जी ने गुरुवर उपाध्याय जी को मुख्य अतिथि के रूप में आमंत्रित करने का निर्णय लिया, इसके लिये गुरुवर से बात भी कर ली। उन्होंने विभागाध्यक्ष (मेरे पिता) से पूछ कर ऐसा किया था या नहीं यह तो पता नहीं, पर महाविद्यालय के प्राचार्य डॉ. हरिराम मिश्र

को विश्वास में लिये बिना जरूर उन्होंने उपाध्याय जी को आमन्त्रित कर दिया था इस बात का मुझे यकीन है। फिर तो उपाध्याय आ रहे हैं इस खबर से संस्कृत विभाग में कुछ भूचाल सा आ गया।

बात यह थी कि डा. हरिराम मिश्र की उपाध्याय जी से बड़ी लागडाट रहती थी। मिश्र जी काशी हिंदू विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम.ए. और डी.लिट्. थे, काफी प्रभावशाली थे, और उदार स्वभाव के भी थे। वे सागर विश्वविद्यालय में प्राच्यविद्यालय संकाय के अधिष्ठाता थे। कदाचित् विश्वविद्यालय में प्राच्यविद्यासंकाय उनके प्रभाव से ही गठित हुआ था।

समारोह की जबरजस्त तैयारियाँ अपने उठान पर थीं। अर्चना जी आयु में महाविद्यालय के अध्यापकों में कदाचित् सबसे कनिष्ठ थीं, कद-काठ में तो एकदम नन्हीं गुड़िया दिखती थीं। पर उनमें कार्यकुशलता और वक्तृत्वकला जबरजस्त थी। उन्होंने मुझे और तीन छात्राओं को कई दिनों की लगातार रिहर्सल के बाद गीता के कुछ श्लोकों का गायन तैयार करवाया, जिसे मंगलाचरण के रूप में प्रस्तुत किया जाना था। उपाध्याय जी के व्यक्तित्व कृतित्व के अनुरूप यह मंगलाचरण ''कर्मण्येवाधिकारस्ते'' से प्रारंभ होता था। समारोह के अंत में राष्ट्रगान प्रस्तुत करने के लिये अर्चना जी ने नगर के एक बैंड से बात की थी, उस बैंड के संचालक से पता नहीं कहाँ से उन्होंने क्या संपर्क सूत्र खोज निकाले थे कि वह बड़े कृतज्ञता के भाव से अपने बैंड की सेवाएँ फ्री फंड में देने को तैयार था।

उपाध्याय जी के संस्कृत परिषद् में मुख्य अतिथि के रूप में आने की खबर से इस किस्से में थोड़ा सा मोड़ आना स्वाभाविक ही था। हा यह कि जब सारी व्यवस्थाएँ हो चुकी थीं और मुख्य समारोह होने को था, सुन्दरलाल सगौरव प्राचार्य जी को बुलाने के लिये गये। थोड़ी देर बाद बाहर आये, तो पसीने पसीने और परेशान हालत में। हम लोगों की मजलिस के बीच आकर जो कुछ कहा उसका सार यह था कि कहाँ फालतू में वे फँस गये, प्राचार्य ने यह सुनते ही कि उपाध्याय जी कार्यक्रम में पधारने वाले हैं, आप चलिये - लाल पीले हो कर कहा - तुम्हें इसलिये अध्यक्ष बनाया था संस्कृत छात्र समिति का कि तुम इनको बुलाओ, वार्षिक समारोह के लिये और कोई नहीं मिला?

इतनी दुःखगाथा सुना कर सुन्दरलाल जी ने कहा कि उन्हें क्या पता था कि मैडम अपने गुरुजी को बुला कर ऐसा बवाल मचा देंगी। सुन्दरलाल जी को आशंका थी कि इस घटना या दुर्घटना से उनका कैरियर चौपट हो सकता है। अस्तु

उनके इस बयान के बाद हम लोग समारोह आरंभ होने के पहले उत्सुकता से प्रतीक्षारत हो गये कि देखें अचानक कण्व से दुर्वासा बन चुके प्राचार्य जी अब आते भी हैं या नहीं। पर प्राचार्य जी नियत समय पर आये, उपाध्याय जी के साथ मंच पर बैठे। दोनों एक दूसरे से कुछ तने रहे, वह बात अलग थी।

उपाध्याय जी को प्रवेश करते ही सबने बहुत उत्सुकता से निहारा। शुभ्र धवल खद्दर वेष। गौरवर्ण। पूरे हाल में सबसे ऊँचे कद के वही लग रहे थे। अर्चना मैडम जी को उनके पार्श्व में खड़ी करने पर वे शायद उनके कमर से कुछ ऊपर तक ही आतीं। हरिराम मिश्र जी काफी नाटे थे, मेरे पिताजी जरूर कद में लगभग उपाध्याय जी के बराबर होंगे।

कार्यक्रम तो बहुत ही अच्छी तरह संपन्न हुआ। मेरे साथ तीन सहपाठिनों के द्वारा किया गया मंगलाचरण ठीक से हो गया, अंत में राष्ट्रगान की धुन बैंड ने प्रस्तुत की। पहली बार इस तरह के बैंड को सुनने का मौका मिला।

उपाध्याय जी की गरिमा के अनुरूप सारा कार्यक्रम संस्कृत माध्यम से हुआ। प्राचार्य जी भी संस्कृत में बोले। क्या बोले यह अब मुझ याद नहीं। हाल में सुईपटक सन्नाटे के बीच उपाध्याय जी ने बोलना आरंभ किया। जैसा उनका व्यक्तित्व था, उससे भी कुछ अधिक प्रभावशाली भाषण।

उपाध्याय जी के भाषण की कुछ बातें तब से अब तक याद हैं। बहुत सरल संस्कृत में एक एक वाक्य सुस्पष्ट रूप में वे उचार रहे थे। प्रवाह ऐसा कि कहीं कोई अटकाव नहीं। उस दिन मैंने समझ लिया कि बोलचाल की संस्कृत का एक ऐसा रूप हो सकता है, जो व्याकरण की दृष्टि से एकदम शुद्ध हो, उसका एक एक शब्द खरा हो, पर जिसे अच्छी हिंदी समझने वाला भी आसानी से बूझ ले। तीन साल बाद उपाध्याय जी के विभाग में ही प्रवेश ले लेने के बाद तो मुझे जनभाषा बना दी गई इस संस्कृत का कुछ अभ्यास करना ही था। वही पचास साल के संस्कृत जीवन में मेरे काम आता रहा है।

उस दिन संस्कृत भाषा में वर्तमान में हो रहे साहित्य का उन्होंने उल्लेख किया। अपने विभाग में हुए शोधकार्य का हवाला दे कर उन्होंने बताया कि केवल उन्नीसवीं शताब्दी से लगा कर 1974 ई. तक संस्कृत में अलग अलग समयों में अलग-अलग चार सौ संस्कृत पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं थी। 'चतुःशतं पत्रिकाः प्रकाशिताः' इस वाक्य के बीच में चतुःशतं के बाद उन्होंने हिन्दी में जोड़ा -- 'चार सौ', ताकि जो संस्कृत न जानने वाले लोग भी समझ सके कि वे कह क्या रहे हैं।

(शायद यही एक शब्द हिन्दी का था, जो आधा पौन घंटा चलने वाले उनके भाषण में आया)। उनका यह वक्तव्य संस्कृत की महिमा या आधुनिक संस्कृत साहित्य संस्कृत पत्रकारिता पर जब कहीं व्याख्यान देना होता है, तो मैं भी दोहराता आया हूँ। यह भी जोड़ देता हूँ कि उनमें से लगभग सौ पत्रिकाएँ तो अभी भी निकल रही हैं।

संस्कृत छात्र परिषद् के वार्षिकोत्सव के दौरान हरिराम मिश्र जी और उपाध्याय जी के बीच की तनातनी, और उसमें भी दोनों का कभी-कभी कोशिश करके हास-परिहास पूर्वक बात करने का प्रयास इस सब का हम छात्र लोग आनंद लेते रहे। अर्चना वसु जी तो गुरु जी को बुला कर अपने घर में उनकी सेवा कर के कृतकृत्य थीं, प्राचार्य जी चिढ़ गये हैं, इसकी उन्हें कदाचित् भनक नहीं थी या हो भी, तो परवाह नहीं थी। पिताजी संत आदमी थे, इन दोनों महानुभावों के बीच की खटपट से वे निर्लिप्त बने रहे। उपाध्याय जी के व्यक्तित्व और वक्तृत्व से वे प्रभावित हुए, उनकी प्रेरणा से संस्कृत में बोलने लग गये।

इस कार्यक्रम के बाद उपाध्याय जी की जो जो एक गलत छवि मेरे मन में बलात् बन गई थी, वह बदल गई। यह छवि इसलिये बन गई थी कि पिताजी 1956 के आसपास छतरपुर में पोस्टिंग होने पर प्राचार्य हरिराम मिश्र के निर्देशन में पी. एच.डी के लिये शोधकार्य कर रहे थे, वे अक्सर अपने शोधप्रबन्ध के अध्याय दिखाने या अन्य कार्यों से प्राचार्य जी के आवास पर जाते, या बुलाये जाते। कभी कभी वे प्राचार्य जी से हुई चर्चाओं की चर्चा घर में भी करते, तो उसमें उपाध्याय जी के संबंध में कोई सुसमाचार नहीं होते थे। इसी बीच सागर से एक छपा हुआ पैंफलेट डाक से हमारे घर आया। उस पर मोटे अक्षरों में कुछ इस तरह का शीर्षक था ''सागर विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डॉ. रामजी उपाध्याय की तानाशाही के खिलाफ छात्रों का अनशन।'' आगे उपाध्याय के द्वारा छात्रों के साथ कथित रूप से की गई ज्यादतियों या उनके द्वारा की जा रही अनियमितताओं की चर्चा थी। इस पैंफलेट के शीर्षक में आये तानाशाही शब्द से मेरे मन में उपाध्याय जी की वह छवि बन गई थी। जब प्रत्यक्ष देखा तो वह टूट गई। उसके किरचें कहीं बची रह गई। उनके पीछे भी एक और घटना थी। इसके पहले के किसी साल में शायद 1963-64 में संस्कृत छात्र परिषद् के प्रभारी प्राध्यापक पिताजी थे। उन्होंने इसके वार्षिक महोत्सव में सागर से ही विश्वनाथ भट्टाचार्य जी को बुलाया था। भट्टाचार्य जी पिताजी के सान्निध्य से बड़े प्रसन्न हुए, दोनों सौहार्द के संबंध

स्थापित हुए। सागर जाते-जाते भट्टाचार्य जी पिताजी से कह गये कि सागरिका के लिये संस्कृत में अपना कोई शोधलेख भेजियेगा। पिताजी ने कई दिनों तक बड़े मनोयोग से अपने शोधविषय से संबंधित एक लंबा लेख संस्कृत में तैयार किया। शीर्षक था ''प्रियदर्शिका दार्शनिकं रूपकमेकम्।'' लेख उन्होंने भट्टाचार्य जी को डाक से भेज दिया।

एक आध महीने में भट्टाचार्य जी के अंग्रेजी में लिखे एक लंबे पत्र के साथ वह लेख वापस आ गया। पत्र पिताजी की विद्वत्ता की प्रशंसा थी, उनकी भाषा-शैली की सराहना थी, और क्षमा-प्रार्थना के साथ बहुत खेद प्रकट किया गया था कि यह लेख छप नहीं पा रहा है।

यह तो जाहिर था कि शोधलेख भट्टाचार्य जी के स्तर पर अस्वीकृत नहीं हुआ है। पिताजी को लगा था कि उसके अस्वीकृत होने के पीछे कारण डॉ. हरिराम मिश्र जी के निर्देशन में उनका शोधकार्य करना हो सकता है। अस्तु।

अब सागरिका के जो अंक घर में आते मैं उन्हें बराबर पढ़ने लगा। उसकी सामग्री से प्रभावित भी हुआ। बी.ए. द्वितीय वर्ष तक पहुँचते-पहुँचते तो बालबुद्धिवश मेरे मन में भी यह कामना जागी कि क्यों न सागरिका में मैं अपना एक लेख छपवा डालूँ। संस्कृत में आनन्दवर्धन रत्नपारखी का एक उपन्यास उन दिनों छप कर आया था। मैंने टाइम्स आफ इंडिया या हिन्दुस्तान टाइम्स में उसकी लंबी समीक्षा इस शीर्षक के साथ पढ़ी थी। 'ए संस्कृत नावेल आफ आवर एज।' इस समीक्षा लेख के साथ आनन्दवर्धन रत्नपारखी का चित्र भी था। संयोग की बात कि कालेज के पुस्तकालय में कुसुमलक्ष्मीः उपन्यास मिल गया। मैंने उसे पढ़ा, बार-बार पढ़ा। उपन्यास के छुईमुई से भावसंसार में मैं रम गया। धर्मवीर भारती का 'गुनाहों का देवता' पढ़कर उन दिनों जैसा नशा सा छा जाता था, कुछ वैसा ही, बल्कि उसकी अपेक्षा सात्त्विक किस्म का नशा इस उपन्यास से मुझे हो आया, जो बाद के कुछ सालों तक भी नहीं उतरा। बहरहाल मैंने उस पर संस्कृत में एक लंबा लेख लिख डाला ''कुसुमलक्ष्मीः संस्कृतभाषायामभिनव उपन्यासः।'' पिताजी को नहीं बताया, हालाँकि संस्कृत में लिखे अपने लेख मैं उन्हें बताया करता था, उस समय तक सातवलेकर जी की अमृतलता जैसी प्रतिष्ठित पत्रिका में मेरी संस्कृत कहानियाँ छपने लग गईं थीं। छात्रवृत्ति के जो पैसे कुछ पास में पड़े रहते थे, उनसे डाक खर्च उठाकर संस्कृत में पत्र लिखा। पत्र साथ में लगा कर वह लेख मैंने संपादक सागरिका के पते पर रजिस्ट्री से भेज दिया।

डॉ. भास्कराचार्य त्रिपाठी जी उसी साल महाराजा महाविद्यालय में लैक्चरर हो कर आये थे। गुरु थे, पर मुझ से मित्रवत् गपशप और बार्तालाप करते थे। एक दिन महाविद्यालय में मिल गये, तो अलग ले जा कर पूछा -- भैया तुमने रामजी उपाध्याय साहब के साथ कैसे परिचय कर लिया? मैंने कहा -- मेरा तो उनसे कोई परिचय नहीं है। उन्होने एक पोस्टकार्ड निकाल कर मेरे सामने रख दिया।

पोस्टकार्ड उपाध्याय जी के हाथ का लिखा हुआ था। कुल तीन वाक्य इसमें थे, जिसके अंत में लिखा था आपका रामजी। वाक्य कुछ ये थे प्रिय त्रिपाठी जी, क्या आपके महाविद्यालय में बी.ए. में राधावल्लभ त्रिपाठी नाम का कोई छात्र है? इस छात्र की मेधा बड़ी समुज्ज्वल है। इससे कहें कि बी.ए. करने के पश्चात् हमारे विभाग में एम.ए. में प्रवेश ले ले।

मैंने भास्कराचार्य जी को बताया कि मैंने उपाध्याय जी को सागरिका के लिये एक लेख भेजा था, कदाचित् उसे पढ़ कर वे प्रभवित हुए हों।

फिर तो उपाध्याय जी के लिखे तीनों वाक्यों का त्रिगुणायित नशा मुझ पर चढ़ गया। मैंने यह भी मान लिया कि सागरिका में मेरा लेख तो छपेगा ही छपेगा। घर आते ही आविष्ट भावभूमि से मैंने पिताजी से पूछा कि क्या सागरिका की तरफ से मेरे लिये किसी लेख का स्वीकृति पत्र आया? मैंने वहाँ एक लेख भेजा था।

यह कह कर मैंने भास्कराचार्य के पास आये उपाध्याय जी के पत्र की बात उन्हें बताई। पिताजी ने कहा नहीं, स्वीकृति पत्र नहीं आया। उनको लेख क्यों भेजा? भैया, वे तुम्हारा लेख नहीं छापेंगे। उस समय भास्कराचार्य जी को लिखे उपाध्याय जी के पत्र का मुझ पर ऐसा नशा था कि मैं यह मान ही नहीं सकता था कि उपाध्यायजी मेरा लेख नहीं छापेंगे। पर पिताजी की ही बात सही थी। आखिर वे संत आदमी ठहरे। मैं एक साल, दो साल या तीन साल तक प्रतीक्षा में रहा कि मेरा लेख उपाध्याय जी छाप देंगे, पर वह लेख नहीं छपा। एम.ए. उत्तरार्ध तक आते आते सागरिका में मेरे दो या तीन और लेख छप भी गये, वह लेख नहीं छपा। उसकी कथा फिर कभी।

दो : गुरुविद्रोह का रहस्य

ऊपर सूचित उपाध्याय जी के विरुद्ध जारी किये गये पैंफलेट और आंदोलन की सत्यकथा का एक अनोखा पहलू कुछ साल बाद मेरे सामने खुला। जो महानुभाव सन् 1960-62 के आसपास उपाध्याय जी के विरुद्ध पैंफलैट अभियान

और विद्रोह के सूत्रधार रहे थे, वे कई साल बाद मुझे किसी कार्यक्रम में मिल गये। वे सागर विश्वविद्यालय के अत्यन्त मेधावी छात्र रहे हैं। एक सुयोग्य पंडित भी हैं। उनकी विद्रोही छवि भी उस दिन उनके साथ हुई एकांत भेंट में चरक गई। मैं अब विश्वविद्यालय में प्राध्यापक था, तब तक उदयपुर से सागर विश्वविद्यालय आ चुका था, और यहाँ के संस्कृत विभाग में कुछ वर्षों से पढ़ा रहा था।

(कथित) विद्रोही जी ने कुछ दीन से स्वर में मुझ से पूछा त्रिपाठी जी, आपकी उपाध्याय गुरुजी से भेंट और बातचीत होती रहती है? मैंने कहा - हाँ, लगभग रोज ही। उन्होंने लगभग गिड़गिड़ाते हुए कहा आप यहाँ से लौट कर जायें, और गुरुजी से मिलें तो उनसे (मेरा नाम ले कर) कहिये कि ..... मिला था, उसे अपनी भूल पर बहुत पछतावा है। उसने आप से क्षमा माँगी है।

उन्होंने मुझे अपनी भूल का किस्सा भी उस दिन सुनाया। हुआ यह था कि वे कक्षा में सदा सर्वप्रथम आते रहे थे, सागर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में एम.ए. पूर्वार्ध कर के उत्तरार्ध में पहुँचे, तो सोचा कि लघुशोध प्रबन्ध ले लें। उपाध्याय जी प्रार्थना करने गये कि उन्हें संस्कृत निबन्ध वाले पाँचवे प्रश्नपत्र के विकल्प में लघुशोध प्रबन्ध के विकल्प की अनुमति दे दें। उपाध्याय जी ने एक वाक्य में उन्हें टका सा जवाब दे कर लौटा दिया तुम्हें इसकी आवश्यकता नहीं है। उसके बाद पता चला कि उनके एक सहपाठी को, जो रिश्ते में उपाध्याय जी का भांजा था, लघुशोध प्रबन्ध का विकल्प चुनने की अनुमति दे दी गई हैं।

एम.ए. उत्तरार्ध में पाँचवाँ प्रश्नपत्र संस्कृत निबन्ध का था, शेष प्रश्नपत्रों में उत्तर हिन्दी के माध्यम से लिखने का भी अनुमति थी, यह पूरा प्रश्नपत्र संस्कृत में लिखना होता था। जो छात्र संस्कृत अच्छी लिख लेते उन्हें इसमें अच्छे अंक मिल जाते। संस्कृत लिखने में जो कच्चे होते वे प्रयास करते कि पाँचवें प्रश्नपत्र के विकल्प में लघुशोधप्रबन्ध मिल जाये, वह हिंदी में भी लिखा जा सकता था। लघुशोधप्रबन्ध जिसको मिल गया, उसे तो पाँचवें प्रश्नपत्र में थोक में अंक मिल ही जाते।

अपने सहपाठी व गुरुजी के रिश्तेदार को लघुशोधप्रबन्ध मिल जाने से कथित विद्रोही जी का माथा ठनक गया, उन्हें लगा कि अब वे टाप न कर पायेंगे, गुरु जी ने अपने भतीजे उनसे ऊपर चढ़ाने के लिये उन्हें लघुशोधप्रबन्ध नहीं लेने दिया। अब तो उनका कैरियर चौपट ही हो गया।

परीक्षाएँ हुईं, परिणाम जब आया तो टाप विद्रोही जी ने ही किया था, बहुत ही अच्छे अंकों के साथ। उनका कैरियर बना रहा, सरकारी कालेज में वे प्राध्यापक भी सहजता से लग गये।

इतनी कथा सुना कर विद्रोही जी ने उस दिन लगभग रोतले स्वर में उपसंहार किया त्रिपाठी जी, गुरु जी हम को इतना भर समझा देते कि बेटा तुझे तो संस्कृतनिबंध वाले प्रश्नपत्र में उतने या उससे भी अधिक अंक मिल ही जायेंगे, जितने उसके विकल्प में लघुशोध प्रबन्ध लेने पर मिलेंगे, क्यों कि तू संस्कृत अच्छी लिख लेता है, इसलिये लघुशोधप्रबन्ध के तामझाम और खर्चा करने की तुझे आवश्यकता नहीं है.... -- तो हम काहे उतना सब आंदोलन करते?

इस कथा का उपसंहार भी है। कई साल बीत गये, 1980 में सागर विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त होने के बाद उपाध्याय जी काशी चले गये। इस बीच (कथित) विद्रोही जी उनका आशीर्वाद और स्नेह फिर से पाने में सफल हो गये थे। वे एक विश्वविद्यालय में संस्कृत के अध्ययन मंडल के अध्यक्ष थे, उन्होंने मुझे उस अध्ययन मंडल में सदस्य बनाया और चिरौरी विनती करके उपाध्याय जी की भी मंडल की सदस्यता स्वीकार करने की सहमति प्राप्त कर ली। उनके अनुनय-विनय करने पर अध्ययन मंडल की बैठक में आने के लिये उपाध्याय जी तैयार भी हो गये थे। मैं सागर से बैठक के लिये पहुँचा, उपाध्याय जी काशी से आये। कथित विद्रोही जी की गुरुजी के आगमन से हुई खुशी छलक रही थी। बाछें खिली खिली पड़ती थीं। ऐसे तन्मय हो कर उपाध्याय जी के आवास भोजन और सत्कार की व्यवस्थाओं में जुटे थे कि और किसी की सुध ही नहीं थी। मेरी ओर मुखातिब हुए भी तो गद्‌गद हो कर यह कहने के लिये कि क्या करूँ आपकी तरफ ध्यान ही नहीं दे पा रहा हूँ, इनका देखना है पहले, कहीं मुझे चपत ही न मार दें। - यह उन्होंने कुछ इस तरह कहा जैसे उपाध्याय जी चपत लगा देंगे, तो वे निहाल ही हो जायेंगे। तब से मेरे मन में एक सवाल यह भी रहा है कि क्या यह निहाल हो जाना ही संस्कृत जगत् के गुरु शिष्य संबंधों की परिणति है?

उपाध्याय जी भी उन पर स्नेह उड़ेलते हुए उन्हें नाम ले कर और तुम के सर्वनाम के प्रयोग के साथ संबोधित कर रहे थे। उपाध्याय जी के लिये एक अच्छे होटल में कमरा था, मैं पहुँचा तो मेरे ठहरने के ठिकाने अता पता नहीं। उपाध्याय जी उन सज्जन को डपटते हुए कह रहे थे अरे भाई तुमने राधावल्लभ जी को बुलाया है, तो उनके लिये इसी होटल में व्यवस्था क्यों नहीं की?

मीटिंग निपट गई, विद्रोही जी ने कहा मुझसे कहा कि बरसों की साध पूरी हो गई, यही चाहता था कि गुरु जी को प्रत्यक्ष बुला कर उनका चरणवंदन कर के अपने अपराध की क्षमा याचना कर लूँगा। अब मन से इतने बरसों का बोझ उतर गया।

तीन : विभाग में प्रथम दर्शन

जुलाई 1968 के किसी दिन पन्ना से रात भर का बस में सफर कर के मैं सागर पहुँचा। बस स्टेंड पर ही दैनिक कृत्य निपटा कर विश्वविद्यालय पहुँचा, बी.ए. की मार्कशीट नहीं मिली थी, विश्वविद्यालय कार्यालय जा कर वह प्राप्त की। फिर सीधा भाषा भवन में स्थित संस्कृत विभाग के उस कक्ष में जा पहुँचा जो पिछले लगभग सत्तर सालों से आज तक संस्कृत विभागाध्यक्ष का कक्ष बना हुआ है।

उपाध्याय जी और विश्वनाथ भट्टाचार्य जी आमने-सामने बैठे हुए थे। 'मे आइ कम इन सर' के साथ कक्ष में प्रवेश करने पर उपाध्याय जी ने मुझ से पूछा कि क्या काम है। मैंने कहा कि संस्कृत में एम.ए. में प्रवेश लेना है। उपाध्याय जी ने प्रश्न किया स्नान कर लिया है? मैंने कहा जी।

पिछले बावन-त्रेपन सालों से मेरे मन में यह सवाल उठता रहा है कि उन्होंने यह क्यों पूछा कि क्या स्नान कर लिया है, इसकी बजाय तो पूछ लेते कि कुछ खा पी लिया है या नहीं।

उन्होने पूछा - क्या नाम है?

मैंने कहा - राधावल्लभ त्रिपाठी।

नाम सुनते ही उन्होंने कहा कि भट्टाचार्य जी से कहा - अरे यह बड़ा मेधावी छात्र है। मैंने तो इसको पत्र लिखा था कि संस्कृत से एम.ए.करने के लिये सागर आना है।

तत्काल मेरे प्रवेश की कार्यवाही आरंभ हुई। उपाध्याय जी ने विश्वनाथ भट्टाचार्य जी से कहा कि प्रवेश का आदेश निकलने में समय लगेगा, यह कहाँ रहेगा, आप पुरोहित जी को पत्र लिख दीजिये कि हास्टल में एक कमरे का इसके लिये टैंपरेरी अलाटमेंट कर दें।

पुरोहित जी राजनीतिशास्त्र विभाग में प्राध्यापक थे और भट्टाचार्य जी के अच्छे मित्र थे। वे लड़कों के हास्टल के वार्डन थे। भट्टाचार्य जी ने उनके नाम पत्र लिखा। मैं वह पत्र लेकर हास्टल के कार्यालय पहुँचा और उसी दिन हास्टल में मुझे एक कमरा मिल गया। उस दिन से जीवन के एक नये अध्याय का समारम्भ हुआ।

विभाग में उपाध्याय जी के साथ तीन प्राध्यापक और थे मातृतुल्या स्नेहमयी श्रीमती वनमाला भवालकर, जिन्हें सब छात्र काकू कहते थे, तेजस्वी पंडित विश्वनाथ भट्टाचार्य जी, जिनसे काव्यशास्त्र समझा और योगेश पांडेय जी, जो वेद पढ़ाते थे। इनके अतिरिक्त संस्कृत डिप्लोमा की कक्षा पढ़ाने के लिये यमुना शंकर शुक्ल जी थे। सभी का स्नेह और सौजन्य मिला। इनमें सबसे व्यस्त उपाध्यायजी ही रहते थे, पर उनके साथ रहने का और उनसे चर्चा करने सीखने का जितना अवसर और समय मिला, अन्य किसी और के साथ नहीं। सभी प्राध्यापक मनोयोग से पढ़ाते थे, पर उनका सान्निध्य और उनसे संबंध उतनी ही देर का होता, जितनी देर वे कक्षा में पढ़ाते। उपाध्याय जी कक्षा के भीतर जितना पढ़ाते कक्षा के बाहर उससे ज्यादा। अन्य प्राध्यापकों के घर एम.ए. के दो सालों में एक आध बार कभी जाना हुआ, उपाध्याय जी के घर अक्सर जाना होता, वे काम कराते थे, काम कराने के बहाने सिखाते भी खूब थे।

उसकी कथा फिर कभी।

2

डॉ. रामजी उपाध्याय : संस्कृत और संस्कृति के परम हंस

श्यामसुंदर दुबे

जीवन की कुछ बीहड़ वंचनाएँ, जीवन के खट्टे-चरपरे स्वाद में भी कुछ मीठा-मीठा-सा दे जातीं हैं। वैसे सभी प्रकार के स्वाद हमारे साथ हमारे होने की तस्तीक करने वाले हैं। हमारी हैसियत कुछ ऐसी रही है कि हमें पचहत्तर वर्षों की इस जीवन-यात्रा में अनेक मुकामों से गुजरने का अवसर अनायास मिलता रहा। एक ज़िद ने न जाने कितने लोगों से मिलाया, कितने संदर्भों से जोड़ा। ज़िद यही थी कि यदि गाँव की मुफ़लसी भरी ज़हालत से मुक्त होना है, तो पढ़ाई नहीं छोड़ना है। मँगता घर में जनमे, लगभग किशोरवय में विवाहित हुए, माँ-बाप का बुढ़ापा सामने था। पर पढ़ने की ज़िद ने बी.ए. तक तो पहुँचा दिया। वज़ीफ़ा ने नैया पार लगायी। लोगों ने कहा खूब पढ़ लिया। बाल-बच्चेदार हो गये हो – अब या तो कोई छोटी-मोटी नौकरी ढूँढ़ लो या फिर झोरी फाँदकर मँगता बन जाओ। परिवार पलता रहेगा। हमैं सुझाव पसंद नहीं थे।

सागर विश्वविद्यालय से एम.ए. हिन्दी करने की झक सवार हुई, और सचमुच हमने प्रवेश ले लिया। वही हुआ जो होना था। रहने, खाने-पीने के लिए तो आर्थिक आधार चाहिए था। बात प्रोफेसर्स तक पहुँची। मेरे हेड साहब से संस्कृत विभाग के प्रोफेसर एवं हेड डॉ. रामजी उपाध्याय ने अपनी श्रीमती जी के लिए किसी ट्यूटर की माँग की थी। हुआ यह था कि डॉ. उपाध्याय की श्रीमती एम.ए. हिन्दी में कर रही थीं - वे एम.ए. पूर्वार्द्ध में अनुत्तीर्ण हो गयी थीं - इसलिए इस बार वे कोई रिस्क नहीं लेना चाहते थे। ट्यूटर रहेगा तो पढ़ाई व्यवस्थित होती रहेगी। तो डॉ. उपाध्याय ने हमारे हेड साहब से ट्यूटर के लिए कहा था। हमारे हेड ने हमैं इस काम के योग्य समझा। उन्होंने इस रूप में हमारी सहायता ही करना चाही थी। हमने बात मान ली। हम डॉ. रामजी उपाध्याय के बंगले पर पहुँच गए। डॉ.

उपाध्याय को मैंने अपना परिचय दिया- काम बताया। उन्होंने खड़े-खड़े ही मेरी अन्य जानकारियाँ लीं और बोले, ''पंडित! तुम एम.ए. में पढ़ रहे हो - और एम.ए. के छात्र को पढ़ाओगे। यह कुछ समझ में नहीं आ रहा है। भगीरथ जी ने तुम्हें गलत भेज दिया है।'' मैं सकपकाया। फिर साहस की कमी थी नहीं, इसलिए बटोरने का प्रश्न ही नहीं था। मैंने साहसपूर्वक ही डॉ. उपाध्याय का सामना किया। मैंने उनसे कहा, ''कोई जरूरी नहीं कि तुलसी, कबीर, निराला को एम.ए. करने के बाद ही पढ़ाने की योग्यता आती है। आप संस्कृत के प्रोफसर हैं - आप जो जो चाहें मुझसे पूँछ लें।'' वे इस उत्तर से कुछ प्रभावित हुए। मुझे अंदर ले गए। श्रीमती जी को बुलाया। कबीर की पुस्तक लाने को कहा। उसके एक दोहे का अर्थ उन्होंने मुझसे जाना। वे खड़े हुऐ। बोले, ''बस पंडित! कल से आ जाओ।''

मैंने श्रीमती उपाध्याय को पढ़ाना प्रारंभ कर दिया। एक दो दिन संकोच से घिरा रहा। बाद में मेरी शिष्या भी मुखर होने लगीं। वे उस समय अपनी उम्र के चौथे दशक के उत्तरार्द्ध में रही होंगी। कुछ-कुछ स्थूल काय सहज सांवले रंग की वे एकदम भारतीय संस्कारों वाली महिला थीं। उन्होंने बताया कि डॉ. उपाध्याय को गायें पालना अच्छा लगता है। बंगले के पिछवाड़े मैंने दो सफेद गायें बँधी देखी थीं। डॉ. उपाध्याय का एक और शौक था - वे फलदार वृक्षों को पसंद करते थे। आम, नीबू, कटहल के वृक्ष उनके परिसर में थे। उनके द्वारा अमरूद के पेड़ों की रोपिणी घर की पिछली पहाड़ी ढ़लान पर की गयी थी। अब वे पेड़ बड़े हो रहे थे। घर में दूध-फल प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे। मुझे प्रायः रोज ही कुछ न कुछ नाश्ते के रूप में मिल जाता था। विशेष रूप से दूध से बनी मिठाईयाँ। डॉ. रामजी उपाध्याय अपने बगीचे में परिश्रम करते थे। वे किसी किसान से कम नहीं थे। गौवंश की सेवा में वे हिचकिचाते नहीं थे। भारतीय संस्कृति के वे जीवित जागृत प्रतीक थे। उन्होंने अपने आवास को आश्रम जैसा बनाया था। प्रकृति के हरे-भरे परिसर में विहंग कलरव करते थे। गौवत्स रँभाते हुऐ चौकड़ी भरते थे। पुष्प-वल्लरियों से आवास की फैंसिंग लदी रहती थी। उस समय यद्यपि अधिकांश प्रोफेसर्स के बंगलों के सामने बगीचे हुआ करते थे, किंतु डॉ. रामजी उपाध्याय के आवास-परिसर की कुछ अलग ही बात थी।

डॉ. रामजी उपाध्याय का रंग उज्ज्वल था। औसत काठी और ऊँचे कद में उनका शरीर आकर्षक था। उनके पहनावे में जितनी सादगी थी उतना ही आर्यों का आभिजात्य उनके मुखमंडल पर और उनकी शारीरिक संरचना में था। वे भीड़ में एकदम अलग दिखने वाले थे। सफेद खादी की धोती और खादी का कुरता वे

धारण करते थे। सिर पर गाँधी टोपी रहती थी। अधिकतर चमड़े की चप्पलें ही उनके पदत्राण थीं। उन्हें देखकर लगता था कि हम किसी ऊर्जावान व्यक्ति से मिल रहे हैं। वे चल रहे हों, वे बैठे हों चाहे वे खड़े हों - उनकी देह-भाषा बोलती रहती थी। उनके स्थिर अंग भी एक आंतरिक सक्रियता से परिपूर्ण रहते थे। उनका चेहरा दूर से देखने पर सख़्त लगता था, किंतु जैसे-जैसे आप उनके पास पहुँचते जाते वैसे-वैसे अपनी एक बाँकी सी मुस्कान में वे आपको लपेट लेते थे। ऐसी मुस्कान मैंने कम लोगों में देखी है। उनकी उम्र उस समय 40-45 वर्ष के मध्य रही होगी लेकिन उनकी मुस्कान में भोला बचपन झलकता था। उनके केवल हौंठ नहीं हँसते थे - उनकी आँखों से भी हँसी कौंधती थी। उनके व्यक्तित्व में आकर्षण का जादू था, तो विकर्षण का रूखापन भी था। यदि दूर से ही कोई समझने की कोशिश करता तो उसे वे संस्कृत के पौंगा पंडित नजर आते। कई लोगों का मैंने उन पर कमेन्ट करते सुना कि वे रूखे और रूढ़ व्यक्ति हैं। वे संस्कृत विद्वानों की परंपरा से थे - एकदम नारिकेल व्यक्तित्व वाले ऊपर से कठोर और रूक्ष - भीतर से कोमल और तरल।

वे अक्सर कार से विभाग आते-जाते थे। उनके पास फोर्ड मॉडल वाली नीली कार थी। वे स्वयं उसे चलाते थे। उसकी रफ्तार ऐसी रहती थी कि बूढ़ा चपरासी भी अपनी साइकिल चलाकर उससे आगे निकल जाता था। वे अपनी श्रीमती जी को अन्नपूर्णा कहते थे, जबकि उनका यह नाम नहीं था। एक दिन उन्होंने मुझे बातों-बातों में हँसते हुए बताया था कि जो हमें भोजन-पानी देती हैं - वे अन्नपूर्णा ही तो हैं। अन्नपूर्णा को पढ़ाने में अपनी कक्षा की पढ़ाई करके जाता था। दोपहर तीन बजे के आसपास। उस समय वे अकेली रहती थीं। पढ़ने के पूर्व वे मुझसे खूब बातें करतीं थीं। मेरी घर-गृहस्थी के विषय में जानकारी लेतीं, अपने विषय में बतातीं। डॉ. उपाध्याय को वे बहुत अनुशासित मानती थीं। कभी-कभी अपने अड़ौस-पड़ौस की विदुषी महिलाओं की बातें कर लेती थीं। उनके ग्रामीण संस्कार प्रबल थे। कभी-कभी उनके बच्चे घर में होते तो वे बहुत हल्ला-गुल्ला करते थे। इनके नाम थे श्रियंकर और प्रियंकर! एक कन्या भी थी - जिसे वनश्री कह कर पुकारते थे। बच्चों की लड़ाई से उनका मूड ऑफ हो जाता था। एक बार उन्होंने डॉ. उपाध्याय से उनकी शिकायत कर दी। डॉ. उपाध्याय ने दोनों बच्चों को बुलाया। उन्हें हल्की-सी डाँट पिलायी और बोले, ''तुम्हारी मम्मी को जो पढ़ाने आते हैं - वे सामान्य विद्यार्थी नहीं हैं - वे तुम्हारे सर जैसे हैं - उनका आदर करना सीखो।'' उस दिन से बच्चों का ऊधम-धमाल बंद हो गया था।

मैंने पढ़ा था कि मंडन मिश्र के यहाँ तोते भी संस्कृत में बात करते थे। यह तथ्य सही जान पड़ता है। मैं उन तोता रटंत छात्रों में नहीं रहा जो इस पुरानी कहावत को चरितार्थ करते हैं कि 'धन गंठ का और विद्या कंठ की।' धन गाँठ में रहने पर अपनी सार्थकता का निर्वाह कर सकता है, और कंठाश्रयी विद्या कहीं भी अपना ज़ौहर दिखा सकती है। विद्या यदि मात्र कंठाश्रयी बन गयी तो वह जड़ हो जाती है। उसकी संभावनाऐं समाप्त हो जाती हैं। हमारे देश में इस तरह के ब्रह्म राक्षस खूब हुए हैं। विद्या, व्यावहारिक और सामाजिक अंतः क्रियाओं से जब जूझकर युग की समस्याओं के हल खोजती है - तब वह फलवती होती है। जैसे मंडन मिश्र के तोते संस्कृत में वाणी-व्यवहार करते थे - वैसी ही कुछ-कुछ झलक डॉ. उपाध्याय के आवास में मुझे मिल रही थी। उनके यहाँ उनके विभाग के सहयोगी आयें या छात्र आयें - वे सब संस्कृत में वार्तालाप करते थे। डॉ. उपाध्याय के यहाँ आने वाले विभागीय जन अन्य किसी भी भाषा में अभिव्यक्त नहीं होते थे। मुझे आश्चर्य हो रहा था कि संस्कृतमय इस परिवेश में डॉ. उपाध्याय के परिवारीजन कैसे इस प्रसाद से वंचित रह गये ?फिर, मुझे 'पानी बिच मीन पियासी' की याद आ गयी किंतु, मेरे ऊपर इस भाषिक आदान-प्रदान का गहरा असर पड़ा। मैं भी डॉ. रामजी उपाध्याय से टूटी-फूटी संस्कृत में बात करने लगा था, जो कि मैंने बी.ए. संस्कृत साहित्य से किया था।

उन्होंने संस्कृत में मेरी थोड़ी-बहुत क्षमता ही देखी होगी तभी तो डॉ. उपाध्याय ने मेरे समक्ष एक ऐसी बात ला दी जो मुझे काफी दिनों तक द्वन्द्वग्रस्त बनाये रही। उन्होंने मुझे परामर्श दिया कि मैं हिन्दी से एम.ए. न करके अगले वर्ष से संस्कृत में एम.ए. करूँ। उन्होंने यह भी आश्वासन दिया कि वे बाद में कहीं मुझे चिपकवा देंगे। 'चिपकवाना' शब्द उस समय नौकरी लगवाने के संदर्भ में प्रचलित था। मैं उनकी क्षमताओं से परिचित था। मन एक बार तो उसी दिशा में जाने का बना, किंतु सच बात तो यह थी कि उस समय हम संस्कृत से एम.ए. करने वाले छात्रों का मज़ाक उड़ाया करते थे - बाद में विचार दृढ़ हो गया और हिन्दी नहीं छोड़ी। डॉ. उपाध्याय का ध्यान अपने छात्रों पर विशेष रूप से रहता था। वे उन्हें हिल्ले से लगाते भी रहते थे। मेरे गाँव के पास के एक दूसरे गाँव से एक शर्मा लड़का संस्कृत से एम.एम. कर रहा था। उसने बीच में ही अपनी घर-गृहस्थी के दवाबों के चलते एम.ए. पूर्वार्द्ध करके अपनी पढ़ाई बंद कर दी थी। डॉ. उपाध्याय मुझ से अनेक बार उसकी चर्चा कर चुके थे और वह कह चुके थे कि उसे बुलाया जाऐ।

उसकी वे आर्थिक मदद भी करना चाहते थे। लेकिन शर्मा नहीं लौटा। डॉ. उपाध्याय की बैचेनी अपने छात्र के लिए तो थी ही, वह एक परंपरा को जिन्दा रखने की भी थी। गुरु की शिष्य के प्रति यह बेकली अब बची ही कहाँ है ?

डॉ. उपाध्याय संस्कृत के प्रति समर्पित व्यक्तित्व थे। उन्होंने संस्कृत के विस्तार के लिए एक एक्टीविस्ट की तरह काम भी किया। उन्होंने सागर के समीप के कस्बा, ढ़ाना में संस्कृत महाविद्यालय प्रारंभ किया था। ढ़ाना, सागर के लिए हवाई अड्डा है। इस हवाई अड्डा के समीप ही डॉ. त्रिपाठी ने संस्कृत का हवाई जहाज उतारा था। ढ़ाना, इस प्रदेश को अनेक पुलिस अधिकारी देने के लिए भी अपनी प्रसिद्धि अर्जित कर चुका था। न केवल यहाँ महाविद्यालय स्थापित किया, बल्कि उसकी व्यवस्था और उसकी देखरेख भी वे सतत् रूप से करते रहते थे। अक्सर, वे विश्वविद्यालय से छुट्टी होने के बाद ढ़ाना पहुँच जाते थे। मेरी शिष्या मुझे बताती थीं कि वे अवकाश के दिन भी ढ़ाना में रहते थे। वे इस महाविद्यालय के विकास में सदैव तत्पर रहते थे। उन्होंने विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के शोध छात्रों को वहाँ अध्यापन का कार्य भी सौंपा था। इन्हीं में से वे उन्हें नियमित अध्यापक के रूप में पी.एच.डी. करने के बाद नियुक्ति दे देते थे। संस्कृत के छात्रों को ये रोजगार के अवसर जुटाने वाला उपक्रम था।

प्रोफेसर्स के बंगले आकार-प्रकार में बड़े रहते हैं। यह मैंने डॉ. रामजी उपाध्याय के बंगले में पहुँचकर ही अनुभव किया था। अन्य प्रोफेसर्स के यहाँ जाता था तो बारांडा में खड़े-खड़े ही बात हो जाती थी। अधिक होने पर कुछ लोग ड्राईंग रूम में बुला लेते थे। मैंने पूरा बंगला घूमकर तो डॉ. उपाध्याय का ही देखा था। स्वयं मेरी शिष्या अपना किचन रूम यहाँ तक कि बेडरूम भी दिखा चुकी थी। डॉ. उपाध्याय ने भी मुझे अपना बगीचा अपना स्टडी रूम दिखाया था। उनका स्टडी रूम प्रवेश वाले बारांडे के इकदम बाजू से था। उसमें एक लंबी-सी आराम कुर्सी थी। स्टडी टेबुल और कुर्सी भी एक कोने में थी। पुस्तकें वहीं पड़ी थीं। कुछ सेल्फ्स में रखीं थीं - कुछ फर्स पर पड़ी थीं। स्टडी रूम में घुसने का मतलब था, पुस्तकों से घिर जाना। मैंने जब वहाँ प्रवेश किया तो मुझे अपने हटा के रमा मिस्त्री का स्टडी रूम याद आ गया। स्पष्ट था कि डॉ. उपाध्याय अध्ययन निष्ठ हैं। मैंने उन्हें देखा कि वे जब विश्वविद्यालय से लौटते थे, तब सीधे स्टडी रूम में घुस जाते थे। अंदर से उसे लॉक कर लेते थे। वे कब निकलेंगे यह निश्चित नहीं रहता था। वे परिवार और दीन-दुनिया से एकदम अलग होकर अपनी दुनिया में दाखिल हो जाते थे। कभी वे मुझे फुरसत में दिखे या तो अपने बगीचे में या अपने स्टडी रूम में ही क्रियाशील

रहते थे। स्टडी रूम में वे अध्ययन भी करते थे। कभी कोई शिष्य या सहयोगी आ जाये तो वे वरांडे में खड़े-खड़े ही बात करते थे। वे स्वयं फुरसतया नहीं थे, और न फुरसतयों को अपने पास तक फटकने देते थे। इस मामले में मैं बहुत दिनों तक अनसोसल प्राणी समझता रहा, लेकिन उनकी साधना सम्पन्न जीवन शैली देखकर मुझे बाद में लगा कि काम करने के लिए समय और एकांत तो चाहिए ही।

डॉ. उपाध्याय ने अपने संस्कृत विभाग की पहचान बनायी थी। वे आला दरज़े के एकेडेमिशियन थे। अपने विषय में निष्णात तो वे थे ही। वे विश्वविद्यालय के किसी भी प्रोफेसर को विद्वानों की कोटि में परिगणित नहीं करते थे, वे उन्हें अक्सर चोर और उचक्के जैसे संबोधन देते रहते थे। इस रूप में दुर्वासा ही अधिक थे। एक बार जब मुझे यू.जी.सी. की फेलोशिप नहीं मिल पायी थी, तब उनकी प्रतिक्रिया थी कि विश्वविद्यालय प्रतिभाओं को फाँसी पर चढ़ाने का वध-स्थल है और ये प्रोफेसर्स इसके जल्लाद हैं। इतनी तीखी प्रतिक्रिया शायद डॉ. उपाध्याय ही दे सकते थे। वे अपने विभाग और अपने अध्ययन कक्ष में रमने वाले एकाकी पुरुष थे। उन्होंने अपने विभाग से 'सागरिका' जैसी पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया था। वे स्वयं उसके संपादक थे। इस पत्रिका ने संपूर्ण देश में अपनी पहचान बनायी थी। उन्होंने अपना लेखन संस्कृत में ही किया है। 'भारतस्य सांस्कृतिक निधि' उनकी प्रसिद्ध पुस्तक है। वे प्रायः संस्कृत के इतिहास और संस्कृति विषयक विषयों पर ही लिखते थे। उनकी मेधा सर्जनात्मक भी थी। उन्होंने भारतीय इतिहास के गौरवशाली चरित्रों पर आधारित अनेक नाटकों का सृजन किया है। उनके इन नाटकों और समग्र लेखन पर भारत सरकार और उत्तरप्रदेश सरकार ने उन्हें समादृत और पुरस्कृत किया है।

सागर में अपने अधिकांश जीवन को व्यतीत करने वाले डॉ. उपाध्याय ने सेवानिवृत्ति के बाद सागर की बजाय बनारस में बसना पसंद किया। जबकि अधिसंख्य प्रोफेसर्स जो सागर विश्वविद्यालय में रहे हैं, उन्होंने सेवा के उपरांत सागर का को ही अपना निवास स्थल बनाया है। बसने का चयन उनका था - उन्होंने ठीक ही किया होगा। वे बनारस के वैदुष्य से और उसके बनारसी स्वभाव से अपने को अलग नहीं कर पाये। संभवतः धार्मिक आकर्षण उनमें नहीं रहा होगा। वे कर्मकांड में विश्वास रखने वाले पंडित मुझे कभी नहीं लगे। मैंने उन्हें पूजा-पाठ करते कभी नहीं देखा। उनका मन जिस नास्टिल्जिक फीलिंग्ज को पाले रहा होगा, उसकी अदम्य पिपासा के चलते शायद वे बनारस गये होंगे। उन्होंने बनारस में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के निकट लंका में अपना निवास बनाया था।

सन् 2004 में मुझे बनारस जाना पड़ा। डॉ. शंभूनाथ सिंह, रिसर्च फाउंडेशन का नवगीत पुरस्कार मुझे मिला था। इसी के निमित्त बनारस में था। मेरे साथ मेरी पत्नी और बड़े चिरंजीव थे। डॉ. शंभूनाथ सिंह के बड़े बेटे राजीव सिंह ने हमें सोनिया स्थित अपने आवास पर ही ठहराया था। हमने एक दिन बनारस घूमने का मन बनाया। मुझे डॉ. रामजी उपाध्याय याद आ गये। हमें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जाना ही था। इसलिए सही लोकेशन के लिए डॉ. उपाध्याय का पता लेना जरूरी था। उनका छोटा बेटा प्रियंकर विश्वविद्यालय में प्रोफेसर था। मैंने उसका फोन नंबर इस आशय से तलाशा कि वह न केवल हमें अपने माता-पिता का पता देगा, बल्कि स्वयं हमारे पास आकर हमें उन तक ले जाऐगा। प्रियंकर से हमारी बात हुई, पता चला वह माता-पिता से अलग है। उन्होंने हमें पता तो दे दिया, लेकिन अन्य तरह की सहायता करने में वे असमर्थ रहे। हमें पता मिल गया था। हम विश्वविद्यालय का भ्रमण करके लंका में पहुँच गए। अब प्रश्न यह था कि डॉ. उपाध्याय का पता कैसे लगाया जाय। वे यहाँ के जड़बंद बाशिन्दे तो थे नहीं। मैंने आटो वाले को रोका। मुझे बाजू से एक दुकान दिख गयी थी। मुझे लगा यदि यहीं कहीं आसपास डॉ. उपाध्याय होंगे तो मुझे यह दुकानदार पता बता देगा। मैंने दुकानदार से डॉ. उपाध्याय का पता पूँछा तो उसके यहाँ एक वृद्धा ग्राहक ने मुझे घूरकर देखा। उलटे उसने मुझसे ही पूँछ लिया कि आपको उपाध्याय जी से क्या काम है ?मैंने उनसे कहा कि आप जानती हो, पता बता दें - काम तो उनसे मिलने का ही है। महिला बोली, ''मैं उनकी पत्नी हूँ। चलिए, साथ चलिए।'' मैं उस बूढ़ी काया में अपनी शिष्या को तलाश रहा था। मैंने उनसे कहा, ''आप मुझे गौर से देखिये, और बताइये कि मैं कौन हूँ ?'' वे क्षण भर मुझे देखती रहीं, जैसे अनेक स्मृतियों की परतें भेद रही हों। मैंने ही उन्हें अपना परिचय दिया, ''आपको एम.ए. में ट्यूशन पढ़ाने वाला ही आपके सम्मुख है।'' वे अपार प्रसन्नता से जैसे भर उठीं। उनके साथ हम तीनों उनके अधबने आवास पर पहुँचे। उन्होंने डॉ. उपाध्याय को मेरा परिचय दिया। वे भी स्मृतियों में खो गये। मैंने कहा, ''आप अक्सर उन दिनों जानना चाहती थीं कि मेरी पत्नी कैसी हैं? मेरे बच्चे कैसे हैं ?अब आप इन्हें देखें। इनसे दो शब्द कहें। वे मेरे पाँव छूना चाहती थीं। ऐसा करने से मैंने उन्हें मना कर दिया। वे बोलीं ''आपका परिवार देख मुझे अच्छा लगा।'' डॉ. उपाध्याय अभी भी गौ पालन कर रहे थे। उन्होंने हमैं रबडी खिलायी। कुछ अपनी पुस्तकें दी। मैंने उनसे कहा, ''इस उम्र में कुटुरु के साथ ही रहना था। वे छोटे बेटे को कुटुरु कहते थे। वे हँसे! बोले, ''हंसा जाई अकेला।''

3

साहित्य-संस्कृति के अनन्य उपासक रामजी उपाध्याय

सञ्जय कुमार

बीसवीं शताब्दी के मूर्धन्य गद्यकार, नाटककार और आलोचक प्रो. रामजी उपाध्याय का आधुनिक संस्कृत के उत्थान में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इसलिए उन्हें आधुनिक संस्कृत का शलाकापुरुष कहा जाता है। उन्होंने अपने समय और साहित्य का जो युग बोध प्रस्तुत किया उसका आधुनिक संस्कृत में गरिमापूर्ण स्थान है। रामजी उपाध्याय का जन्म उत्तरप्रदेश के बलिया जनपद के मलेजी ग्राम में 01 जुलाई 1920 ई. में हुआ था। इनकी प्रारंभिक शिक्षा बलिया से, विद्यालयी शिक्षा वाराणसी से और विश्वविद्यालयी शिक्षा इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उत्तरप्रदेश से सम्पन्न हुई थी। यहीं से उपाध्याय जी ने बी.ए., एम.ए. और डी.फिल. (पी-एच.डी.) की उपाधि प्राप्त की। तत्पश्चात् सागर विश्वविद्यालय जिसका वर्तमान नाम डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर में 07 जुलाई 1947 में सहायक आचार्य के रूप में इन्होंने अध्यापन कार्य करना प्रारम्भ किया। यह वही समय था जिसके कुछ दिन बाद हमारा देश आजाद हुआ। चारों ओर राष्ट्रिय चेतना के स्वर मुखरित होने लगे थे। उसी काल में रामजी उपाध्याय सागर आये और इसे ही अपनी कर्मभूमि बना लिया। यहीं सहआचार्य, आचार्य, अध्यक्ष एवं संकायाध्यक्ष जैसे पदों को अलंकृत करते हुए 30 जून 1980 ई. को सेवानिवृत्त हो गये। लेकिन वे केवल विश्वविद्यालयी सेवा से निवृत्त हुए न कि अपने अध्यापकत्व तथा लेखन की प्रवृत्ति से। उन्हें भारतीय संस्कृति से अगाध स्नेह था और उतना ही लगाव संस्कृत साहित्य से भी था। उनका मानना था कि संस्कृति के उत्थान में संस्कृत ही सबसे सशक्त माध्यम है। वे नाट्य साहित्य से विशेष रूप से प्रभावित थे उनकी दृष्टि में नाट्य ही जीवन की विविध व्यवस्थाओं का प्रस्तोता है। इसलिए इन्होंने नाट्य साहित्य एवं भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल प्रतिमानों को स्थापित किया।

संस्कृत नाटकों के प्रति रामजी उपाध्याय का दृष्टिकोण बहुत ही मौलिक व आलोचनापरक था। उन्होंने नाट्य-प्रणयन के साथ नाट्यालोचन की नवीन विचार सरिणि को जन्म दिया। उनका कहना था कि नाटक ही साहित्य की गहन अनुभूति कराता है। रामजी उपाध्याय के द्वारा सात नाटकों का प्रणयन किया गया है।

सीताभ्युदयम् - इस प्रथम नाट्य कृति है। का प्रणयन 1998 ई. में हुआ था। यह छः अंक का नाटक है। इस नाटक में सीता विषयक विसंगतियों को दूर करके उन्हें पवित्र और सशक्त बनाया गया है। उनका जंगल में जाना इसलिए हुआ कि वे अभुक्तमूल नक्षत्र में शिशुओं को जन्म देने वाली थी। ऐसे स्थिति में पिता आदि को शिशु को बारह वर्ष तक देखना वर्जित होता है। इसलिए सीता वाल्मीकि के आश्रम में जाती हैं। महर्षि वाल्मीकि इनके पिता जनक के मित्र हैं। वहाँ जाकर सीता उन्हें रामचरित लिखने में सहायता करती हैं। बाद में महर्षि वाल्मीकि की विद्यापीठ रसातल में स्थानांतरित हो जाती है। यही विद्यापीठ पश्चिमी देशों में विद्यापीठ और विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हुई। राम के जीवनादर्शों का विकास इसी विद्यापीठ से हुआ।

कैकेयी-विजयम् - यह द्वितीय नाट्यकृति है जिसकी रचना 1999ई. में की गयी थी। पांच अंकों के इस नाटक में कैकेयी को एक कुशल राजनीतिज्ञ के साथ-साथ प्रजापालक, सैन्यव्यवस्थापक एवं व्यावहारिक व्यवस्थाओं की कुशल संचालिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस नाटक में नाटककार के द्वारा राम को दण्डकारण्य के ऋषियों-मुनियों की रक्षा तथा आसुरी शक्तियों के विनाश के लिए भेजा गया था। जिसका निर्णय महाराज दशरथ के द्वारा पूर्व में ही ऋषि दम्पत्ति के साथ लिया जा चुका था। जब राम, लक्ष्मण और सीता जंगल में जाते हैं तो वह राज्य द्वारा सभी सुविधाएँ उन्हें प्रदान की जाती थी यहाँ तक कि लंका युद्ध में अयोध्या से सेनाएं भी भेजे जाने का वर्णन है। इस नाटक में कैकेयी को कवि द्वारा निर्दोष सिद्ध किया गया है।

अशोक-विजयम् - पांच अंकात्मक इस नाटक की रचना 2000 ई. में की गयी है। इसमें विशेष रूप से अशोक का सैन्यशक्ति के द्वारा विश्वविजय की कामना को परिवर्तित कर धर्मविजय को स्थापित किया गया है।

शम्बूकाभिषेकम् - इस नाट्यकृति की रचना 2001 ई. में की गयी है जिसमें चार अंक है। इसमें शम्बूक का अभिषेक तथा ब्राह्मण बालक वेदपा की राम

द्वारा रक्षा करने का वर्णन किया गया है। शम्बूक और वेदपा दोनों अच्छे मित्र हैं। दोनों ऋषियों के सानिध्य में रहते हैं। शम्बूक के पिता हिरण्यकेश को शम्बूक की ऋषियों से संगति अच्छी नहीं लगती थी जिसके कारण उसने शम्बूक और वेदपा दोनों को बन्दी बना रखा है। वह ब्राह्मण बालक वेदपा की बलि भी देना चाहता है लेकिन समय से पहुंचकर राम हिरण्यकेश का वध कर वेदपा की रक्षा और शम्बूक का अभिषेक करते हैं।

नन्दगौतमीयम् - यह छः अंकों का नाटक है। इसकी रचना 2003 ई. में हुई। नाटक के प्रारम्भ राजगृह में भिक्षावृत्ति को धारण किये हुए सिद्धार्थ से होता है। शुद्धोधन का पत्र पाकर विम्बसार सिद्धार्थ को ढूंढने के लिए पाण्डवगिरि में निकलता है। वहाँ वह सिद्धार्थ से भिक्षावृत्ति छोड़ने का आग्रह करता है। अपना आधा राज्य भी देना चाहता है, लेकिन सिद्धार्थ उसका निवेदन अस्वीकार कर देते हैं। उन्हें नन्द के विवाह की सूचना मिलती है। नन्द स्त्रियों से बहुत प्रभावित रहता है और स्त्री प्रसंग के प्रति लालायित भी। बुद्ध उसे अप्सराओं से मिलाने का वचन देते हैं जिसके लिए उसे हिमालय पर तपस्या करने के लिए प्रेरित करते है। नन्द तपस्या प्रारम्भ कर देता है। उसकी भेंट आनंद से होती है जो उसे कामाशक्ति से मोड़कर आध्यात्म में प्रवृत्त कर देता है।

एकलव्यविजय - यह एकांकी नाटक है। इसका नायक एकलव्य है। द्रोण पुत्र अश्वत्थामा और एकलव्य दोनों मित्र हैं। दोनों आश्रम में साथ-साथ रहते हैं। एक दिन एकलव्य और अश्वत्थामा जंगल में लकड़ी लाने के लिए जाते हैं जहाँ अश्वत्थामा को सर्प काट लेता है। सर्प ने जिस अंगूठे को काट लिया था एकलव्य उस अंगूठे को ही काट देता है। इस घटना के विषय में अश्वत्थामा की माँ कृपी को जब जानकारी मिलती है तो वह एकलव्य से यह कहते हुये बहुत बुरा-भला कहती है कि उसके कुल में सर्प काटने से किसी की मृत्यु नहीं होती है। इस पर एकलव्य को बहुत पश्चाताप होता है। वह अपना अंगूठा काटकर शल्य विधि से अश्वत्थामा के अंगूठे पर जोड़ देता है। उसके गुरु द्रोण बहुत प्रसन्न होते है और उसे अनेक प्रकार से आशीर्वाद प्रदान करते हैं।

मदनमोहनमालवीयकीर्तिमंजरीनाटकम् - पं. मदनमोहन मालवीय के व्यक्तित्व पर आधारित पांच अंकों के इस नाटक में मालवीय जी की समाज सेवा एवं भगवत भक्ति को दर्शाया गया है। मालवीय जी ने विश्व प्रसिद्ध वकील होने पर भी वकालत का कार्य समाज सेवा के लिए हमेशा-हमेशा के लिए छोड़ दिया है।

समाज सेवा के ही निमित्त उन्होंने हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना किया था। 1922 ई. के चौरी-चौरा काण्ड में बनाये गये अभियुक्त 153 निर्दोष लोगों को मालवीय ने अपने वाक्चातुर्य से फांसी के फन्दे से मुक्त कराया था। वे गुप्त रूप से क्रान्तिकारियों को संरक्षण प्रदान करते हैं। हिन्दू विश्वविद्यालय को विश्वविद्या की राजधानी के रूप में स्थापित करना ही उनके जीवन का एक मात्र लक्ष्य इस नाटक में दिखाया गया है।

अन्य रचनाएँ -

रामजी उपाध्याय द्वारा दो हिन्दी नाटक भी लिखे गये हैं — 'पूर्वपथ' और 'विश्व विजय'। यह दोनों नाटक महात्मा बुद्ध के जीवन चरित पर आधारित हैं। इन नाटकों के अतिरिक्त रामजी उपाध्याय 'द्वासुपर्णा' और 'सत्यहरिश्चन्द्रोदयम्' नामक दो संस्कृत उपन्यास भी लिखे हैं। जिसमें द्वासुपर्णा में कृष्ण-सुदामा की मित्रता के साथ-साथ सुदामा और कौमुदी के समाज सेवा को बहुत सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। 'सत्यहरिश्चन्द्रोदयम्' राजा हरिश्चन्द्र के त्याग और सन्तोष पर आधारित उपन्यास है। जिसमें हरिश्चन्द्र के द्वारा राजसूय यज्ञ का वर्णन आता है। उस यज्ञ में हरिश्चन्द्र अपना सर्वस्व दान कर चुके हैं। उसी समय विश्वामित्र का आगमन होता है। उन्होंने अपने आश्रम की व्यवस्था के लिए एक लाख स्वर्ण मुद्राओं की मांग की, जिसके निमित्त राजा हरिश्चन्द्र को अपने को तथा पत्नी को बेचना पड़ता है।

रामजी उपाध्याय द्वारा अनेक आलोचना ग्रन्थ भी लिखे गये हैं, जिनमें कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं - Sanskrit and Prakrit Mahakavyas, प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, मध्यकालीन संस्कृत नाटक, आधुनिक संस्कृत नाटक, भारत की प्राचीन संस्कृति, महाकवि कालिदासः, भारतस्य सांस्कृतिक निधिः, संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (भाग द्वय), भारत की संस्कृति साधना, भारत की सामाजिक संस्कृति, भारतीय संस्कृति का उत्थान, विशंशताब्दिकसंस्कृतनाटकम्, दशरुपक-तत्त्वदर्शनम्, दशरुपकम्-नान्दीटीका सहितम्, मध्यकालिकः संस्कृतनाटकालोकः, संस्कृत निबन्धावली, विश्वमानव संस्कृति, धर्म-समाज-दर्शन, संस्कृत-सूक्तिसंग्रह, संस्कृत स्वयं शिक्षक, नाट्यशास्त्रीय प्रयोग विज्ञानम्, महाभारतीयसंस्कृतिकोशः, संस्कृत के महाकवि और कवि, भासनाटकचक्रम, संस्कृतसूक्तिरत्नाकर, आधुनिक संस्कृत-साहित्यानुशीलनम्। इस आलोचना साहित्य के अतिरिक्त भी उनके द्वारा अनेक

साहित्य एवं संस्कृति के संरक्षण-सम्बर्धन के निमित्त कार्य किया गया है। रामजी उपाध्याय ने हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी भाषा में शताधिक शोध निबन्ध विभिन्न पत्रिकाओं में लिखा है।

रामजी उपाध्याय का हिन्दी अंग्रेजी, संस्कृत और उर्दू में समान अधिकार था। हाँ, उर्दू में उनका लेखन कार्य तो नहीं उपलब्ध होता है कि लेकिन वे उर्दू ठीक तरह से लिखना-पढ़ना जानते थे। उनकी भाषा भावों के गाम्भीर्य को समझने में अवरोध नहीं उत्पन्न करती, बल्कि पाठक के हृदय में सद्यः उतर सी जाती है। सहज और सरल भाषा उन्हें प्रिय थी। अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग उनकी रचनाधर्मिता के अंग हैं। अल्प समास युक्त वैदर्भी रीति उन्हें प्रिय थी। 'द्वासुपर्णा, सत्यहरिश्चन्द्रोदयम्, कैकेयी-विजयम्, एकलव्य-विजयम् इत्यादि कृतियों में भाषा और भाव का अद्भुत संयोग प्रकट हुआ है। रामजी उपाध्याय का प्रिय रस शान्त है। कहीं-कहीं वीर और करुण इत्यादि रसों का वर्णन काव्यभाषा के स्वरूप में चमत्कार उत्पन्न करते हुए दिखलाई पड़ते हैं।

रामजी उपाध्याय की कृतियों में सदैव नवीनता का आधान किया गया है। वह नवीनता देश और समय की सीमा के अनुकूल और महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने 'द्वासुपर्णा' और 'सत्यहरिश्चन्द्रोदयम्' दोनों उपन्यासों में पर्याप्त नवीनता का सन्निवेश किया है। 'द्वासुपर्णा' को उन्होंने ग्रामीण परिवेश और गांवों की समस्या का निराकरण तथा शिक्षा-स्वास्थ्य का जो आकर्षण प्रस्तुत किया है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। स्त्री शिक्षा के प्रति कौमुदी का योगदान निश्चित ही अनोखा कविकर्म है। 'सत्यहरिश्चन्द्रोदयम्' भारतीय संस्कृति के आधार स्तम्भ त्याग की मूलभूमि पर रचा गया है। जहाँ सत्यवादी हरिश्चन्द्र के त्याग और कर्त्तव्यपालन की उत्कट भावना को प्रस्तुत किया गया है। उनके नाटक भी नवीन अभिधानों के साथ प्रकट होते हैं। कैकेयी-विजयम् नाटक में उन्होंने कैकेयी की राम वनगमन की दोषी न मानते हुए एक सशक्त स्त्री, राजनीति में पारंगत और राम के प्रति समुचित व्यवहार करने वाली दिखलाया है। सीताभ्युदयम् नाटक में उनके द्वारा अभुक्त मूल नक्षत्र के वर्णन से सीता परित्याग की घटना को बदलकर पूर्व नियोजित कार्य किया है। वाल्मीकि आश्रम का पाताल लोक में स्थानांतरित होना और पाश्चात्य देशों में रामराज्य की स्थापना भी उनकी नवीन दृष्टि की ओर ही संकेत है। 'एकलव्यविजयम्' में भी स्वेच्छापूर्वक अश्वत्थामा को अंगूठा दान और गुरु द्रोण को बचाना भी रामजी उपाध्याय जैसे कवि की महत्त्वपूर्ण रूपरेखा है। रामजी उपाध्याय

राम के व्यक्तित्व को भी 'शम्बूकाभिषेकम्' में परिष्कृत करते हैं। राम के ऊपर आज के सन्दर्भ में शूद्र शम्बूक के वध का आक्षेप है। उस आक्षेप का निराकरण वेदपा की रक्षा और शम्बूक का राज्याभिषेक भी कवि की नवीन कल्पनाशक्ति को प्रमाणित करती है।

रामजी उपाध्याय पर यह आक्षेप भी लगाया जाता है कि उन्होंने घटनाओं को बहुत बदल दिया है। पात्रों में भी बहुत अन्तर दिखलाई पड़ता है। उनके नाट्य अनेक नवीन अभिधानों के साथ सामने आते हैं। देश-काल परिस्थिति के अनुसार साहित्य में परिवर्तन श्रेष्ठ कविकर्म माना जाता है। कवि को अपनी रचना में समय का ध्यान रखना ही चाहिए। इसलिए कैकेयी विजयम् या शम्बूकाभिषेकम् या एकलव्यविजयम् या सीताभ्युदयम् आदि में जो नवीनता दिखलाई देती है वह देश-काल की सीमा के अनुरुप है। कवि कोई इतिहास लेखक नहीं होता है कि वह प्राचीन समय और सीमा की डोरी को पकड़ कर अपनी रचना करेगा। वह तो प्रजापति है, उसके मन में जैसी भी काव्य सृष्टि करने की इच्छा होती है वह उसे करने के लिए स्वतंत्र है। इसीलिए उसे ब्रह्म से भी बड़ा माना गया है। ब्रह्म स्वतंत्र नहीं है जबकि कवि स्वतंत्र है। एक विशेष बात और है कि जब सभी रचनाओं की विषयवस्तु एक सी रहेगी या किसी में कोई नवीनता नहीं रहेगी तो साहित्य सहृदय को कैसे आकर्षित करेगा। नाट्य का आकर्षण नवीनता में ही है।

इस प्रकार रामजी उपाध्याय की लेखनी सदैव नवीनता की ओर ही अग्रसर दिखलाई पड़ती है। उनका आलोचना साहित्य भी भारतीय संस्कृति की निर्मल आभा लेकर प्रकट होता है जिसकी प्रत्येक किरण में भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल स्वरूप का दर्शन होता है वे भारतीय संस्कृति के सच्चे उपासक दिखलाई पड़ते हैं। चारों और उनके द्वारा भारतीय साहित्य और संस्कृति का ही गुणगान किया गया है। उनके साहित्य का एक पक्ष गांधी दर्शन भी है। ग्रामीण परिवेश एवं जन-जीवन की चिन्ता जिस रूप में महात्मा गांधी के मन में थी वह सब कुछ उसी रूप में उपाध्याय जी के साहित्य में भी दृष्टिगोचर होती है।

रामजी उपाध्याय ने सन् 1962 ई. में ''प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका'' विषय पर डी.लिट. की उपाधि भी प्राप्त की थी। संस्कृत विषय में डी.लिट. की उपाधि प्राप्त करने वाले वे सम्पूर्ण भारत में प्रथम महापुरुष थे। भारतीय संस्कृति और संस्कृत भाषा के सम्वर्धन में वे आजीवन संलग्न रहे। 'सागरिका' शोध पत्रिका प्रकाशन का प्रारम्भ 1962 ई. में इन्होंने ही किया था जो

आज तक लगातार प्रकाशित हो रही है। रामजी उपाध्याय के द्वारा ढ़ाना (सागर) में संस्कृत महाविद्यालय की स्थापना भी की गयी थी। जहाँ विद्यार्थियों के लिए आवास और भोजन का प्रबन्ध भी इनके द्वारा किया जाता था। इनके बहुआयामी व्यक्तित्व एवं कृतित्व को आधार बनाकर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय, दिल्ली, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, छत्रपतिशाहुजी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर और जामिया इस्लामिया, नई दिल्ली, आदि विश्वविद्यालयों में शोध कार्य हुए हैं तथा आज भी चल रहे हैं।

रामजी उपाध्याय को उनकी सारस्वत साधना के लिए उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, दिल्ली, बिहार, राजस्थान आदि प्रदेश सरकारों द्वारा पुरस्कृत किया गया है। 1998 ई. में उन्हें उत्तरप्रदेश सरकार ने अपने प्रतिष्ठित विश्वभारती पुरस्कार से सम्मानित किया था। आपको भारत सरकार ने 2007 ई. में राष्ट्रपति सम्मान से भी सम्मानित किया है। उपाध्याय जी के अकादमिक गौरव के कारण ही 1978 ई. अखिल भारतीय प्राच्य परिषद् 'पूना' में अध्यक्ष बनाया गया था जो एक संस्कृत साहित्य के मनीषी के लिए गौरव एवं सम्मान का विषय है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के द्वारा भी रामजी उपाध्याय को सन 1982ई. में मानद् डी.लिट. की उपाधि प्रदान की गयी थी। रामजी उपाध्याय निरन्तर बिना थके भारतीय साहित्य और संस्कृति के सम्बर्धन में संलग्न रहे। उन्होंने सदैव ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न धाराओं को संस्कृत में खोजा और परिमार्जित किया। उन्हें भारतीय संस्कृति तथा परम्परा का दीर्घ बोध था। इसीलिए वे अहर्निश उसे प्रकाशित करते रहे। 17 जनवरी 2011 ई. को उन्हें साहित्यिक समरभूमि से स्वर्गलोक जाने के लिए बाध्य होना पड़ा था।

4

सीताभ्युदय कथा

राम सुमेर यादव

भारतीय मनीषा सदा रामपरायण रही है। संस्कृत वाङ्मय में विद्वानों, नाटककारों, कवियों ने पुरुषोत्तम श्री राम को वर्ण्य विषय बनाया है। राम के साथ भगवती सीता का भी वर्णन बहुतायत होता है। भारतीय मानस में जगदम्बा सीता को देवी के रूप में स्वीकृत किया गया है। सीता विवाहोपरान्त वनवास जाने के लिए राम से निवेदन करती हैं और वन में उनके साथ जाकर अत्यन्त कष्ट उठाती है। महाकवि ने सीता के अभ्युदय की गाथा के रूप में 'सीताभ्युदय' नाटक लिखकर नारी जाति हेतु अत्यन्त उपकार का कार्य किया है। वे वसुन्धरा पुत्री के रूप में जानी एवं मानी जाती हैं। वन में जाने पर रावण अपहरण कर लेता है। लङ्का विजय के अनन्तर उनकी अग्निपरीक्षा ली जाती है। अयोध्या आने पर लोकापवाद परिलक्षित होता है जिससे राम उनका परित्याग कर देते हैं। सीता का समस्त जीवन आपत्तियों एवं विपत्तियों से आवृत रहता है। इसके मङ्गलाचरण के रूप में शिखरिणी छन्द में कवि के छन्दोज्ञान का अत्यन्त उच्चकोटि का अभिज्ञान मिलता है। इस रूप में कवि ने सीता का आराधन किया है जिसमें सूत्रधार के द्वारा कहलवाया है –

महर्षेर्वाल्मीकेः परमरुचिरा यास्ति कविता,
यदीयं चारित्रयं हरति दुरितं संस्मृतमपि।
कथा यस्या विश्वं रचयति सुधेवातिसरसं,
रमारूपा सीता वितरतुतरां प्रीतिमनघाम्।।[2]
जगन्माता सीता एकलजनवन्द्या भगवती,
कवेर्वाचां धारा दनुजकुलकान्तारहुतभुक्।
धरा पुत्री धन्या सुरजनसमुद्धारणतरी,
कृपापारावारामृतमयतरङ्गे स्नपयताम्।।[1]

इसमें कथानक पर दृष्टिपात आवश्यक है इसमें छः अङ्कों का समायोजन किया गया है। प्रथम अङ्क में भगवान परमेष्ठी ब्रह्मा वशिष्ठ से निवेदन करते हैं, वे कहते हैं कि राम पर अनेक विपत्तियां आई हैं। बाल्यावस्था से लेकर अद्यावधि कभी उन्हें सुख नहीं मिला है। भृगु के शापवशात् सीता का चिरवियोग होता है। राम के विवाह के पच्चीस वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। परन्तु उनके कोई भी सन्तान नहीं होती। तभी उन्हें युगल पुत्र की प्राप्ति होती है, परन्तु वे दोनों पुत्र अभुक्तमूल नक्षत्र में पैदा होते हैं। इसीलिए 12 वर्ष की उम्र तक वे अपने पुत्रों का मुख नहीं देखते।

''यथाधिकारं मया पुत्र प्रसूतिकालोऽभुक्तमूले विहितः। अभुक्तमूले जातस्य शिशोर्मुखं द्वादशवर्षाणि पित्रादिकुटुम्बजनैर्न द्रष्टव्यं महाविपत्तिजननादिति भवान् रामं सन्दिशतु। तदन्तरं स्वयमेव रामो मुनेराश्रमे तां न्यासीकरिष्यति। शेषं भवान् स्वयमेव निर्धारयतु यत् कालचक्रेण सुषम-विषय-परिणामापेक्षया विश्वहिताय प्रभवेत्।''[2]

इस अवधि में जगदम्बा सीता महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में रहती हैं। इस प्रकार सीता को वियोग तो होता है परन्तु पुत्र प्राप्ति का सुख प्राप्त होता है।

द्वितीय अङ्क में राम सीता के साथ महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में पहुँचकर अपनी पत्नी के प्रसव की मङ्गल कामना करते हैं। वसिष्ठ राम से ब्रह्मा का संवाद कहते हैं – आपको एक नहीं अपितु दो पुत्र की प्राप्ति होगी। मूल नक्षत्र में पैदा होने से दुष्प्रभाव के निराकरण हेतु पुत्र प्रसव से सोलह वर्ष तक सीता के द्वारा महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में वास करना उचित होगा।

भवतः कुशले लोके विश्वस्य सुखकाम्यया। पूर्वभावसमुत्पन्नां विपदं परिमार्जये।।[3]

तृतीय अङ्क में वाल्मीकि के आश्रम में राम सीता के साथ आश्रम में जाते हैं। वाल्मीकि राम से कहते हैं, सीता मुझसे क्रमशः सारा वृत्तान्त प्रस्तुत करती हैं। आगे वे कहते हैं कि ब्रह्मा के कहने से मैं रामायण महाकाव्य की रचना करुँगा।

एह्येहि देवि! कल्याणि! मम कार्यार्थसाधिके, दैवैः सुष्ठु नियुक्तासि रामायणनिबन्धने।[4]

तभी महर्षि वाल्मीकि कहते हैं कि सीता सर्ववृत्तान्त ज्ञात्रिणी हैं।

चतुर्थ अङ्क में आश्रम में रहते हुए सीता के दैनिक कार्य दिखाये गये हैं। सीता प्रायः प्रतिदिन प्रातः काल आश्रम की सफाई तथा ऋषि कुमारों की

सेवा-शुश्रुषा करती हैं। इस प्रकार सोलह वर्ष व्यतीत किए। तभी रामायण महाकाव्य पूर्ण हो जाता है। सीता के पुत्र राम को प्राप्त कर राजसेवा में लग जाते हैं। सीता ने अवधि पूर्ण कर ली। वह गङ्गा से स्तुति करके वर मांगती हैं –

शैलेन्द्रादवतारिणी निजजले मज्जज्जनोत्तारिणी
पारावारविहारिणी भवभयश्रेणीसमुत्सारिणी।
विष्णोः पादविहारिणी हरशिरोजूटच्छटाधारिणी,
काशीप्रान्तविहारिणी विजयते गङ्गा मनोहारिणी।।[5]

तथा

भगवति तमतीरे नीरमात्रशनाहं विगतविषयतृष्णा राममाराधयामि।
सकलकलुषभङ्गे स्वर्गसोपानरङ्गे तरलतरतरङ्गे देवि! गङ्गे! प्रसीद।।[6]

मैं जहाँ भी रहूँ मानवता और अपने चरित्र की रक्षा कर सकूँ।

पञ्चम् अङ्क में वरुण से स्वतः सीता अपने मन की व्यथा निवेदन करती हैं। उसी समय नारद आ जाते हैं। वे कहते हैं कि सीता शासन के कार्यों में प्रतिभाग करती हैं। पृथिवी सुखपूर्वक कहती है कि सीता इतनी व्यस्त हैं कि उसे मेरे लिए समय ही नहीं है –

''देवर्षे! अस्ति खलु सीतया कार्यमिर्विदेवानामेव। मम कार्यभारस्तया न तनूकृतः। भारत एव तया बहुकार्याणि साधनीयानि अवशिष्यते। कदा सा मम सविधे रसातलं समागमिष्यतीत्यस्मिन् विषये मम चिन्ता नित्यं प्रगाढायते। ममाञ्चलात् दूरंगता सा मयाश्रुफलमनुदिनं प्रकरोति।[7]

मैं सीता के लिए अहर्निश व्यग्र हूँ। नारद ने कहा कि आपकी चिन्ता निराधार है। सीता के गौरवशाली कार्यों से केवल भारत ही नहीं अपितु पूरी वसुन्धरा धन्य है। आगे चलकर भी सीता के द्वारा संसार का कल्याण होगा। सम्प्रति सीता का पृथिवी में पुनः आना रहेगा। मैं इस प्रकार कहने के लिए ब्रह्मा द्वारा आदिष्ट हूँ।

षष्ठ अङ्क के पूर्व प्रवेशक में वाल्मीकि राम को सूचित करने के लिए त्रैलोक्य से आए हुए समस्त अतिथियों के स्वागत की सूचना देते हैं। उस समय अप्रत्यक्षरूप से ही सभी जानते हैं कि वे अभी धराधाम से पाताल लोक में जाकर भगवान राम के आदर्शों का प्रचार-प्रसार करेंगे। सभी लोग जगदम्बा सीता के आने वाले वियोग से अत्यन्त करुणार्द्र होकर शोकाकुल हो जाते हैं। इसी अङ्क में गन्धर्वों के गायन से मातृ भूमि की वन्दना की जाती है।

वन्दे मातरम्!

सुजलां सुफलां मलयजशीतलाम्। शस्य श्यामलां मातरं वन्दे मातरम्।।

शुभ्रज्योत्स्नां पुलकितयामिनीम्। फुल्लकुसुमित-द्रुमदलशोभिनीम्

सुहासिनीं सुमधुरभाषिणीम्। सुखदा वरदां मातरं, वन्दे मातरम्।।[४]

इसी प्रकार अन्ततः कथा आगे बढ़ती है। राम सीता के प्रति अत्यन्त प्रभावित हैं। आचार्य ने नाटक को अत्यन्त कुशलतापूर्वक संभलकर रचित किया है।

'सीताभ्युदय' में महाकवि ने उपजीव्य से हटकर नवीन मौलिक कल्पनाएँ भी सृजित की हैं। इसे रामायण के उत्तरकाण्ड से गृहीत किया गया है। गर्भवती सीता के परित्याग से राम चरित का सहसा अपकर्ष राम के प्रति समादर भाव को क्षीण करता है।

आचार्य ने सीता का विश्ववन्द्या जगतपूज्या जगन्माता के रूप में आदर किया है। कालिदास ने 'रघुवंश' में, भवभूति ने उत्तररामचरितम् में तथा दिङ्नाग ने 'कुन्दमाला' में तथा महर्षि वेद व्यास ने 'पद्मपुराण' में उत्तरकाण्ड की कथा को उपजीव्य बनाया है। सीता परित्याग कवियों को स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि वह दुःखानुभूतिपरक है। परन्तु कवि ने उनकी प्रतिभा तथा निपुणता से कुछ परिर्वतन स्थापित करके कथा को रोचक और हृदयावर्जक बनाया है।

ब्रह्मा के विधान के कारण सीता को अभुक्त मूल नक्षत्र में पुत्र द्वय उपलब्ध होते हैं। राम द्वारा पुत्र दर्शन निषिद्ध है। यहां राम महर्षि वाल्मीकि से मिलकर सीता की पूरी व्यवस्था तथा प्रबन्ध करते हैं। किसी भी राजा के लिए ऐसा करना सर्वोचित एवं आवश्यक भी है। सीता एक प्रतिष्ठित पात्र है। परन्तु अन्य महाकाव्यों तथा नाटकों में वह स्थान उसे नहीं मिला जो 'सीताभ्युदय' में मिला।

सीता के जीवन के चार भागों में उनकी उपलब्धियाँ पृथक् हैं। प्राच्य भाषा में विवाहोपरान्त अयोध्या में राम के साथ रहना, द्वितीय चरण में चतुर्दश वर्ष का वनवास, तृतीय में वाल्मीकि आश्रम में निवास, चतुर्थ में वाल्मीकि आश्रम में पाताल लोक जाना आदि का वर्णन है। 'सीताभ्युदय' में सीता के जीवन के इन्हीं तृतीय और चतुर्थ भाग का वर्णन है।

'सीताभ्युदय' में रङ्गमञ्चीय दृष्टि से पात्रों की परिकल्पना तथा नवीन उद्भावना की गयी है। जिसमें ब्रह्मा, राम, वरुण, वशिष्ठ, पृथिवी, नारद, वाल्मीकि आदि को स्मृत किया जा सकता है। पद्यों में उपसर्गों के प्रयोग से लालित्य प्रवर्धित व परिलक्षित होता है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं -

आर्यपुत्र! प्रपश्यामि कामधेनुं सुवत्सलाम्।
यस्या दिक् प्रसादेन दिलीपोऽभूत् कुलोद्वहः।।
वनेऽस्मिन्नुषितं पूर्वं तव पूर्वजपुङ्गवैः।
अस्मानाह्वयति प्रीत्या वायुरेव सुगन्धिना।।[9]
यज्ञवेदिपरिभावितदेवाः, सामगानधृतरागविशेषाः।
सोमपानपरितृप्तविबुद्धा, सौम्यतां जगति संविभजन्ति।।[10]

इन्होंने इसमें विभिन्न छन्दों के प्रयोग किए है। जिनमें शिखरिणी, अनुष्टद्रं, शार्दूलविक्रीडित, मालिनी आदि छन्दों के प्रयोग अत्यन्त रूप में हुए हैं।

अलङ्कारों की योजना में भी आचार्य न्यून नहीं हैं। अनुप्रास अलङ्कार का एक सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य है –

शैलेन्द्रादवतारिणी निज जले मथ्श्रूजज्जनोत्रारिणी।
पारावारविहारिणी भवभयश्रेणीसमुत्तारिणी
विष्णोः पॉदविचारिणी हरशिरोजटच्छटाधारिणी
काशीप्रान्तविहारिणी विजयते गङ्गा मनोहारिणी।[11]

जगह जगह पर उपमा, रूपक, तथा उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों का संयोजन प्राप्त होता है। गद्य में भी अलङ्कार योजना परिलक्षित होती है।

सीताभ्युदय में लेखक नाट्यदृष्टि अद्वितीय है। नाटककार का उद्देश्य सम्मानपूर्वक सीता के महत्त्व की स्थापना तथा पुरुषोत्तम राम के अपकर्ष का दूरीकरण तदनुसार कथानक में परिवर्तन करना रहा है। जिससे पाठकों के मानस पटल पर सीता के प्रति गौरवानुभूति तथा राम के प्रति सम्मान भाव जागृत होता है।

सन्दर्भ –

1. सीताभ्युदय प्रस्तावना-3,
2. सीताभ्युदय प्रस्तावना-पृष्ठ 1-8
3. सीताभ्युदय- 2-5,
4. सीताभ्युदय- 3-8
5. सीताभ्युदय- 4-1,
6. सीताभ्युदय- 4-2
7. सीताभ्युदय- 5 पृ. 23,
8. सीताभ्युदय- 6 पृ. 27
9. सीताभ्युदय- 2-2,
10. सीताभ्युदय- 3.4
11. सीताभ्युदय- 4

5

सीताभ्युदयम् में लोकसंस्कृति

वत्सला

लोकशब्द 'लोकृ' धातु में घञ् प्रत्यय से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है - लोकयति भासते, लोकते, पश्यति वा। जो भासित होता है या प्रकाशित होता है तथा जो देखता (द्रष्टा) है वह सब लोक है। लेकिन कला चिन्तन के संदर्भ में लोक की व्याख्या भरतमुनि के टीकाकार आचार्य अभिनव गुप्त ने की है — 'लोको नाम जनपदवासी जनः। जनपदश्च देश एव।' अभिनव गुप्त का मन्तव्य है कि जनपदों में निवास करने वाले लोग लोक है। लोक की विभिन्न प्रवृत्तियों का नाट्य जैसी कलाओं में ग्रहण करना लोकधर्मी है। अपने 'अभिनवकाव्यालंकारसूत्र' में काव्य को परिभाषित करते हुए आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी ने लिखा है — 'लोकानुकीर्तनं काव्यं'[2] लोक का अनुकीर्तन ही काव्य है। कवियों की लोकदृष्टि लोक का ही संकीर्तन करती है। लोक वही है जहाँ जीवन और जगत् अपने स्वाभाविक रुप में उपलब्ध हों। वही लोक का विराट रुप भी है। लोक शब्द के कथन से केवल जन ही नहीं अपितु समस्त चराचर जगत् का ग्रहण होता है। नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि ने लोक को अपने शास्त्र के लिए एक प्रमाण माना है। उनका कहना है कि मनुष्यों के सारे कर्म, शिल्प, कलाएँ, निपुणता और बल लोक पर ही आधारित है। यदि लोक का अस्तित्व नहीं रहेगा तो ये सब अस्तित्व विहीन हो जायेंगे :—

कर्मशिल्पानि शास्त्राणि विचक्षणवलानि च।
सर्वाण्येतानि नश्यन्ति यदा लोकः प्रणश्यति।।[3]

लोक की निर्मिति शास्त्रों से नहीं हो सकती है। लोक अपना प्रमाण स्वयं है। लोक प्रकृति सारी कलाओं तथा काव्यों की वस्तु है। लोक से ही इनका अस्तित्व है। लोक से ही साहित्य का सृजन होता है। लोकसंस्कृति को महान बनाने में

साहित्य के साथ ललित कलाओं का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते है - ''वस्तुतः लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है, उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सब कुछ संचित रहता है। लोक राष्ट्र का अमर स्वरूप है - लोक का कृत्स्न ज्ञान और सम्पूर्ण अध्ययन में सब शास्त्रों का पर्यवसान है। अर्वाचीन मानव के लिए लोक सर्वोच्च प्रजापति है। 'लोक' लोक की धात्री सर्वभूत माता पृथिवी और उसका व्यक्त रूप मानव यही हमारे जीवन का अध्यात्म शास्त्र है। इसका कल्याण इसकी मुक्ति का द्वार एवं निर्माण का नवीन रूप है।'' लोककल्याण, लोकरीति और लोकव्यवस्था से ही हमारी संस्कृति समृद्ध होती है।

'सीताभ्युदयम्' प्रो. रामजी उपाध्याय द्वारा प्रणीत छः अंकों का नाटक है। सीता निर्वासन की जो लोक कथा प्रचलित है तथा वाल्मीकि के उत्तरकाण्ड में जोड़ी गयी है, उसके निराकरण के लिए और नयी लोकहितकारी और हमारी संस्कृति की पोषक परम्परा के लिए नाटककार ने नाटक की कथा में अपनी नित्य नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से बहुत सुन्दर परिवर्तन की संयोजना की है। नाटककार ने लोककल्याणकारी संस्कृति की स्थापना की है तथा लोक की समुचित सुन्दर व्यवस्था का निरूपण किया है।

नाटककार ने नाट्य सिद्धान्त के अनुसार कथा में परिवर्तन किया है। रामायण के उत्तरकाण्ड में राम द्वारा सीता के निर्वासन का जो प्रसंग है जिससे राम के चरित्र पर प्रश्न चिह्न लगाए जाते हैं और इस कृत्य को गर्हणीय माना जाता है। यद्यपि रामायण का उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त माना जाता है। रामकथानुरागियों तथा रामकथान्वेशकों का ऐसा मानना है कि हिन्दू धर्म को खण्डित करने के उद्देश्य से अन्य धर्मावलम्बियों द्वारा ऐसी कथा प्रचलित की गयी जिससे हिन्दू धर्म के प्रति लोगों में अनास्था उत्पन्न हो जाए। यह प्रक्षिप्त अंश रामायण में बाद में जोड़ा गया और परवर्ती कवियों ने भी इस कथा को यथावत् ग्रहण कर काव्य सर्जनाएं की, किन्तु इस कथा के निवारण के लिए कोई प्रयास नहीं किया। नाटककार रामजी उपाध्याय ने वाल्मीकि द्वारा लिखित सीता निर्वासन कथा के निर्मूलन के लिए औचित्यनिष्ठ वक्रोक्ति द्वारा सभी संक्षिप्त कथांशों (क्षेपकों) का संशोधन कर सुन्दर समाधान प्रस्तुत करने का उपक्रम किया है।

नाटककार ने नाटक में नवीन कथा की उपस्थापना कर यह दिखाया है कि सीता वाल्मीकि के आश्रम में रहीं, पर राम के द्वारा परित्यक्त होकर नहीं, अपितु सीता के अभुक्त मूल में पुत्र प्रसवजन्य महाविपत्तियों की आशंका थी, जिनसे बचने

के लिए वशिष्ठ के निर्देशानुसार राजप्रसाद से दूर सीता को सोलह वर्ष तक रहना पड़ा। इस प्रकार रामायण की पूर्व कथा में सीता निर्वासन पर जो प्रश्न चिह्न उपस्थित किए जाते हैं उसका परिष्कार अभुक्तमूल प्रसव योजना के द्वारा नाटककार ने किया है।

वाल्मीकि आश्रम में निवास करती हुई सीता की क्या दिनचर्या और उपलब्धियाँ रहीं, इस सम्बन्ध में भी रामकथा के पूर्ववर्ती कवियों ने कहीं भी कुछ नहीं लिखा है। सीता को विश्ववन्द्या और जगन्माता रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए उनकी प्रवृत्तियों के विषय में कवि मौन है। नाटककार की प्रातिभ दृष्टि है कि सीता रामायण लिखते समय वाल्मीकि को रामचरित के विवरण देती थीं, जो इस नाटक की प्रामाणिक उपजीव्य सामग्री है। इसके अतिरिक्त वाल्मीकि आश्रम में ऋषियों और ऋषि कुमारों के रहन-सहन, अध्ययन और अध्यापन की व्यवस्था में सीता लोकहित की दृष्टि से हाथ बँटाती थी। सीता के वाल्मीकि आश्रम में रहने की अवधि पूर्ण हुई। रामायण के उत्तरकाण्ड के अनुसार वे अपनी माता पृथिवी देवी के साथ पाताल चली गयीं। यद्यपि राम उनको अयोध्या में रखना चाहते थे। सीता पाताल में अपनी मातृभूमि की निवासिनी हो गयीं। वहाँ रहकर सीता ने क्या किया? इस विषय में रामायण और परवर्ती कवि पूर्णतः चुप्पी साधे हुए हैं। नाटककार का मन्तव्य है कि सीता की प्रतिभा और कार्यक्षमता कभी कुण्ठित होने वाली नहीं है। उन्होंने वाल्मीकि के विश्वविद्यालय को अपनी मातृभूमि पाताल में स्थापित किया और वहाँ से समग्र पूर्वी द्वीप-समूह अमेरिका और आस्ट्रेलिया महाद्वीपों तक रामकथा के माध्यम से भारतीय संस्कृति का प्रचार किया। यहाँ यह जान लेना प्रासंगिक है कि दक्षिण अमेरिका के पश्चिम तटीय विशाल साम्राज्य पेरु में सीता और राम की कथा ईसा से हजारों वर्ष पहले पहुँच चुकी थी। रामकथा की यह यात्रा वृहत्तर भारत से अमेरिका तक सम्पन्न हुई है।

नाटक की कार्यस्थली त्रिलोक से पाताल तक विस्तृत है। पाठक ऐसा न समझे कि ब्रह्मलोक तारांकित नभोमंडल में है अथवा पाताल के नीचे कोई अलग लोक है। सामान्य पाठक इसे ऐसा जानते हैं, किन्तु ब्रह्मलोक हिमालय के सर्वोच्च शिखर पर विराजमान मेरु पर्वत है और पाताल है पूर्वी द्वीप समूह से अमेरिका तक सागर और महासागर तक विस्तृत प्रदेश। इन सभी प्रदेशों के लोग तीनों लोकों में आते-जाते थे। महाभारत के अनुसार प्राचीन काल से ही भारत के राजा तीन लोकों (देव, मनुष्य, और असुर) पर विजय प्राप्त करते थे।[4]

नाटक की पृष्ठभूमि का विवरण देना इसलिए आवश्यक है, क्योंकि नाटककार की नई दृष्टि को पाठकगण आत्मसात् कर सकें। नाटकीय कथावस्तु की पृष्ठभूमि के निरुपण के पश्चात् अंकानुसार नाटककार द्वारा नाटक में निगूढ़ व आलोकित लोक संस्कृति का अवलोकन करेंगे।

प्रथम अंक में वशिष्ठ जी ब्रह्मा से कहते है कि आपने तो जीवनपर्यन्त भोगने के लिए विपत्तियों का सागर राम के भाग्य में लिख दिया। ऐसी विपत्ति तो आपने लोक विध्वंसकों के भाग्य में भी नहीं लिखी। ब्रह्मा जी प्रत्युत्तर में कहते हैं कि यह सब लोकहित के लिए देवर्षियों के परामर्श से किया गया था। सीता और राम का इहलौकिक जीवन तो भूत और भविष्य के ताने-बाने से कण्टकित रहा है, लेकिन अब भावी जीवन आनन्दपूर्वक बीते, इस उद्देश्य से मुझे घटनाओं को परिवर्तित करना है। भविष्य में वे दोनों सुखमय व उत्साहपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें, मुझे ऐसा प्रयास करना है।

ब्रह्मा के वचनों को सुनकर वशिष्ठ जी कहते हैं कि राम और सीता का भावी जीवन भी शापग्रस्त होने के कारण विपत्तियों से अछूता नहीं है। इस शाप के प्रभाव को मिटाना कैसे सम्भव होगा।

प्राचीन भारतीय संस्कृति में हम पाते हैं कि अक्सर ऋषि, मुनि, देवी-देवताओं से अप्रसन्न होने पर अपने तेज से शाप दे देते थे। ऐसी अनेक कथाएँ रामायण और महाभारत में उपलब्ध हैं। नाटककार ने भृगु के शाप को दर्शाते हुए राम के जीवन को शापग्रस्त दिखाया है।

ब्रह्मा जी वशिष्ठ से पूछते हैं कि राम को कैसा शाप? यह घटना तो मुझे ज्ञात नहीं है। वशिष्ठ जी ब्रह्मा को बताते हैं कि जब देवताओं से परास्त होकर असुर अपनी रक्षा के लिए भृगु पत्नी की शरण में जा पहुँचे तब मुनि पत्नी ने असुरों की रक्षा की। इस घटना को जानकर देवताओं की सेना के नायक विष्णु ने परिणाम का विचार किए बिना ही मुनि पत्नी को मार डाला। जब भृगु को इस घटना का पता चला तो उन्होंने विष्णु को शाप दे डाला कि मेरी ही भांति अब तुम भी चिरकाल तक पत्नी वियोग सहो। इस घटनाक्रम को सुनते ही ब्रह्मा जी को पूर्वकालीन घटना स्मृत हो गयी। ब्रह्मा ने कहा कि मैंने लोकहित के लिए भृगु का शाप परिवर्तित कर दिया हैः —

ब्रह्मा-स्मारितोऽस्मि पूर्वप्रकरणम्। भृगु शापोमया लोकहितार्थं विहित आसीत्।[5] वशिष्ठ जी पूछते हैं आपने यहाँ भी लोकहित का स्वप्न कैसे देख लिया।

ब्रह्मा जी कहते हैं - 'न केवलं मानवलोकस्याभ्युदयार्थमपितु रसातलवासिनामपि कल्याणमुद्दिश्य लक्ष्मीरूपधरा सीता सम्प्रति भृगुशापेन रामाद्वियुक्ता सती अवशिष्टं कार्यभरं सम्पादयितुं प्रवर्तिष्यते। प्रथमं सा रामचरिताख्यानात्मकमादिकाव्यं रामायणं कर्तुकामस्य वाल्मीकेः सहायिनी भविष्यति। पश्चात् सा पाताललोकं गता रामचरितादर्शं विश्वे प्रसारयितुमृषिचर्या चरन्ती विश्वलोकानाराधयिष्यति।'[6]

ब्रह्मा जी के मुख से नाटककार ने वृहत्तर भारत के सांस्कृतिक उत्थान की भी चर्चा की है। ब्रह्मा जी वशिष्ठ को बताते है कि भविष्य में वाल्मीकि आश्रम में वास करती हुई सीता रामायण की रचना करने में उनकी सहायता करेगी। यह सारा घटनाक्रम भृगु के शाप के परिणामस्वरुप परिवर्तित होगा। एतदर्थ अवश्य ही राम, सीता को वाल्मीकि के आश्रम में रखने के लिए बाध्य होंगे। ब्रह्मा जी कहते हैं कि सीता आसन्नप्रसवा हैं। उसको युगलपुत्र की प्रसूति वाल्मीकि के आश्रम में होगी, ऐसी व्यवस्था मैंने कर दी है। वशिष्ठ जी ब्रह्मा से प्रश्न करते हैं कि राजप्रासाद छोड़कर ऋषिकुटी में सीता का पुत्र प्रसव करना कहाँ तक उचित है। इस प्रसंग में ब्रह्मा जी लोकसंस्कृति में प्रसृत अभुक्त मूल नक्षत्र का उल्लेख करते हैं। लोक मान्यता के अनुसार इस नक्षत्र में उत्पन्न शिशु का मुख बारह वर्ष तक पितादि कुटुम्ब के लोग नहीं देखते हैं। पुत्र मुख देखने पर महाविपत्ति आती है। ब्रह्मा जी की उक्ति है - 'यथाधिकारं मया पुत्र-प्रसूतिकालोऽभुक्तमूले विहितः। अभुक्तमूले जातस्य शिशोर्मुखं द्वादशवर्षाणि पित्रादिकुटुम्बजनैर्न द्रष्टव्यं महाविपत्ति-जननादिति भवान् रामं सन्दिशतु। तदनन्तरं स्वयमेव रामो मुनेराश्रमे तां न्यासी-करिष्यति। शेषं भवान् स्वयमेव निर्धारयतु यत् कालचक्रेण सुषम-विषम परिणामापेक्षया विश्वहिताय प्रभवेत्।'[7]

आप ऐसा सन्देश राम तक पहुँचा दीजिए। फिर स्वयं राम सीता को वाल्मीकि मुनि के आश्रम में रहने की व्यवस्था कर देगें। वशिष्ठ जी ने ब्रह्मा की बातों को सुनकर कहा कि आप जैसा कहेंगे हम वैसा करेंगे।

द्वितीय अंक में नाटककार ने तपोवन की लोकसंस्कृति का अभिराम दृश्य उपस्थित किया है। रामायणकालीन संस्कृति में तपोवन व आश्रम संस्कृति का अभिरुप्य वर्णन मिलता है। यथानुरुप वर्णन नाटककार ने अपने नाटक में किया है। राम-सीता दोनों वशिष्ठ के आश्रम में पधारते हैं। राम तपोवन के सौन्दर्य को देखकर कहते हैं :—

पश्य सीते वनोद्देशे प्रकृत्या पावनं भृशम्
वशिष्ठस्याश्रमंरम्यं पुष्पवाटलतायुतम् ।
नानामृगगणाकीर्णं सिद्धचारणसेवितम्
प्रशान्तहरिणाकीर्णं द्विजसंघनिषेवितम् ।[8]

सीता इस आश्रम में निवास कर सुख का अनुभव कर रही हैं। सीता कहती हैं कि यहाँ की वायु अपनी सुगन्ध से हम लोगों को आमंत्रित कर रही है :- 'अस्मानाह्वयति प्रीत्या वायुरत्र सुगन्धिना'[9] वनों की वायु प्रदूषण से रहित होती है। स्वच्छता व हरीतिमा का साम्राज्य वनों में अभिव्याप्त होता है। तपोवन की संस्कृति शम व पवित्रता की प्रतीक होती है। नाटककार ने हमारी संस्कृति में अभिव्याप्त अभिवादन की परम्परा का उल्लेख किया है। राम वशिष्ठ मुनि का अभिवादन करते हुए कहते हैं – 'अभिवादये महामुनिं रघुवंश-पथप्रदर्शकम्'[10] मनुस्मृति में कहा गया है :–

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम् ।।[11]

राम वशिष्ठ मुनि का अभिवादन करते हैं तो वशिष्ठ जी कहते हैं कि आपका कल्याण हो। लोक पालन की अपनी प्रवृत्तियों से आपका उत्थान हो। संसार का कल्याण लोकपालन अर्थात् जनसमुदाय की देखभाल, सुरक्षा व संरक्षा से हैः – 'स्वस्ति भवते। वर्धस्व प्रजा संवर्धनात्'[12] राम जैसा लोकपालक राजा मिलना असम्भव है इसीलिए रामायणकालीन लोकसंस्कृति अधुनातन समय में हमारे लिए आदर्श का नियामक है।

सीता वशिष्ठ मुनि से कहती हैं कि मन, वचन, कर्म से महामुनि की उपासना के लिए अवसर पाने की कामना करती हूँ। वनवास की अवधि में मेरी सुखद अलौकिक विभूतियाँ नितान्त रमणीय रही हैं। वे भविष्य में भी बनी रहें, यही मेरी कामना है। मेरा मन मुनिकुमार की सेवा के लिए लालायित रहता है। सीता के इन वचनों से प्रतीत होता है कि सीता आश्रम में निवास कर प्रसन्नचित्त हैं। सीता का कथन है :–

मुनिनाथप्रसादेनवनवासेऽपि सौख्यदा।
सम्भूतिर्नितरां रम्या भविष्येऽपि चिरायताम् ।।
जातास्मि वसुधापुत्री ऋषिपत्नी-सहायिनी ।
मनो मेललते·जस्रं मुनिकौमारभृत्यके ।।[13]

वशिष्ठ जी राम से पूछते है कि आप अपना प्रयोजन बताए जिसे पूर्ण कर मैं आपकी लोकयात्रा निर्विघ्न कर सकूँ – 'किमतः परं लोकहितं देशहितं च रघुवंशस्य वर्धनात्।'[14] (सन्तानोत्पत्ति के द्वारा रघुवंश के संवर्धन से बढ़कर लोकहित और देशहित की और कौनसी बात हो सकती है।) राम कहते हैं कि वधू सीता सन्तान उत्पन्न करने वाली है, वे आपका आशीर्वाद माँगती है कि पुत्र प्रसव मंगलमय हो। कार्य की पूर्णता के लिए आशीर्वाद देना भी हमारी लोकसंस्कृति की महती विशेषता है। वशिष्ठ जी कहते हैं कि आपके पुत्र का जन्म अभुक्तमूल नक्षत्र में होगा। उनका लालन-पालन, संस्कारादि ऐसे स्थान पर होगा जहाँ वे पारिवारिक सदस्यों की दृष्टि से बचे रहे। नाटककार ने लोक संस्कृति में प्रसृत नक्षत्रीय फल को उद्घाटित किया है। वशिष्ठ जी का कथन है – ''शृणोतु तद्रहस्याख्यानम्। ब्रह्मविधानेन भवतोः पुत्रयोर्जन्माभुक्तमूले भविता। ग्रहस्थितिवशादुदग्रौ पुत्रौ त्रिलोके साम्राज्यपदयोग्यौ विश्वविश्रुतौ स्याताम्, किन्तु शौशवे तयोर्दर्शनमनिष्टकरं भविष्यति सर्वेषां कुटुम्बजनानां कृते। तयोः कौमारभृत्यं संस्कारात् कुत्रचिददृष्ट स्थानेऽनुष्ठेयाः।''[15]

नाटककार ने भारतीय अध्यात्म व लोक परम्परा में किए जाने वाले संस्कार का भी उल्लेख किया है। राम वशिष्ठ जी से कहते है कि पहले भी तो बहुत से सम्राटों का जन्म मुनियों के आश्रमों में हुआ है वहीं उनके संस्कार हुए – 'पुरापि बहवः सम्राजो महामुनिनाश्रमेषु जाताः, संस्कारिताश्च धर्म विजयेन मानवलोकं देवानामपि स्पृहणीयतां निन्युः।'[16]

राम वशिष्ठ जी से पूछते है कि सीता कहाँ पर रहेगी? इस प्रश्न के उत्तर में वशिष्ठ जी कहते हैं कि सीता ने तो पहले ही कह दिया है कि मेरा मन मुनि कुमारों के लालन-पालन के लिए पुलकित है। अतः सीता गंगा और तमसा के संगम पर काशी और प्रयाग के बीच मुनिवर वाल्मीकि का आश्रम अयोध्या से दूर एकान्त में है, सीता उन्हीं के आश्रम में ऋषि-पत्नियों की संगति में रहती हुई अपने सर्वोदय-साधना में निरत रहेगी – 'तस्याश्रमसन्निवेशो सीता ऋषि पत्नीनां संगमे यथापूर्वं स्वीयसर्वोदय-वृत्तिं साधयतु।'[17] वशिष्ठ के इन वचनों को सुनकर सीता अत्यन्त पुलकित हो जाती हैं और कहती है कि मैं तो गंगा माता की गोद में बैठी हुई पुष्प, हारादि के द्वारा उनकी पूजा कर रही हूँ – 'इदानीं तु नित्यं पुष्पहारादिना पूजापरायणा मातुर्गङ्गाया निशीदन्तीमात्मानं कल्पयामि।'[18] नाटककार ने भारतीय संस्कृति में प्रचलित माता गंगा की पूजा को इंगित किया है। तीसरे अंक में राम गंगा माता को प्रणाम करते हुए कहते है :–

आदावादिपितामहस्य नियमव्यापार-पात्रे जलम्
पश्चात् पन्नगशायिनो भगवतः पादोदकं पावनम्।
भूयः शम्भुजटाविभूषणमणिर्जह्नोर्महर्षेरियं
कन्या कल्मषनाशिनी भगवती भागीरथी सेव्यताम्।।[19]

इस श्लोक में नाटककार ने गंगा से सम्बद्ध प्रचलित पौराणिक लोक उपाख्यान की ओर संकेत किया है। सीता तमसा को हाथ जोड़कर प्रणाम करती हुई कहती है :—

तमसा योगितां प्रेश्टा पशुपक्षिगणान्विता
गङ्गाप्रवाहमापन्ना सख्यभावेन संगता।।[20]

राम वाल्मीकि मुनि की कुटी को देखकर कहते हैं कि यहाँ आश्रम का जीवन कितना अभिराम है :—

यज्ञवेदिपरिभावितदेवाः सामगानघृतरागविशेषााः।
सोमपानपरितृप्तविवुद्धाः सौम्यतां जगति संविभजन्ति।।[21]

उपर्युक्त श्लोक में रामायणकालीन आश्रम की लोकसंस्कृति का सुन्दर निरुपण करते हुए मनीषियों के परोपकार की भावना को दर्शाया गया है। हमारी संस्कृति परोपकार की भावना से आपूर्ण है, महाभारत में व्यास जी ने लिखा हैः-

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।।

राम-सीता जब वाल्मीकि आश्रम में पहुँचते हैं तो हमारी लोकसंस्कृति में अभिव्याप्त शिष्टाचार का पालन करते हुए उन्हें प्रणिपात करते हैं :-

भवतो दर्शनमात्रात्पूर्णाः सर्वेमनोरथाः।
तथापि महतो याच्ञ वरेण्या साधुशन्तये।।[22]

वाल्मीकि राम को आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि आप प्रजा के हित के लिए अवतार लेकर प्रकट हुए हैं। आप धर्म के रक्षक, सर्वशक्तिमान और ऋषि संस्कृति के पालक हैं :—

चिरं जीवतु भो राम प्रजायै कृतसन्निधे।
धर्मत्राण महाप्राण ऋषि संस्कृति रक्षक।।[23]

वाल्मीकि मुनि की बात सुन राम कहते हैं कि आप जैसे महात्माओं के प्रभाव से लोकराधन की योजनायें सम्पन्न करने के लिए मेरा अवतार हुआ है। मुनिवर वशिष्ठ के आदेशानुसार सीता के प्रसव तथा पुत्रों के लालन-पालन

के प्रयोजन सिद्धि के लिए आपके आश्रम में आया हूँ। एतदर्थ आप हमें अनुमति प्रदान करें।

वाल्मीकि राम को अपने जन्म की कथा बताते है कि भारत के दक्षिण-पूर्व दिशा में सीमान्त प्रदेश के महासागर में बहुतेरे द्वीप हैं जिनके सम्राट राजराजेश्वर वरुण हैं। वरुण नागलोक के सम्राट हैं। मैं वरुण का पुत्र हूँ। बाल्यावस्था में जब मैं तपस्या कर रहा था तो वाल्मीकि मेरे ऊपर छा गयी। उस समय माता की भाँति पृथिवी देवी ने मेरा पालन-पोषण किया। अब पिता की आज्ञा के अनुसार आपके चरित्र विषयक काव्य को मुझे निबद्ध करना है। इस कार्य में रामचरित की प्रत्यक्षदर्शिनी सीता को ब्रह्मादि देवताओं ने मेरी सहायता करने के लिए नियुक्त किया है। बहुत दिनों से मैं प्रतीक्षारत था। आज आपने स्वयं उनको यहाँ पहुँचा दिया है। सीता को देखकर वाल्मीकि कहते हैं :-

एह्येहि देवि कल्याणि मम कार्यार्थ-साधिके।
देवैः सुष्ठु नियुक्तासि रामायणनिबन्धने।।[24]

राम वाल्मीकि से पूछते हैं कि सीता रामायण लिखने में आपकी कैसे सहायक होगी? इस प्रश्न पर वाल्मीकि अपने और सीता के जन्म की समानता को बताते हुए कहते है कि सीता केवल आपके वर्तमान जीवन का ही नहीं, अपितु पूर्वजन्मों का भी इतिहास जानती हैं। प्रतिदिन आपके चरित विषयक विवरण सीता से सुनकर उसे मैं काव्यात्मक रूप प्रदान करूँगा। फिर उसके गान से तीनों लोक चराचर राममय बन जायेगा। राम की कथा तीनों लोक के प्राणी सुने व गुने और वैसा आचरण करें। वाल्मीकि की इस चर्चा को सुनकर राम कहते हैं कि सीता की ज्ञाननिधि का यह सर्वोपरि उपयोग होगा तथा मेरी लोकलीला सार्थक होगी। सीता की लोकलीला का गान समस्त चराचर जगत् में हो, यही नाटककार का उद्देश्य है। नाटककार का कथन है – 'सीताया ज्ञाननिधेरनुत्तमोपयोगो मम लोकलीलायाः सार्थकतामनुबध्नाति।'[25] राम सीता से कहते हैं कि देवताओं की कृपा से आश्रम प्रदेश की प्रकृति की विभूतियों के बीच तुम्हारा यहाँ रहना रुचिकर होगा।

चतुर्थ अंक में सीता वाल्मीकि आश्रम में निवास कर रही हैं। महर्षि वाल्मीकि ब्रह्म मुहूर्त में रामायण की रचना करते हैं तो सीता कुटी में उपस्थित हो जाती हैं और रामचरित की प्रस्तावना रूप आँखों देखी घटनाओं को सुनाती हैं :– 'दैनन्दिनकार्यवैपुल्ये मे मनः सततं रमते। ब्राह्मे मुहूर्ते रामायण-प्रणयनवेलायां महर्षि-कुटीर उपस्थिताहं रामचरितस्य प्रास्ताविक-घटनानां प्रत्यक्षदृष्टानि विवरणानि मुनये वर्णयामि।'[26] नाटककार ने भारतीय लोकसंस्कृति में प्राचीनकाल

से मिलने वाली परम्परा ब्राह्म मुहूर्त में उठने और विद्यार्जन का उल्लेख किया है। स्मृतियों व धर्मग्रन्थों में ब्राह्म मुहूर्त में उठने का वर्णन प्राप्त होता है। मनुस्मृति में मनु ने द्वितीय अध्याय में ब्राह्म मुहूर्त में उठने गायत्री जप करने का उल्लेख किया है। नाटककार ने नाटक के माध्यम से लोकसंस्कृति की प्राक् परम्परा को उजागर किया है।

सीता आश्रम में निवास करती हुई मुनि कुमारों की सेवा शुषूश्रा करती हैं। वे आश्रम में निवास करने वाले शिशुओं के आचार-विचार, स्वच्छता, स्वास्थ्य विषयक ज्ञान कैसे उन्नत हों ऐसी शिक्षा उन्हें प्रदान करती हैं। आज भी हमारी संस्कृति में ऐसी शिक्षा माता-पिता बच्चों को देते हैं। नाटककार लिखते हैः-'आश्रमीयशिशूनामाचार-विचाराः, स्वच्छता, स्वास्थ्यं, ज्ञान-विज्ञान-निधिश्च वर्धन्तामिति विनयाधानस्य क्रमो मया नित्यं ध्रियते। तदनु लता-वृक्ष-क्षुपाणां तदाश्रितानां पशु-पक्षिणां संवर्धनमारोग्यं च निमाल्यते·स्मामिः।'[27] सीता, लता, वृक्ष और झाड़ियों में बसेरा लेने वाले पशु-पक्षियों की वृद्धि का निरीक्षण करती हैं। आश्रम की सखियों को लेकर वृक्षों की सेवा, पुष्प-लता, झाड़ी की क्यारियों को सींचने, पशु-पक्षियों के लिए जल कुण्ड भरने, चींटियों के आहार अन्न कण बिखरने, लता शाखाओं के तन्तुओं को सहारा देने तथा ऋषि कुमारों व अनाथों की देखभाल आदि कार्यों का सम्पादन व निरीक्षण करती हैं। ये सारे कृत्य यद्यापि हमारी नगर व गाँव की संस्कृति में व्याप्त हैं - सीता-(आश्रम वृक्षकान् निझरेण स्थापयन्ती) अनुपमे, किमाश्रमकुमारिकाभिः पुष्पलता-क्षुपाणां केदारिका अभिशिक्ताः) किं वा पशु-पक्षिणां प्रपाः पूरिताः? उताहो पिपीलिकाभ्योऽन्नकणा वितीर्णाः? पथि प्रभिन्न-लता वल्लरीः सहकारशाखाभिः संयोजयन्ती गच्छतु। पश्यतु तावद् ऋषि कुमारान् अनाथात्तनुपालयन्तीं जीवन्तिकाम्।[28]

हमारी लोकसंस्कृति में धूप, दीप, नैवेद्यादि से पूजा करने की जो सनातन परम्परा है उसका भी नाटककार ने उल्लेख किया है। सीता सखियों से कहती है – 'अयि शुभद्रे किं त्वया देवायतनेशु धूपदीपनैवेद्यानि समारोपितानि।'[29] सीता द्वारा गंगा मइया की विधिवत् पूजा करने का भी नाटककार ने चित्र उकेरा है। आज भी हमारी लोकसंस्कृति में काशी, हरिद्वार आदि स्थानों पर गंगा की आरती और सामान्यजन द्वारा भी गंगा की पूजा की जाती है। सीता द्वारा गंगा की स्तुति द्रष्टव्य है :–

शैलेन्द्रादवतारिणी निजजलेमज्जज्जनोत्तारिणी
पारावार-विहारिणीभवमय-श्रेणी समुत्सारिणी।

विश्णेः पादविचारिणी हरशिरोजूटच्छदधारिणी
काशीप्रान्तविहारिणी विजयते गङ्गा मनोहारिणी ।।[30]
भगवति तव तीरे नीरमात्राशनाहं, विगतविषयतृष्णा राममाराधयामि ।
सकलकलुशभङ्गे स्वर्गसोपानरङ्गे तरलतरङ्गे देवि गङ्गे प्रसीद ।।[31]

स्तुति के पश्चात् सीता गंगा की लहरों को माला अर्पित कर प्रार्थना करती हुई कहती हैं - 'अत्रभवत्याः प्रसादेन विश्वलोकं पावयितुं व्रतं मया धृतम् ।'[32]

पंचम अंक में नाटककार ने वरुण और पृथिवी देवी के संवाद के प्रसंग में अनेकानेक पौराणिक कथाओं का संकेत किया है। पाताल लोक में निवास करते हुए सीता ने उसे सर्वोत्तम बना दिया है। इसी बीच नारद मुनि आते हैं, वरुण मधुपर्क सहित पूजा की सामग्री लेकर नारद जी के पास पहुँचते हैं और उन्हें अर्घ्य अर्पित करते हैं। यहाँ नाटककार ने हमारी प्राचीन लोकसंस्कृति मधुपर्क का उल्लेख किया है। वरुणः :-'मधुकर्पेण देवर्षिः प्रत्युद्गमनीयः। अर्घ्यं पात्रे निधाय मे हस्तगतं कुरुष्व ।'[33] हमारे धर्मग्रन्थों में मधुपर्क का विवरण मिलता है जो भारतीय संस्कृति की अभिन्न परम्परा है।

नारद पृथिवी देवी से पूछते हैं कि जिस कार्य हेतु ब्रह्मा जी ने सीता को यहाँ भेजा था, सीता ने कहाँ तक आपके कार्य में सहायता की। वरुण कहते हैं कि सीता ने रावणवध होने तक जो भी किया उससे देवर्षि, मानव, गन्धर्व, असुर, नागादि तथा राक्षसों का भी जीवन प्रमुदित हो गया। वरुण के ऐसा कहने पर पृथिवी देवी कहती हैं कि सीता के द्वारा देवताओं की कार्यसिद्धि भले हुई हों, किन्तु उसने मेरा शासनभार कणभर भी दूर नहीं किया है। उसे भारत में काम से छुट्टी मिले तो वह रसातल में आये। पृथिवी देवी सीता के लिए बहुत दुःखी हैं जैसा कि लोक में भी देखा जाता है कि पुत्री से अलग होने पर सबसे ज्यादा दुःखी माँ ही होती है। पृथिवी देवी का कथन है :- 'कदा सा मम सविधे रसातलं समागमिश्यतीत्यस्मिन् विशये मम चिन्ता नित्यं प्रगाढायते। ममाञ्चलाद् दूर गता सा ममाश्रुपातमनुदिनं प्रकरोति ।'[34]

नारद कहते हैं कि आप दुःखी न हों उसने अपनी महाशक्ति से सभी लोकों को सर्वोदय पर बढ़ा दिया है -'सीता न केवलं पातालवासिनोऽपितु सर्वान् लोकान् सच्चरित्रेण प्रकामशक्तया च प्रवर्तयमानासीत्, अस्ति भविष्यति चेति त्रिकालदर्शिना ब्रह्मणात्र भवत्यै निवेदयितुं प्रेशितोऽस्मि ।'[35]

पृथिवी देवी नारद से कहती है कि देवताओं ने अपनी सिद्धि के लिए उसे विपत्तियों में डाला है। मेरी कन्या कब मेरे पास आयेगी, आप यह बताइए। नारद

जी प्रत्युत्तर में कहते हैं कि सीता के करने योग्य काम पूरा हो गया है। राम उन्हें वाल्मीकि आश्रम से अयोध्या ले जाना चाहते हैं। लेकिन यह बाधा ब्रह्मा जी दूर करेंगे।

षष्ठ अंक में ब्रह्मा, लोकपाल, सीता और राम रंगमंच पर उपस्थित होते हैं। ब्रह्मा जी कहते हैं कि पृथिवी देवी पाताल में प्रतिष्ठित हैं और उन्हीं के मातृत्व से सीता का आविर्भाव हुआ है। सीता की विश्वात्मकता की विशेषता देखकर पृथिवी माता अब उसे अपने पास रखना चाहती है। ऐसा नारद जी ने बताया है। भारत में सीता के कार्य समाप्त हो चुके है - 'सीतायाः कार्याणि भारते समाप्तप्रायाणि सन्ति।'[36] वरुण जी कहते हैं कि पृथ्वी देवी की योजना के अनुसार कुलपति वाल्मीकि के अधीन जो विश्वविद्यालय चल रहा है, वह अपने पूर्ण रूप में रसातल में स्थानान्तरित हो जायेगा। उस विद्यापीठ में संसार के सभी द्वीपों के छात्र अन्तेवासी बनकर शिक्षा प्राप्त करेंगे। स्वयं सीता, महिलापीठ के छात्र और आचार्य, ऋषि चर्चा करते हुए सारे भूमण्डल का पर्यटन करते हुए सर्वत्र रामायण के आदर्शों की शिक्षा देते हुए संस्थाओं की स्थापना करेंगे और व्याख्यान देकर प्रचार करेंगे :-

'पृथिवीदेव्या योजनानुसारेण वाल्मीकेः कुलपतित्वेऽत्र यद् विश्वविद्यापीठं विलसति तत् सर्वशो रसातले स्थानान्तरितं भवेत्। तस्मिन् विद्यापीठे विश्वस्य सर्वेषां द्वीपानां छात्र अन्तेवासिनः शिक्षिष्यन्ते। स्वयं सीता महिलाविद्यापीठस्य संचालनं विधास्यति। तस्य विद्यापीठस्य छात्रा आचार्या ऋषिचर्यंचरन्तः समग्रं भूमण्डलं पर्यटन्तस्तत्र तत्र रामायणादर्शान् शिक्षयितुं संस्थाः स्थापयित्वा व्याख्यान-प्रवृत्तिं प्रचारयिष्यन्ति।'[37] नाटककार ने आदर्श भारतीय संस्कृति को समस्त भूमण्डल के विस्तृत वितान पर विस्तीर्ण करने का प्रयास किया है।

ब्रह्मा जी कहते हैं कि इस विषय में राम की आज्ञा अतिआवश्यक है। प्रभु राम, सीता के पाताल में जाने के कारण के प्रस्ताव पर कहते हैं :– 'अद्यावधि मया देवर्षीणां विघ्नोपशान्तये लोकराधनाय च जीवितव्ययं सबाधं निर्बाधं च दैवनियोगेन निष्ठापितम्। भारतं मे कर्मभूमिः। अत्र मया देवर्षिगन्धर्वासुरनागादीनां सुरक्षा प्रतिपालिता। रामायणं हि मम प्रज्ञानरूपं सत्पथकामानामुन्नयनं विधास्यतीति महर्षिवाल्मीकेर्लोकान् प्रति दाक्षिण्य-फलम्। अहं तु सीतापतिः स्वीय प्रभारूपेण सीतैव वारुणे लोके जगदखिलं राममयं विधास्ये। एतदर्थं सीतायास्तत्र पाताले प्रयाणं वरुणप्रस्तावानुवर्तनेनानुमोदयामि।'[38]

अन्त में नाटककार ने हमारे समाज की संस्कृति में व्याप्त लोक-कल्याण की भावना को प्रकट करते हुए भरतवाक्य में कहा :–

मानवाः भूतिमन्तः स्युः सौहार्दं स्यात् परस्परम् ।
पराभ्युदययोगस्तुप्रकृतिः सर्वदेहिनाम् ।।'[39]
यही भावना हमारी संस्कृति में सदियों से अभिव्याप्त है :—
सर्वे भवन्तुसुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु माकश्चिद्दुःखभागभवेत् ।।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण नाटक लोकसंस्कृति से पूर्ण है। नाटककार ने अपनी प्रातिभ प्रतिभा से नाटक में रामायणकालीन आदर्श संस्कृति को प्रतिष्ठिापित करने का स्तुत्य प्रयास किया है।

सन्दर्भ –

1. अमरकोश. 2/1/6
2. अभिनवकाव्यालङ्कार. 1/1/1
3. नाट्यशास्त्र. 19/151
4. सीताभ्युदयम् - आमुख- पृष्ठ संख्या. 02
5. तत्रैव. 01/06
6. तत्रैव. 01/07
7. तत्रैव. 01/08
8. तत्रैव. 02/01
9. तत्रैव. 02/02
10. तत्रैव. 02/10
11. मनुस्मृति -02/10
12. सीताभ्युदयम् -02/10
13. तत्रैव - 02/08
14. तत्रैव - 2/11
15. तत्रैव - 2/12
16. तत्रैव - 2/12
17. तत्रैव - 2/13
18. तत्रैव - 2/13
19. तत्रैव - 3/1
20. तत्रैव - 3/2
21. तत्रैव - 3/4
22. तत्रैव - 3/5
23. तत्रैव - 3/6
24. तत्रैव - 3/8
25. तत्रैव - 3/16, 17
26. तत्रैव - 4/18
27. तत्रैव - 4/18
28. तत्रैव - 4/18, 19
29. तत्रैव - 4/19
30. तत्रैव - 4/1
31. तत्रैव - 4/2
32. तत्रैव - 4/20
33. तत्रैव - 5/22
34. तत्रैव - 5/23
35. तत्रैव - 5/23
36. तत्रैव - 6/28
37. तत्रैव - 6/30
38. तत्रैव - 6/38
39. तत्रैव - 6/39

6

सीताभ्युदयम् : विविध पक्ष

रूपा कुमारी

बीसवीं शताब्दी के मूर्धन्य साहित्यकार एवं आलोचक के रूप में विख्यात आचार्य रामजी उपाध्याय विरचित ‘सीताभ्युदयम्’ षट् अंकों का नाटक है। इस नाटक का उद्देश्य प्राणी मात्र के कल्याण की अवधारणा, स्त्री अभ्युदय तथा ’वसुधैव कुटुम्बकम्’ के आदर्शों को स्थापित करना है। सम्पूर्ण नाटक की कथावस्तु रामायण के उस कथा प्रसङ्ग से उद्धृत है, जहाँ श्रीराम लङ्का में रावण वध के पश्चात् सीता को लेकर अयोध्या लौटते हैं तथा जन-लोकापवाद के कारण सीता का परित्याग करते हैं। इन्हीं घटना को आधार बनाकर आचार्य द्वारा सीता परित्याग, लोकापवाद पर पूर्ववर्ती कवियों की त्रुटियों को वक्रोक्ति के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। सीता जन्म से लेकर परित्याग तक समाज में एक बहुत बड़ी विडम्बना देखने को मिलती है। इस कवि विडम्बना को आचार्य ने अपनी विद्वत् प्रतिभा के औचित्यपूर्ण ढंग से परिमार्जित कर इस नाटक का सृजन किया।

प्रस्तुत नाटक का कथानक सीता के सान्निध्य भ्रमण करता है, जो कि उस भगौलिक,सांस्कृतिक परिवेश का उदात्त स्वरूप प्रकट कर रही है। इनके व्यक्तित्व के माध्यम से कर्तव्य, त्याग, तपस्या, सच्चरित्रता, प्राणी की रक्षा, स्त्री शिक्षा, उदारता आदि को प्रदर्शित किया गया है। कवि परम्परा में सीता-जन्म को लेकर एक बहुत बड़ी विडम्बना रही है। राजा जनक यज्ञ के समय हलचला रहे थे तभी भूमि में हल के फाल लगने से सीता की उत्पत्ति हुई, जिसका लालन-पालन राजा जनक के द्वारा हुआ। इस तरह के अविश्वसनीय तथा हीन स्तर के अनेक कथानक गलत तरह से गढ़ लिए गए, जिससे सीता अभिजात धूमिल हो जाती हैं। वाल्मीकि के अनुसार सीता भूतल पर पड़ी कन्या नहीं है, उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है – तुल्यशीलवयोवृत्तां तुल्याभिजन लक्षणाम्। राघवोऽर्हति वैदेहीं तं

चेयमसितेक्षणा।।[1] अर्थात् सीता की वंश-परम्परा उदात्त थी। इस कथानक के प्रणयन के साथ आचार्य ने नाट्यालोचना की नवीन विचार सारणी को जन्म दिया, जिसमें सीता के उदात्त स्वरूप को प्रकट कर पाठक के समक्ष नवीनता के साथ प्रस्तुत किया गया है। सीता पाताल लोक पृथ्वी देवी की पुत्री है, जो पाताल में शेषनाग के फण पर स्थित है। पाताल लोक के अधिष्ठाता वरूण ने सीता तथा वाल्मीकि को आर्य संस्कृति के प्रचार-प्रसार तथा विद्याध्ययन के प्रयोजन से राजा जनक के विद्यापीठ में भेजा था। राजा जनक सीता की विद्वता से प्रभावित होकर उन्हें गोद लिए थे।

इसी प्रकार रावण वध के उपरान्त अयोध्या वापस लौटने पर राम ने सीता को निष्कासित नहीं किया था, किन्तु भृगु के शाप के कारण ब्रह्मा के द्वारा उनके पुत्रों का जन्म अभूक्तमूल में होने का विधान किया गया था, जिससे कुल-गुरु वशिष्ठ के निर्देशानुसार 16 वर्षों तक सीता को अयोध्या के भवन से दूर रहना था। इसलिए सीता ने स्वयं वन जाने का निर्णय लिया, उन्हें राम द्वारा निष्कासित नहीं किया गया था। तेन संदिष्दोऽस्मि रघुवंशवर्धनं कुलवध्वां दारकद्वयप्रसवेन। पुत्रजन्माभुक्तमूले भविष्यतीति कारणात् तयोर्मुखदर्शनं पिन्नादीनां कृते बहुवार्षिकं वर्जितम्। यथा मुनिना प्रोक्तम् पुत्रयोः शैशवं यावत् संवर्धनं भवदीय आश्रमे भवेदिति तदर्थं भगवन्तमभ्यर्थये।[2] इसके बाद राम के आदर्शों के साथ आर्य-संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए सीता वाल्मीकि के साथ पाताल लोक में चली गई थीं।

सीता भारतीय संस्कृति की त्याग की प्रतिमूर्ति हैं, जो कदम-कदम पर अपने सुखों की तिलाञ्जलि देती रही हैं। विवाहोपरान्त जब राजभवन के वैभव को भोगने का समय था, तो पत्नी-धर्म का पालन करते हुए वल्कल वस्त्र धारण कर पति के साथ वन चली गईं। किसी पुरुष प्रधान समाज में स्त्रियों की सुरक्षा हमेशा खतरे में रही है। यही समझ कर सीता भी राम के बिना महल में असुरक्षित मान रही होंगी तथा वन साथ जाने का निर्णय लिया होगा। वन में भी दुष्ट आतंकित रावण के द्वारा हरण कर लिया गया। इतना ही नहीं वहाँ भी दुष्ट राक्षस-राक्षसी के द्वारा अपने अस्तित्त्व की रक्षा करती रहीं। राम लङ्का जाकर हिंसक तथा विध्वंसक राक्षस का वध कर सीता को लेकर अयोध्या लौटते हैं। पुनः राम, सीता को लेकर ब्रह्मा की योजना के अनुसार तथा मानव के कल्याण के लिए अभुक्तमूल दोष से बचाने के लिए वाल्मीकि के आश्रम में लेकर जाते हैं। 16 वर्षों तक आश्रम में रहकर सीता राम के चरित्र को प्रस्तुत कर आदिकाव्य रामायण की रचना करने में

महर्षि वाल्मीकि को राम के जीवन वृतान्त के क्रम-बद्ध इतिहास को प्रस्तुत करके उनका सहयोग करते हैं। ब्रह्ममुहूर्त में प्रति-दिन वाल्मीकि के समक्ष प्रस्तुत होकर राम के जीवन कीआँखों देखी घटना को प्रस्तुत करती हैं। साथ-साथ आश्रम में रहकर लोकहित की भावना में प्रवाहित होकर कई तरह के कार्य को सम्पन्न भी करती हैं। 'ब्राह्मे मुहूर्ते रामायण-प्रणयनवेलायां महर्षि-कुटीर उपस्थिताहं रामचरितस्य प्रास्ताविक-घटनानां प्रत्यक्ष दृष्टानि विवरणानि मुनये वर्णयामि।'[3] आश्रम के विद्यापीठ में मुनि कुमार को स्वयं सेवा-भाव प्रदान कर सच्चरित्रता का पाठ सिखाती थीं। आश्रम में वृक्ष तथा लताओं के स्वास्थ्य तथा समृद्धि के लिए निरीक्षण करती हैं। वन के पशु-पक्षियों की सेवा-भाव, पेड़-पौधों की सिंचाई तथा संरक्षण एवं निरीक्षण का कार्य-भार स्वयं संभालती हैं। इस प्रकार आश्रम में सेवा करते 16 वर्ष पूरे हो चुके हैं। सीता लोकहित की भावना से भाव-विह्वल हैं। उनके जीवन का उद्देश्य प्राणी मात्र की सेवा करना है। उन्होंने संपूर्ण विश्व को पवित्र बनाने का संकल्प लिया है। वे देवी गंगा से वर मांगती हैं – 'हे भगवती भगीरथी! आप मुझे आशीर्वाद दीजिए, मैं अपने संकल्प का पालन करते हुए राम-राज्य का विस्तार कर सकूँ, मैं जहां भी रहूँ मुझे मानव के कल्याण तथा चारित्रिक दृष्टि से पवित्र बनाने के लिए अपनी प्रवृत्ति में सफलता प्रदान करें। परोक्षेऽप्यत्रभवती नित्यं मे धर्मविजयिनीं शक्तिं संवर्धयत्विति वरं याचे।'[4] सीता कर्तव्यनिष्ठ होकर अपने प्रति सभी कार्यों को सम्पन्न करती हैं। दोनों पुत्र शास्त्रों को विधिपूर्वक अध्ययन कर पिता के द्वारा प्रजापालन के कार्य में नियुक्त हो गए हैं। सीतामहर्षि वाल्मीकि से गुरुमंत्र लेकर पाताल के हित तथा कल्याण के लिए विद्यापीठ की स्थापना कर राम के आदर्शों तथा आर्य संकृति का प्रचार-प्रसार करती हैं। पृथ्वी लोक पर सीता अपने कर्मों का निर्वहन कर चुकी हैं। अब नागलोक में जाकर अपनी माता के साथ कार्य-भार सम्भालने में मदद करनी है। नागलोक के निवासी अपने पूर्वजों के संस्कृति को विस्मृत कर त्याग कर रहे हैं। इस प्रकार उसके संस्कृति को बोध कराने के लिए माता पृथ्वी सीता को अपने पास लाना चाहती हैं। सीता राज-धर्म का पालन करते हुए आर्य संस्कृति के साथ राम-राज्य के साम्राज्य का भी प्रचार-प्रसार कर रही हैं।

नाटक के प्रथम अङ्क में भृगु शाप कवि की कल्पना है। वस्तुतः वाल्मीकि रामायण में ऐसा वर्णन कहीं विदित नहीं होता है। आचार्य रामजी उपाध्याय की मौलिक रचना में गुरु वशिष्ठ यह प्रसङ्ग ब्रह्मा जी को सुनाते हुए कहते हैं- प्राचीन

काल में असुरों तथा भगवान् विष्णु के साथ भीषण युद्ध हो रहा था। उस युद्ध के दौरान असुर पराजय होकर भृगु की पत्नी के पास शरण लेने के लिए गया। इसका परिणाम अत्यन्त घातक हुआ। भगवान् विष्णु ने बिना सोच-विचार के भृगु पत्नी का वध कर दिए। इस प्रकार भृगु क्रोधित होकर भगवान् विष्णु को शाप दिये कि तुम मेरे समान ही चिरकाल तक पत्नी वियोग सहन करते रहोगे।[5] राम विष्णु के अवतार माने जाते हैं तथा सीता लक्ष्मी की इस प्रकार शाप के कारण राम तथा सीता का वियोग चिरकाल तक होता है। भृगु का शाप कथा में एक नया मोड़ लादिया है, जो राम के व्यक्तित्व को और गौरवान्वित कर पाठक के समक्ष प्रस्तुत किया गया है।

इसी प्रकार नाटक में दूसरा प्रसङ्ग सीता के जनलोकापवाद के कारण सीता परित्याग से है। वाल्मीकि रामायण के उत्तर काण्ड में जनलोकापवाद के कारण राम के द्वारा सीता का परित्याग गर्भावस्था में किया गया था, जिससे राम का चरित्र सामान्य पुरुष के सादृश्य लक्षित हो रहा है तथा उनके चरित्र पर आज भी यह प्रश्न चिन्ह लगा हुआ है। आचार्य ने सीता परित्याग की जगह पुत्र-प्रसव अभुक्तमूल नक्षत्र में होने से इसका भी निराकरण बहुत ही सरस ढंग से प्रस्तुत किया है। आचार्य जी ने पुत्र प्रसव के लिए अभूक्तमूल नक्षत्र की अपूर्व कल्पना की है। इस प्रकार कथा के मूल में परिवर्तन भरत के नाट्य शास्त्र में भी दृष्टिगोचर होता है।[6] इसी प्रकार महाकवि कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् की मूल कथा में मौलिक परिवर्तन कर दुर्वासा शाप की योजना लाकर दुष्यन्त के चरित्र को लोकापवाद से बचा कर धीरोदात्त श्रेणी के नायक में रख दिया है।[7] इसी प्रक्रिया से प्रभावित हो आचार्य ने 'अभुक्तमूल' में पुत्र प्रसव की योजना से प्रस्तुत नाटक में राम के चरित्र को गौरवमयी दर्शाया है। यदि आचार्य द्वारा प्रस्तुत नाटक में 'अभूक्तमूल' में पुत्र प्रसव तथा भृगु शाप की योजना न की होती, तो वाल्मीकि रामयण की तरह भी 'सीताभ्युदयम्' नाटक में भी राम का शुभ चरित्र मलिन हो जाता।

व्यावहारिक पक्ष वाल्मीकि रामायण में भारतीय संस्कृति के मूल्यों को पिरोया गया है। भारतीय जनमानस में रामायण की कथा उनकी जीवन पद्धति का आश्रय है। इसी व्यावहारिक पक्ष को अपनाते हुए आचार्य रामजी उपाध्याय ने 'सीताभ्युदयम्' को रूपक में परिवर्तित कर कोई अतिशयोक्ति नही किया है। वस्तुतः रामायण के स्त्री पात्र विशेष रूप से सांस्कृतिक मूल्यों को महिमा प्रदान

करती हुई दिखाई पड़ रही है। इनमें भारतीय मूल्यों के प्रति असीम आस्था है; जैसे त्याग की प्रतिमूर्ति, आदर्श पतिव्रता, कर्तव्यपरायणता तथा युग-धर्म की रक्षिका जो कि समय आने पर अपनी श्रेष्ठता को भी सिद्ध करती हैं।' सीताभ्युदयम्' में वर्तमान प्रासंगिक जीवन मूल्यों का निर्माण करना तथा भारतीय संस्कृति के आदर्शों को बनाए रखना, साथ ही सकारात्मक चिंतन को रेखांकित किया गया है, जिससे न केवल चारित्रिक-शिक्षा ही मिलती है, अपितु हमारे जीवन को रसमय बनाने की क्षमता भी इन पात्रों में है।

सीता साधारण राजरानियों की भाँति भौतिक ऐश्वर्य के प्रति भोग-विलास-परायण नारी नहीं हैं। वे त्याग तथा संयमशील प्रवृत्ति की हैं। आचार्य रामजी उपाध्याय लिखते हैं सीता प्रसव की अवस्था में वाल्मीकि के आश्रम में राजसी सुखों को त्याग कर सामान्य नारी की भाँति जीवन व्यतीत करती हैं। इतना ही नहीं आश्रम के लता-वृक्ष को सींचना, पशु-पक्षियों का निरीक्षण करते हुए सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव चींटी आदि के लिए आहार एवं आश्रम में रह-रहे ऋषि कुमारों का शिक्षण एवं प्रशिक्षण आदि का कार्य स्वंय पूर्ण करती हैं।[8] महाकवि कालिदास भी सीता के विषय में लिखते हैं- वे वाल्मीकि के आश्रम में रहकर बालवृक्षों को सींचती थीं। 'पयोघटैराश्रमबालवृक्षान् संवर्घन्ती स्वबलानुरूपम्'[9] वे अतिथियों की पूजा करती थीं और वल्कल धारण करती थीं। प्रयुक्तपूजा विधिनातिथिभ्यः।[10] सीता की छवि आज भी भारतीय संस्कृति में एक विचार के रूप में देखा जाता है। सीता के अन्दर अटूट सहन-शक्ति विद्यमान है। वाल्मीकि रामायण के अनुसार रावण को एक कामुक पुरूष के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार करने के लिए अपने बल का पूर्ण प्रयोग करता है, ऐसे व्यक्ति जिसमें पैसा का दिखावा हो और अपनी कामुकता के लिए ताकत का प्रयोग करे। इस तरह का व्यवहार समाज में अश्लील एवं असभ्य माना जाता है। आज के समाज में बहुत सारी स्त्रियाँ ऐसी स्थिति में इन घिनौने व्यवहार का शिकार हो रही हैं। कुछ तो विरोध करती हैं पर अधिकांशतः बल के सामने घुटने टेकने को बेबस और लाचार हो जाती हैं। ऐसी परिस्थिति में बहुत कम लोग ही अपना साहस दिखा पाते हैं। कुछ को तो इस दुर्व्यवहार से बचने के लिए अपनी जान की बलि भी चढ़ानी पड़ती है। ऐसी परिस्थिति के लिए सीता हम सब के बीच एक प्रेरणा हैं, वे इस विषम परिस्थितियों में भी रावण को फटकारती हैं और चुनौती देती हैं साथ ही गलती सुधार करने के लिए अवसर भी प्रदान करती हैं। रावण के प्रति सीता का साहस

एक नैतिकता की रक्षा करने के लिए है, जो विषम परिस्थिति में दिया गया है। सीता वाणी का प्रयोग कर के रावण के अन्दर विद्यमान अहंकार को झकझोर कर रख देती हैं। यही कारण है कि सीता रावण को अपने आस-पास भटकने तक नहीं देती हैं। वाणी की शक्ति से हमारे वैदिक ऋषि भी अवगत थे। भारतीय संस्कृति में वाणी का अत्यधिक महत्त्व है। इसका उल्लेख ऋग्वेद के 'वाक् सूक्त'[11] 10.25 में किया गया है। मन से श्रेष्ठ स्थान वाणी को प्राप्त है, इसलिए वाणी मनुष्य को विषम परिस्थिति में बचाव के लिए सहायक सिद्ध होती है। हम आक्रमणकारी से बचाव हेतु उच्च स्वर में अपना विरोध कर सकते हैं। वस्तुतः तेज आवाज एक प्रतिरोधक संकेत है साथ ही चारों तरफ सभी को सतर्क कर आक्रामक को डरा देती है। सीता ने भी वाणी नामक शस्त्र का सदुपयोग कर अपने प्रतिरोध को दर्शाया।

सीता यदि चाहतीं तो वे अपने तपस्तेज से रावण को भस्म कर सकती थीं, सीता में रावण को जलाने की शक्ति विद्यमान थी।[12] लङ्का विजय के पश्चात् हनुमान जी कहते हैं उन राक्षसियों को मार डालने के लिए मेरे हाथ में खुजली हो रही है, जिन्होनें आपको प्रताड़ित किया है।[13] सीता हनुमान को ऐसा करने से रोकती है और कहती हैं मैंने उन सबको क्षमा कर दिया है। उनका कहना है गलती सब से हो जाती है अपराधी को भी करुणा के भाव से अपनाना चाहिए तथा गलती सुधारने का अवसर देना चाहिए।[14] सीता राम से निःशस्त्रीकरण के पक्ष में कहती हैं जहाँ शस्त्र होता है, वहाँ लड़ाईयाँ होती हैं। उनका मन्तव्य है जहाँ आग होती है, वहाँ सब कुछ नष्ट हो जाता है।[15] सीता राम से कहती हैं- आप दण्डकारण्य में रहने वाले राक्षसों को मारने की बात न सोचें। जिसने कोई अपराध नही किया हो, उसको मारने वाले वीर नहीं कहलाते हैं। आप अपने धनुष से आर्त जनों की रक्षा करें[16] इस प्रकार उन्होंने विश्व को शान्तिपथ पर चलने के लिए राष्ट्रीय मैत्रीभाव का संदेश दिया हैं।

राजनीति में सिद्धहस्ता - सीता राजनीति में सिद्धहस्ता नारी थीं। नाटक के पञ्चम अङ्क में नारद जी माता पृथ्वी से पूछते हैं आपकी सीता आपके शासन में कहाँ तक आपकी सहायता करती हैं? माता पृथ्वी कहती हैं, देवताओं के कार्य से विराम मिले तब न वह मेरी सुध लें।[17] पृथ्वी देवी सीता की माता हैं, वे सीता को पृथ्वी से पाताल लोक ले जाने के लिए इसलिए प्रयासरत हैं क्योंकि पाताल लोक के निवासी अपने पूर्वजों की संस्कृति को धीरे-धीरे भूलते जा रहे हैं। इसलिए उन्हें कर्तव्यबोध कराने के उद्देश्य से सीता को अपने पास लाना चाहती हैं।

सीता के कार्यस्थ केवल भारतवर्ष ही नहीं, अपितु संपूर्ण विश्व ही उनका परिवार हैं। वे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अवधारना का संकल्प लेते हुए संपूर्ण विश्व के प्रति स्वयं को समर्पित करती हैं। गङ्गा मैया से वर मांगती हैं' मैं जहाँ कहीं भी रहूँ, मुझे मानवता को चरित्रिक दृष्टि से पवित्र बनाने की अपनी प्रवृत्ति में सफलता प्रदान करना।'[18] इसी प्रकार वैवाहिक जीवन के साथ-साथ अन्य सभी जिम्मेदारियाँ एक साथ निर्वहण करती हैं, जिससे सीता का चारित्रिक उत्थान लक्षित हो जाता है। सीता की छवि भारतीय संस्कृति में आज भी विद्यमान है। आज नारी अपने परिवार के उत्तरदायित्व को पूर्ण करते हुए राजनीति में अपना पूर्ण योगदन दे रही है। पृथ्वी पर धार्मिक प्रवृत्ति को बढ़ावा देने के लिए राम ने सीता को बृहत्तर भारत में अपने सांस्कृतिक कार्यों का केन्द्र बनाने के लिए भेजा।

राम - प्रस्तुत नाटक के नायक मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम हैं। वाल्मीकि रामायण के अनुसार सीता परित्याग के दृष्टिकोण से राम के ऊपर एक कलंक लग गया जिसका, निराकरण आचार्य रामजी उपाध्याय 'सीताभ्युदयम्' में बहुत ही सहज ढंग से कर देते हैं। वाल्मीकि लिखते हैं कि सीता को गर्भावस्था के समय राम लक्ष्मण के द्वारा उन्हें वन में छुड़वाते हैं, जबकि रामजी उपाध्याय लिखते हैं राम स्वयं सीता को वाल्मीकि के आश्रम में छोड़ने जाते हैं।[19] सीता के प्रति राम का स्नेह अप्रतिम है, उन्होंने राम के विषय में कहा है — 'न चास्य माता न पिता न चान्यः। स्नेहाद् विशिष्टोऽस्ति मया समो व'[20] अर्थात् राम माता-पिता से भी अधिक स्नेह मुझसे करते हैं। इसी तरह हनुमान जी सीता जी से कहते हैं 'राम का मन आप में इतना रम गया है कि सांप के काटने पर भी अनुभव नहीं कर पाते हैं कि क्या उनको काटा है।'[21] सीता राम के प्रति एकत्व पत्नी व्रत को धारण करती थीं। इसी प्रकार राम भी सीता के लिए एकत्व पतिव्रत धारण करते थे। वे एक दूसरे के प्रति पूर्ण भाव से समर्पित थे। वे राम से अलग होकर स्वर्ग में भी नहीं रहना चाहती हैं। 'नहिमेतेनहीनायावासः स्वर्गेऽपि रोचते'। सीता के वियोग में राम लक्ष्मण से कहते हैं दिन-रात कामाग्नि मेरा शरीर जला रही है। हे लक्ष्मण! अब मैं अकेले समुद्र में शयन करूँगा, ताकि मुझे ये कामाग्नि जला न दे। मैं लक्ष्मी के समान सीता को अब देखूँगा, मुझसे गले मिलकर सीता कब आनन्द की आंसू बहाएगी। इस तरह सीता से स्नेह रखने वाले राम लङ्काविजय के पश्चात् उस सीता का परित्याग कैसे कर सकते हैं। वास्तव में वह व्यक्ति राम के अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह लगाने वाला निन्दनीय हो सकता है।

राम स्वयं सीता के विषय में कहते हैं - अब तक मैंने देवताओं और ऋषियों के विघ्न दूर करने के लिए तथा लोगों को सुख पहुँचाने के लिए अपने जीवन का बलिदान दिया है। भारत भूमि मेरी कर्मभूमि रही है, यहाँ मैंने देवता, ऋषि, गन्धर्व, असुरों और नागों की रक्षा की है। रामायण मेरे चरित्र का प्रज्ञान रूप है। इससे सत्पथ पर चलने के लिए इच्छुक जनों को प्रोत्साहन प्राप्त होगा। रामायण तो महर्षि वाल्मीकि का समाज के प्रति सहानुभूतिपूर्ण प्रसाद का फल है।' मैं सीता पति राम हूँ' प्रभा रूप में स्वयं सीता हूँ और पाताल में रहते हुए अखिल विश्व को राममय बनाऊँगा। अतः मैं सीता के पाताल में जाने के लिए वरूण के प्रस्ताव का समर्थन करता हूँ।[22] अतः राम की इन उक्तियों के माध्यम से स्पष्ट हो जाता है कि सीता पृथ्वीलोक से कार्य सम्पन्न करने के पश्चात् तथा राम के समर्थन मिलने के बाद ही पाताल लोक में प्रस्थान करती है। सारी पृथ्वी पर धर्म की प्रवृत्ति को बढ़ावा देने के लिए राम ने सीता को बृहत्तर भारत में अपने सांस्कृतिक कार्यों का केन्द्र बनाने के लिए भेजा है। राम कहते हैं 'इक्ष्वाकुणामियं भूमिः' अर्थात् समस्त जगत इक्ष्वाकु वंश का है। इसलिए विश्व में इक्ष्वाकुवंशी राजाओं की रीति-नीति का समादर होना चाहिए।[23]

राम का अवतार केवल भारत वर्ष के लिए नहीं, अपितु संपूर्ण विश्व के उद्धार के लिए हुआ था। राम का आदर्श लक्ष्मण रेखा की तरह मर्यादा के समान है, जो हमेशा मर्यादा के अन्दर रखने का सीख देता है। एक मर्यादा ही है, जो राम को पुरुष से महापुरुषोत्तम बनाती है। रामराज्य जैसे प्रजा का सेवा करने वाला जनसेवक आज के युग में दुर्लभ है। राम के चरित्र का अंशमात्र भी आज के राजनेता अपने अंदर आत्मसात कर लें, तो आज भारत को विश्वमञ्च पर सुशोभित होने से कोई नहीं रोक सकता है। राम के लिए सबसे बड़ा काम राम के जीवन मूल्यों का अनुपालन है। राम के इन्हीं आदर्शों से प्रभावित होकर महात्मा गाँधी ने भारत में रामराज्य की स्थापना का सपना देखा था। 10 दिसम्बर 1931 को यंग इंडिया[24] में गाँधी जी ने लिखा था' मैं ऐसे भारत का निर्माण करूँगा, जिसमें गरीब से गरीब लोग भी यह महसूस करें कि यह उनका देश है- जिसके निर्माण में उनकी आवाज का महत्त्व हो। मैं ऐसे भारत के निर्माण की कोशिश करूँगा, जिसमें उच्च और नीच वर्ग का भेद नहीं हो और जिसमें विभिन्न समुदाय का मेल-जोल होगा। गाँधी जी कहते हैं राम-राज्य में व्यक्ति पूर्णतः अहिंसक होंगे तथा सभी की आवश्यताएं पूर्ण होंगी,

जिससे अपराध कम होगा। गाँधी जी एक विस्तृत एवं समृद्ध राष्ट्र का सपना देखे थे। भारत राष्ट्र का निर्माण यहाँ के ऋषि-मुनियों के तप अर्थात् उनके जीवन शैलियों से बना है। उनकी जीवन शैली संसार के मंगल के लिए थी। जिन महान् महापुरूषों ने सारे समाज के सुखों के लिए तप किया उस तप से राष्ट्र का निर्माण हुआ, जहाँ देवता भी उस राष्ट्र को प्रणाम करते हैं।

रस विवेचन - नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरत के मतानुसार नाटक शृङ्गार अथवा वीर रस प्रधान होना चाहिए।[25] नाटक में रस मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है। एक अङ्ग के रूप में दूसरा अङ्गी के रूप में। जो अङ्ग के रूप में होता है, उसे गौण रस कहते हैं तथा जो अङ्गी के रूप में होता है, उसे प्रधान रस कहते हैं। संस्कृत साहित्य में नाटक प्रायः वीर तथा शृङ्गार रस में प्रधान पाए जाते हैं। कहीं-कहीं करूण, शान्त हास्यादि रस को भी प्रधान रस के रूप में रखकर नाटकों का सृजन किया जाता है। जैसे भवभूति की 'उत्तररामचरितम्' करूण रस प्रधान है।' एको रसः करूण एवं निमित्तभेदात्'[26] उनके मत में करूण ही मात्र एक रस है, अन्य रस करूण का विवर्तमात्र है। आचार्य रामजी उपाध्याय रस प्रयोग में सफल साहित्यकार हैं। आचार्य के अनुसार, शृङ्गार, वीर, करूण, रौद्र, शान्त और अद्भुत ये ही अङ्गी रस होते है। शेष भयानक और विभत्स रस आश्रय अथवा अङ्ग के रूप में होते हैं।[27] उन्होंने 'सीताभ्युदयम' नाटक में प्रयोजन के अनुसार भावों का प्रयोग करके अद्भुत और करूण को अङ्ग के रूप में एवं शान्त रस को अङ्गी के रूप में प्रयोग किया है। नाटक के प्रथम एवं चतुर्थ अङ्ग में राम के प्रति महर्षि वाल्मीकि का प्रसङ्ग एवं ब्रह्मा का प्रसङ्ग अद्भुत रस का उदाहरण है। जो अलौकिक पदर्थों से उत्पन्न होने वाला तथा जिसका स्थायीभाव विस्मय हो वहाँ अलौकिक रस होता है। प्रस्तुत नाटक में शृङ्गार रस का पूर्णतः अभाव है। आचार्य छन्द एवं अलङ्कार का प्रयोग भी अलग-अलग सन्दर्भ के अनुसार किये हैं। अनुष्टुप् छन्दों का प्रयोग अधिकतर स्थानों पर किया गया है; जैसे – 'भवतः कुशले लोके विश्वस्य सुखकाम्यया। पूर्वभावसमुत्पन्नां विपदं परिमार्जये'[28] इसी प्रकार अन्य छन्दों का भी प्रयोग अलग-अलग प्रसङ्गों के अनुसार किया गया है। यथास्थान विभिन्न अलङ्कारो का प्रयोग भी किया गया है जैसे – अनुप्रास, यमक, स्वाभावोक्ति आदि। आचार्य जीके द्वारा अनुप्रास अलङ्कार का प्रयोग अधिक स्थानों पर किया गया है – उदाहरण स्वरूप – शैलेन्द्रादवतारिणि, निजजले मज्जज्जनोत्तारिणी।[29]

आचार्य रामजी उपाध्याय ने सीता के व्यक्तित्व के माध्यम से विश्व में मानवता का पाठ सिखाया है। सीता ने अपनी प्रतिभा से न केवल पृथ्वीलोक, अपितु समस्त पाताललोक को भी अपनी विद्वत् प्रतिभा से प्रभावित किया है। उन्होंने अपना सर्वस्व जीवन सर्वजन हित के लिए समर्पित करते हुए 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श प्रतिष्ठापित किया है। भारतीय संस्कृति की विचारधारा तथा यहाँ की संस्कृति पर अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा रामायण ने अधिक प्रभावित किया है। रामायण के पात्रों तथा मनोरम शिक्षाप्रद कथाओं से प्रत्येक भारतीय का परिचय है। रामायण की कथा जन मानस में आत्मप्रबन्धन तथा आत्मविश्वास की पाठ पढ़ाती है। समाज में किसी तरह की अव्यवस्था अथवा भेद-भाव की त्रुटि को दूर कर सच्चरित्रता का उपदेश देती है। सीता का संघर्ष स्त्रियों के लिए प्रतिकूल स्थान में भी दीपक की लौ की भाँति है, जो विपरीत परिस्थिति में भी आशा की किरण के सदृश जीना सिखाती है।

सन्दर्भ -

1. *सुन्दरकाण्ड 16.5*
2. *सीताभ्युदयम् तृतीय अंक पृष्ठ संख्या-15*
3. *सीताभ्युदयम् - चतुर्थ अंक पृष्ठ संख्या -18*
4. *चतुर्थ अंक पृष्ठ संख्या-20*
5. *सीताभ्युदयम् प्रथम अक पृष्ठ - 7*
6. *नाट्यशास्त्र*
7. *अभिज्ञाननशाकुन्तलम्*
8. *सीताभ्युदयम्, चतुर्थ अंक, पृष्ठ - 10*
9. *रघुवंशम्, चतुर्दश सर्ग, श्लोक - 14.78*
10. *रघुवंशम्, चतुर्दश सर्ग, श्लोक - 14.82*
11. *ऋग्वेद वाक् सूक्त - 10.25*
12. *असन्देशात्तु रामस्य तपसश्चानुपालनात्।*
    न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्मार्ह तेजसा (सुन्दरकाण्ड 22.20)
13. *तपसा धारयेल्लोकान् क्रुद्धा वा निर्दहेदपि (सुन्दरकाण्ड 51.6)*
14. *वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, 113.45*
15. *अग्निसंयोगवद्धेतुः शस्त्रसंयोग उच्यते। (अरण्यकाण्ड 9.23)*

16. कदर्यकलुषा बुद्धिर्जायते शस्त्रसेवनात् । (अरण्यकाण्ड 9.28)

17. सीताभ्युदयम् पंचम् अंक, पृष्ठ - 23

18. सीताभ्युदयम्, चतुर्थ अंक

19. सीताभ्युदयम्, द्वितीय अंक

20. वाल्मीकि रामायण, सुन्दरकाण्ड- 36.30

21. नैव दंशान् न मशकान् न कीटान् न सरीसृपान ।
राघवोऽपनयेद् गात्रत् त्वद्गतेनान्तरात्मना (सुन्दरकाण्ड 36.42)

22. सीताभ्युदयम् षष्ठ अंक, पृष्ठ - 29

23. तस्य धर्म तादेशा वनमन्ये च पार्थिवाः ।
चरामो वसुधां कृत्स्नां धर्मसन्तानमिछवः (किष्किन्धाकाण्ड 18.9)

24. यंग इंडिया

25. नाट्यशास्त्र

26. उत्तररामचरितम्

27. नाट्यशास्त्रीय अनुसन्धान, डॉ. रामजी उपाध्याय

28. सीताभ्युदयम् द्वितीय अंक, पृष्ठ संख्या - 11

29. सीताभ्युदयम्, चतुर्थ अंक, पृष्ठ - 19

7

कैकेयीविजयम् में नारी चेतना

जयप्रकाश नारायण

'कैकेयीविजयम्' आचार्य रामजी उपाध्याय कृत पांच अंकों का नाटक है, जिसमें महारानी कैकेयी की विजय गाथा को बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत नाटक का केन्द्र बिंदु कैकेयी ही है। इस नाटक के माध्यम से आचार्य जी ने जीवन के विभिन्न अनुभवों और समाज की प्रत्येक छोटी-बड़ी घटनाओं का सूक्ष्मता के साथ चित्रण किया है, साथ ही उनका मनोवैज्ञानिक तथा यथार्थ विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। भारतीय संस्कृत साहित्य परम्परा में महर्षि वाल्मीकि से लेकर आधुनिक कवियों तक अनेक ऐसे कवि एवं साहित्यकार हुए जिन्होनें कैकेयी को एक कलंकित नारी के रूप में समाज के सामने प्रस्तुत किया है। वाल्मीकि के अनुसार कैकेयी एक क्रूर, हठी, अविवेकी, स्वार्थी एवं सामान्य नारी है, जो पुत्र-मोह से वशीभूत होकर कर्तव्यविमूढ़ हो जाती है। सामान्य रूप से यहाँ कैकेयी के वर मांगने का औचित्य राम को वनगमन से लेकर भरत के राज्याभिषेक तक देखा जाता है, जबकि आचार्य रामजी उपाध्याय कैकयी की प्रतिभा से प्रभावित होकर मानवहित के लिए प्रथम वीरांगना तथा राजनीति में निपुण नारी के रूप में प्रस्तुत करते है। वर्तमान में नारी सशक्तिकरण का उदाहरण आचार्य की लेखनी में दृष्टिगोचर होता है।

प्रजनन तथा वंश-वृक्ष का प्रसार सभी प्राणियों में महत्त्वपूर्ण कार्य है, जिसमें नारी के बिना ये कल्पना असंभव है। मानव जाति की सभ्यता और संस्कृति के विकास में नारी का स्थान विशिष्ट है। यही कारण है कि वैदिक ऋषियों ने नारी को शक्ति के रूप में प्रतिस्थापित किया है। प्राचीन काल में नारी को समाज में उच्च स्थान प्राप्त था। कहा भी गया है – ''यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।''

समाज की बदलती परिस्थिति के अनुसार नारी के जीवन में भी बदलाव आता गया। कभी अर्द्धनारीश्वर के रूप में उच्च स्थान प्राप्त हुआ तो कभी भोग्या कह कर उपभोग की वस्तु बना दी गयी। समाज में नारी अलग-अलग नामों से सम्बोधित होती है जैसे कभी मां, बेटी, पत्नी तो कभी शक्ति अर्थात् देवी के रूप में, परन्तु नारी को समाज में जो स्थान प्राप्त होना चाहिए वह स्थान अभी भी कम देखने को मिलता है। नारी के जीवन में संघर्ष निरंतर प्रवाहित होती चली आ रही है। नारी त्याग और धैर्य की प्रतिमूर्ति है।

लोकहित में महारानी कैकेयी के द्वारा किया गया कार्य अपयश देने वाला मान जाता रहा है, किन्तु इस नाटक में कैकेयी आदर्श एवं राष्ट्रहितकारिणी दर्शायी गई है। वह विपरीत से विपरीत परिस्थिति में भी धैर्य धारण कर कर्तव्यनिष्ठ होकर कार्य सम्पन्न करती हैं। कैकेयी विवाह के योग्य ऐसे वर का वरण करना चाहती हैं, जो शौर्य प्रदर्शन करे, न कि रूप और अभिजात्य में श्रेष्ठ हो।

रूपेणाभिजात्येन च तमेवानन्यतमं वरं वरीतुकामा यः शब्दवेधिशरप्रयोगेण तामतिशयीत।[1] कैकेयी त्याग-तथा बलिदान की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। कैकेयी इन्द्र के संग्राम में दशरथ के साथ हठ करके जाती है, जहां देवों की सेना का प्रतिनिधित्व करते हुए महाराज दशरथ के सारथी के घायल हो जाने के पश्चात् महारानी कैकेयी केवल राजा की रक्षा ही नहीं करती हैं अपितु राक्षसों का संहार करके देवताओं को विजय भी दिलाती हैं। आखेट के समय राजा दशरथ के द्वारा निर्दोष ऋषिकुमार को बाण लगने से ऋषि दम्पति के पुत्र की दुःखद घटना को सुनकर क्षुब्ध हो जाती हैं। महाराज दशरथ उनकी आजीवन सेवा करने के लिए उनसे प्रार्थना करते हैं। शोकाकुल दम्पति दण्डकारण्य में राजा दशरथ को ऋषि सुरक्षा के प्रति सेवा के रूप में दायित्व देता है। महारानी कैकयी के लिए एक तरफ यह वचन स्वामिभक्ति का प्रतीक है तो दूसरी तरफ राज्य के प्रति दायित्व का। कैकेयी रघुकुल की पताका को कभी झुकने नहीं देना चाहती। अपने कर्तव्य के प्रति एकाग्रचित्त होकर कार्य सम्पन्न करती है। विवाह के पश्चात् कैकेयी राज्य का कार्य-भार सम्भालने में इतना व्यस्त हो जाती है कि भरत की उचित देखभाल के लिए समय नहीं दे पाती। इसलिए भरत के निरीक्षण और प्रशिक्षण के लिए उसे मामा के पास भेज देती हैं।

स्वपुत्रस्य भरतस्य विनयार्थमवकाशो मे नासीत् प्रशिक्षणार्थं स मामकगृहे मया प्रतिष्ठापितः।[2]

देवासुर संग्राम में दशरथ ने कैकेयी को दो वर दिये थे। प्रथम वर पैरों से रथ संचालन के लिए तथा द्वितीय शरसंधान कर राक्षसों का संहार करने के लिए। इन दोनों वरों को कैकेयी मानवहित और ऋषि कल्याण के लिए तत्काल ही पूर्ण कर लेती है। प्रथम वर में राम को चौदह वर्ष के लिए वनवास तथा द्वितीय वर में भरत को राज्य-भार सम्भालने का कार्य।

तस्यै वरद्वयं ददामि प्रथमं पादांगुलिरथचर्यानिमित्तं।

द्वितीयं पुनः सममेव हस्ताभ्यां शरप्रयोगात्।।[3]

इन दो महान् उद्देश्य की योजना कैकेयी वर के माध्यम से पूरा कर लेती हैं। कैकेयी राम और भरत की योग्यता के आधार पर कार्य का विभाजन करती हैं। राम का दण्डकारण्य जाने का प्रमुख उद्देश्य ऋषियों को राक्षसों के उत्पात से बचाना था। राम पहले चित्रकूट जाते हैं। राम के आगमन का अभास होते ही राक्षस दण्डकारण्य की ओर भाग जाते हैं। फिर राम दण्डकारण्य की ओर बढ़ते हैं। दण्डकारण्य के पथ पर महर्षि अगस्त्य श्रीराम को आशीर्वाद के साथ-साथ अस्त्र-शस्त्र देकर उनको अधिक शक्तिशाली बना देते हैं। मुनि के निर्देशानुसार श्रीराम गोदावरी तट पर पहुंचते हैं, जो रावण का महान गढ़ था। वहीं पर शूपर्णखा ने राम को प्रणय प्रस्ताव दिया। उसके प्रस्ताव से उद्विग्न लक्ष्मण ने उसकी नाक काट डाली। शूपर्णखा कुटनीति में सिद्धहस्त तथा मायाविनी राक्षसी है, जिसने लंकेश से सीता का हरण करवाया। सीता को बचाने के लिए कैकेयी अयोध्या से चतुरंगिणी सेना लंका भेजती हैं। उधर श्रीराम के मित्र तथा किष्किन्धा के राजा सुग्रीव की सेना भी पहुंची, दोनों सेनाओं ने मिल कर रावण की सेना को परास्त कर दिया। राम का मन दण्डकारण्य में इतना रम गया कि वे वापस आना ही नहीं चाहते थे। कैकेयी राम को पत्र द्वारा सूचित करती हैं कि वन का उद्देश्य समाप्त हो गया है, अतः शीघ्र अयोध्या वापस लौट आओ। राज्य की जनता तुम्हारे दर्शन के लिए उत्कण्ठित है। भरत नन्दिग्राम में रहते हुए जीवन के प्रति अनासक्त हैं। उसने राम के पादुका की छत्र-छाया में चौदह वर्ष तक वनवास काल बिताया। माता कैकेयी के पत्र प्राप्त होते ही राम अयोध्या के लिए प्रस्थान करते हैं। भरत और राम शरीर से अलग-अलग है किन्तु उनके प्राण एक हैं।

रामभरतयोः शरीरद्वयं एकः प्राणोऽधितिष्ठति।[4]

राम के अयोध्या आगमन पर कैकेयी राम का राज्याभिषेक विधिपूर्वक करवाती हैं।

कैकेयी दो वरदान के द्वारा जीवन का उद्देश्य पूर्ण कर लेती हैं। कैकेयी एक कुशल-राजनीतिज्ञ हैं। वे राज्य की समस्याओं से विशेष रूप से अवगत हैं। उस समय की तात्कालिक समस्या राक्षसों द्वारा फैलाये गये आतंक को शांत करना था। यदि कैकेयी की योजना राम को वनवास भेजने की नहीं होती तो राम दण्डकारण्य कभी जाते ही नहीं और फिर न राक्षस का विनाश हो पाता और न ही रावण का विनाश होता।

यत् कैकेय्याः कूटोपायेन विना रामस्य तत्पूर्वाभियोगो नाभविष्यत्।[5]

राम तो दशरथ को प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं। वे क्षण भर के लिए भी राम को अपने से दूर नहीं रखना चाहते। राक्षस संहार के लिए कुशल योद्धा राम और लक्ष्मण ही थे। उनके दण्डकारण्य जाने के लिए कैकेयी को वर के रूप में महाराज दशरथ का आदेश कूटनीति से प्राप्त करना पड़ा। महारानी कैकेयी के लिए राज्य की प्रतिष्ठा विशेष महत्व रखती है। कैकेयी का त्याग इक्ष्वाकु वंश की प्रतिष्ठा बनाये रखने में दिखाई देता है।

कैकेय्यास्त्यागेनेक्ष्वाकुवंशीय प्रतिष्ठा यावच्चन्द्रदिवाकरौ प्रचीयमाना आस्ते।[6] राज्य के कर्तव्य के लिए पुत्र-मोह का त्याग करने वाली कैकेयी इस नाटक में प्रथम वीरांगना के रूप में प्रतिष्ठित हुई। यदि इतिहास की अन्य घटनाओं पर दृष्टि डालें तो देखा जा सकता है कि कैकेयी के विपरीत पुत्रमोह से वशीभूत होकर धृतराष्ट्र के कुल का ही नाश हो जाता है। इसलिए कहा भी गया है- कुल के हित के लिए एक व्यक्ति को और गाँव के हित के लिए कुल को त्याग देना चाहिए, जनपद के हित के लिये गाँव को और आत्मिक हित के लिये पृथ्वी को त्याग देना चाहिए। इस तरह त्याग करने वाला मनुष्य ही आत्मसुख को पाता है।

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।।[7]

भारतीय संस्कृति में त्याग का बड़ा महत्व है जो त्याग कर के उपभोग करता वही श्रेष्ठता को प्राप्त होता है। ''तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा''।[8]

कैकेयी राम के लिए वनवास और भरत के लिए यौवराज्य केवल चौदह वर्षों के लिए ही मांगती हैं यदि स्वार्थ से वशीभूत होती तो भरत के लिए राज्य आजीवन मांग लेती। कैकेयी के लिए मानवता श्रेष्ठ है, मानवता से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं 'न हि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चिद्'। मनुष्य का जन्म उद्देश्यपूर्ण है। 'प्रयोजनं बिना मंदोऽपि न प्रवर्तते'। इस उक्ति के अनुसार बिना प्रयोजन के मंद व्यक्ति भी

किसी कार्य के लिए प्रवृत्त नहीं होता, तो भला ब्रह्मा के द्वारा निर्मित सृष्टि प्रयोजन रहित कैसे हो सकती है? उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए ही बह्मा ने सभी योनियों से श्रेष्ठ मनुष्य का सृजन किया। कैकेयी ब्रह्मा जी को उलाहना देते हुए कहती हैं, आपने मुझे आजीवन अपयश का भागी बनाया। ब्रह्मा जी कहते हैं, जिस पर मेरी कृपा सर्वाधिक होती है, उसे मैं लोकहित के कार्यों के लिए नियुक्त करता हूँ। यदि वह यश के चक्र में पड़ेगा तो कार्य क्या करेगा? उसका जीवन एक तपस्वी का जीवन होना चाहिए जो कार्य को ही साधना बना ले। ये भवन्ति मे प्रसादपात्रं तानेव लोकहितलतिकापाशेनानुबध्नामि। ये भवन्ति यशः कामास्ते कार्यं कि करिष्यत'।[9]

उपाध्याय जी ने प्रस्तुत नाटक में कैकेयी के चरित्र को श्रेष्ठ, यशस्विनी तथा कर्तव्यपरायणा नारी के रूप में प्रस्तुत किया हैं। अपने कर्तव्य से ही मनुष्य श्रेष्ठ बनता है और श्रेष्ठता का स्वर किसी को पीड़ित नहीं करता है, न ही उच्च-निम्न का संक्रमण फैलाती है। मनुष्यता को श्रेष्ठता के आधार पर परिभाषित किया जा सकता है। कैकेयी का उद्देश्य राम और भरत के बीच भेद-भाव को बढ़ाना नहीं है अपितु उन्होंने योग्यता के आधार पर कार्य का विभाजन किया है। वे विश्वबंधुत्व की भावना से कार्य को सम्पन्न करने की प्रतिज्ञा करती हैं। भारतीय संस्कृति विश्व संस्कृति का शंखनाद है। हमारे ऋषि-मुनियों ने वसुधा को कुटुम्ब माना है। ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' किन्तु यह भाव कालांतर में क्षीण होता प्रतीत हो रहा है। अनेक विविधताओं के कारण राजनैतिक हिंसा, धार्मिक हिंसा, शोषण आदि कारणों से मानव आपस में ही विभाजित होते जा रहे हैं। जब प्रकृति के द्वारा निर्मित सभी प्राणी एक भाव से समान व्यवहार कर रहे हैं तो हम मनुष्य उसी प्रकृति के अंश होते हुए भी इतना भेदभाव क्यों आपस में कर रहे हैं? सूर्य बिना किसी भेद-भाव के संपूर्ण सृष्टि का पोषण कर रहा है। नदी समान भाव से सभी को जल आपूर्ति कर रही है। वृक्ष समान-भाव से फल प्रदान कर रहे हैं, तो हम मनुष्य एक होकर एकात्मकता की शरण में क्यों नहीं जा सकते? यह भाव हम सभी की उन्नति का कारण बन सकता है। एकात्मकता में वह शक्ति है जो एक संगठित, समृद्ध एवं सुसंस्कृत समाज का निर्माण करती है। जो सभी प्राणियों को अपनी आत्मा में देखता है, वह भला किसी से घृणा कैसे कर सकता है? इसी प्रकार का वर्णन ईशावास्योपनिषद् में भी देखने को मिलता है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्यैवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।[10]

राम के व्यक्तित्व को परिष्कृत करना कवि समाज का ध्येय रहा है। निश्चित रूप से राम हम सभी के लिए आदर्श हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है। किन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि फिर कैकेयी को ही क्यों बलि की वेदी पर चढ़ना पड़ा? यदि कैकेयी राम के वन जाने का निर्णय नहीं लेती तो राम बिना पितृ आज्ञा के राजमहल से बाहर कभी कदम नहीं रखते। राम के संपूर्ण जीवन काल के चौदह वर्ष का संघर्ष ही त्याग, बलिदान तथा यश की गाथा है। राम का चरित्र प्रत्येक मानव के लिए अनुकरणीय है। राम हमारे अन्दर की प्रेरणा है, जो कर्तव्य के पथ पर चलना सिखाती है। कैकेयी ने राम को आदर्श व्यक्तित्व प्रदान किया है, जिससे उनका व्यक्तित्व और निखर जाता है। इसलिए वे मर्यादा पुरुषोत्तम राम बन जाते हैं। व्यक्ति जितना प्रतिकूल परिस्थिति में निखरता है उतना अनुकूल परिस्थितियों में नहीं निखर पाता। विपरीत परिस्थितियां हमे मजबूत बनाने के लिए आती हैं। हमें उन परिस्थितियों का सामना हिम्मत और धैर्य के साथ करना चाहिए। कैकेयी धैर्य की बांध है। अपयश की भागी होते हुए भी अपने कर्तव्य मार्ग से विचलित नहीं होती है।

रामायण कुशल लोकतंत्र का उदाहरण है, जो समाज में बढ़ रही हिंसा को समाप्त कर एक सुसंगठित राष्ट्र का निर्माण कर सकता है। उदाहरण के रूप में श्रीराम सीता की खोज करते हुए किष्किन्धा पहुंचते हैं, जहां राम की मित्रता सुग्रीव से होती है। सुग्रीव अपने भाई बाली के आतंक से छिप कर ऋष्यमूक पर्वत पर रहता था। बाली अपने छोटे भाई सुग्रीव की पत्नी और राज्य का हरण कर उसे राज्य से बाहर कर दिया था। राम सुग्रीव को न्याय दिलाकर राजगद्दी सौंप देते हैं तथा बाली के पुत्र अंगद को उचित सम्मान भी देते हैं। इसी तरह रावणवध के पश्चात् राम विभीषण का राज्याभिषेक कर लंका का शासन उन्हें सौंप देते हैं। यदि श्रीराम चाहते तो किष्किन्धा पर अपना वर्चस्व स्थापित कर सकते थे। वहाँ के पराजित लोगों को अपना दास नियुक्त कर सकते थे। लेकिन श्रीराम ऐसा कुछ नहीं करते हैं। यहाँ राम को एक सुदृढ़ समाज संस्थापक के रूप में भी देखा जा सकता है, जो भारतीय संस्कृति की पहचान है तथा हमें सत्य के मार्ग पर चलना सिखाती है। हमें यह भी सिखाती है कि यदि धर्म के मार्ग पर हिंसा का भी सामना करना पड़े तो उसमें संकोच नहीं करना चाहिए। राम के व्यक्तित्व को ऊँचा उठाने में कैकेयी का महत्वपूर्ण योगदान है।

प्राचीन काल में मानवहित के लिए कोई लिखित संविधान नहीं था, न ही सामाजिक न्यायिक प्रक्रिया थी, जो भी था यथार्थ था। नारी उच्चशिक्षा की अधिकारिणी थी, वह योद्धा भी होती थी। अपनी अस्मिता की रक्षा में सशक्त होती थी। युद्ध की अधिकारिणी होती थी, किन्तु इन अनेक अधिकारों और क्षमताओं के बाबजूद भी आज भयावह रूप में महिला उत्पीड़न जैसे – दहेज, वैवाहिक हिंसा, महिलाओं की तस्करी, एसिड हमला, पारिश्रमिक भेद-भाव, भ्रूण हत्या, घरेलू हिंसा, यौनोत्पीड़न जैसी समस्याएँ दिनों-दिन बढ़ती जा रही हैं। कैकेयी को अपने समय की एक सशक्त नारी होते हुए भी समाज उसे हेय दृष्टि से देखता है। कैकेयी अपने जीवनकाल में त्याग और बलिदान की प्रतिमूर्ति रही हैं। संपूर्ण जीवन संघर्षमय होने के बाद भी समाज उसे कलंकित घोषित करने में कोई कमी नहीं छोड़ता। कैकेयी के द्वारा लिया गया निर्णय समाज के हित के लिए था न कि किसी व्यक्ति विशेष के लिए। समाज की यथार्थता तो यही है कि पुरुष प्रधान सामाज में स्त्रियों को उतना उचित स्थान नहीं मिल पाया है, जितना एक सभ्य समाज के लिए चाहिए। कैकेयी पर आरोप लगाने का मुख्य कारण यह भी रहा है कि अधिकतर लेखक एकांगी चिन्तन के पक्षधर रहे हैं।

यदि किसी समाज की स्थिति को देखना है तो निश्चित रूप से पहले उस समाज में नारी की स्थिति पर दृष्टि डालनी चाहिए। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था 'नारी के सशक्तिकरण से ही समाज का सशक्तिकरण संभव है' इसलिए भारतीय संस्कृति मातृशक्ति को तीन रूपों में अभिव्यक्त करती है- बुद्धि, शक्ति और समृद्धि। व्यक्ति की सफलता के पीछे निश्चित् रूप से नारी का हाथ होता है। जो आज के बच्चे है वो कल के भविष्य हैं। एक माँ में जो संस्कार होता है वह बच्चों में भी जाता है क्योंकि माँ घर के वातावरण को स्वच्छ रखती है तो बच्चा स्वच्छ वातावरण का आचरण करता है। इसका उदाहरण आचार्य रामजी उपाध्याय जी के ग्रंथों में देखने को मिलता है। यहाँ कैकेयी के संस्कारों का प्रतिफल ही तो राम हैं। यदि कैकेयी भोग विलास के प्रति आशक्त रहती तो राम का व्यक्तित्व इतना उज्ज्वल एवं आदर्श नहीं होता। माँ का दायित्व नारी को सामान्य से विशिष्ट बना देता है। यदि माँ शिक्षित हो तो निश्चित रूप से वह संस्कार बच्चों में भी दिखता है। इसीलिए माँ को प्रथम शिक्षिका कहा गया है। श्रीराम शर्मा आचार्य ने कहा है- यदि माता ही हो अज्ञान तो बच्चे कैसे बने महान्।

प्रस्तुत नाटक का उद्देश्य कैकेयी के चरित्र को निर्दोष सिद्ध करना है। आचार्य उपाध्याय कैकेयी के माध्यम से समाज के विभिन्न आयामों को प्रस्तुत करते हैं। कैकेयी का जीवन एक संघर्ष की गाथा है जो नारी के जीवन से जुड़ी यथार्थ घटना पर आधारित है। जीवन में संघर्ष के पथ पर प्रत्येक पुत्र राम हो या नहीं यह नहीं कहा जा सकता किन्तु प्रत्येक नारी कैकेयी जरूर होती है जो अपनों के हित के लिए स्वयं को त्याग की वेदी पर चढ़ा देती है। अतः त्याग का दूसरा नाम ही नारी है और उसका सर्वोत्तम उदाहरण कैकेयी है।

सन्दर्भ –

1. *कैकेयीविजयम् प्रथम अंक पृष्ठ 3*
2. *कैकेयीविजयम् तृतीय अंक पृष्ठ -12*
3. *कैकेयीविजयम् द्वितीय अंक*
4. *कैकेयीविजयम् पृष्ठ -23*
5. *कैकेयीविजयम् पृष्ठ - 30*
6. *कैकेयीविजयम् पृष्ठ - 30*
7. *द्वासुपर्णा*
8. *ईशावास्योपनिषद्*
9. *कैकेयीविजयम् पृष्ठ - 32*
10. *ईशावास्योपनिषद् मंत्र 6*

8

कैकेयी का राजधर्म

सुकदेव वाजपेयी

भारत का प्राचीन धर्म व्यक्तिगत सुख और शान्ति के लिये ही नहीं था अपितु उसके द्वारा समष्टिगत अभ्युदय की योजना का निर्माण हो सका। धर्म सारे समाज को उन्नति के पथ पर अग्रसर करने के लिए अपनाया गया था चाहे कोई भी धर्म क्यों ना रहा हो, उससे सम्बन्धित दर्शन के आधार पर उसका मूल सिद्धान्त रहा है 'यथैवात्मा परस्तद्वद्द्रष्टव्यः मुखमिच्छता'। अर्थात् सुख पाने की इच्छा रखने वाला पुरुष दूसरे को अपने समान ही समझे तथा अपने स्वयं के सुखी रहते हुये दूसरों के जीवन में सुख की कल्पना करे इस तत्त्वज्ञान के आधार में ही, आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत को धर्म का सर्वस्व माना गया था। भारतीय सभ्य समाज धर्म की इस पद्धति पर आचरण करते हुये सुदृढ़ और सुव्यवस्थित था। कैकेयी विजयम् तथा वाल्मीकि रामायण को पढ़ने के बाद यह ज्ञात होता है कि रानी कैकयी ने धर्म के विषय पर अगर ये सब ज्ञान अर्जित न किया होता तो शायद वो इस कार्य अर्थात् राम वनवास देने के लिये कभी तैयार नहीं होती। क्योंकि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनमें से धर्म का महत्त्व सबसे बढ़कर समझा गया है। धर्म के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति होती है तथा धर्म और काम की सिद्धि भी धर्म की इस प्रवृत्ति को दृष्टि में रखते हुये कहा गया है, यतोऽभ्युदयानिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः। धर्म इस जीवन में ही सहायक नहीं माना गया अपितु मरने के बाद भी। धर्म ही साथ देने वाला होता है तथापि यदि अर्थ और काम धर्म के विरुद्ध हो तो भी वे परित्याज्य हैं।

अतः कीर्ति संसार (लोक) में ही स्थित है किन्तु धर्म लोकोत्तर है और कैकेयी ने ब्रह्मा जी के कहने पर राम को वन में भेजने के लिये रणनीति बनाई और अपने धर्म का निर्वहन किया। यश अपयश की चिन्ता से विमुक्त होकर कैकेयी ने

मानव कल्याण को ही धर्म समझा, नर भक्षी राक्षसों का हनन और ऋषि मुनियों को उनके अत्याचारों से निवृत्ति यदि मेरे लिये आज यही धर्म है तो मैं राम को वन अवश्य भेजूंगी और उसके लिये योजनाबद्ध तरीके से कैकेयी ने अपने उद्देश्य को सफलतापूर्वक किया। एक प्रसंग में कैकेयी विजयम् के पंचम अंक में स्वयं ब्रह्मा जी वशिष्ठादि से कहते है कि - भवतामविदितं प्रतिभाति यत् कैकेय्याः कूटोपायेन विना रामस्य तत्पूर्वाभियोगो नाभविष्यत रामो दशरथस्य प्राणेभ्योऽपि प्रेयानभिमतः स क्षणमपि रामस्य चिरवनवासं सोढं नाशक्नोत्।[1] आदि।

आप लोगों को विदित नहीं है कि कैकेयी की योजना यदि न होती तो राम दण्डकारण्य जाते ही नहीं तब कौन रावण को परलोक भेजता और नरभक्षी राक्षसों को दूर भगाता आदि।

उस समय की स्थिति को जानने के लिये इतिहास को ज्ञात करने के लिए हमें रामायणों एवं पुराणों को पढ़ना होगा। यह सत्य है कि राक्षसों नरभक्षियों के द्वारा सामान्य मानव जाति को बहुत प्रताड़ित किया जाता था। वनों में जो तपस्वी निवास करते थे, हवन आदि पूजा पाठ में तल्लीन रहते थे उन्हें रोकने के लिए निशाचर अनेक प्रकार के बाधक उपाय करते रहते थे क्योंकि वो जानते थे यदि ऋषि मुनियों की तपस्या, आध्यात्मिक शक्ति अधिक हो जायेगी तो हमारा अस्तित्व न्यून हो जायेगा।

कैकेयी भलीप्रकार जानती थी कि मेरा पुत्र भरत श्रीराम के स्थान पर कभी राज्य को स्वीकार नहीं करेगा अतः मैं अवध का राज्य महाराज दशरथ से मांग भी लूंगी तो भी भरत गद्दी पर नहीं बैठेगा क्योंकि भरत नीतिनिपुण, सद्गुण सम्पन्न त्यागी तथा संयमी, सदाचारी, प्रेम और विनय की प्रतिमूर्ति है। वैराग्य, सत्य, तप, सौम्यता और सुहृदयता आदि गुणों के मानो वे स्वामी ही हैं जिसने भ्रातृ प्रेम को अपने हृदय में सर्वाधिक स्थान दिया हो फिर वह भाई के अधिकार पर अपना अधिकार कैसे मानेगा?भरत के विषय में ये सब बातें उस समय सर्वविदित थीं इन परिस्थितियों में माता कैकेयी का यह प्रयास कहां तक सिद्ध होगा कुछ कहा नहीं जा सकता था क्योंकि भरत का श्रीराम के प्रति प्रेम पितृतुल्य था। जब भरत ननिहाल से अवधपुरी वापस आते हैं, वहाँ के सारे समाचारों से विदित होते हैं तो रोते हुये भरत को कुछ लोगों द्वारा सान्त्वना देने तथा समझाने का जो प्रयास किया जाता है उस उत्तर में भरत स्वयं कहते हैं –

योे मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि सम्मतः।
तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याकृष्ट कर्मणः।।
पिता ही भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य जानतः।
तस्य पादौ ग्रहीष्यामि स इदानीं गतिर्मम।।[2]

अर्थात् जो मेरे भाई और बन्धु हैं जिनका मैं परमप्रिय दास हूँ और जो पवित्र कर्म करने वाले हैं उन श्रीरामचन्द्र जी को शीघ्र मेरे आने की सूचना दें। धर्म को जानने वाले श्रेष्ठ मनुष्य के लिए बड़ा भाई पिता के समान ही होता है। मैं उनके चरणों में प्रणाम करूंगा अब वे ही मेरे आश्रय हैं।

इस प्रकार से जब कैकेयी ने पूरी घटना भरत को सुनाई तो वे महान् दुःख के सागर में डूबने लगते हैं। अतः कैकेयी को यह ज्ञात था कि यह स्थिति आयेगी क्योंकि माँ अपने बच्चे (संतान) के गुणों अवगुणों सभी से परिचित होती है तो क्या-माता कैकेयी अपने पुत्र भरत की धर्मज्ञता भ्रातृ प्रेम के विषय में अनजान थी, यदि सब कुछ जानती थी तो एक माँ यह असम्भव और दुष्कर कार्य (राम को वनवास भरत को राज्य) करने हेतु विचार कैसे कर सकती है? किन्तु, कैकेयी को ब्रह्मा के आदेश का पालन करना था और राम को किसी भी उपाय से आम जनमानस और ऋषियों के कल्याणार्थ अरण्य में भेजना ही था, ब्रह्मा जी से स्वयं कैकेयी कहती हैं– ''एकोपायो देवर्षि मानवानामायोध्यकानां च सर्वेषां समं सर्वार्थसिद्धये प्रपश्यामि, महाराजेन प्राप्तं वरदानिकं क्षणेऽस्मिन् कृतार्थीक्रियेत् प्रथमेन वरेण महाराजो दण्डकारण्ये देवर्षीणां रक्षणाय कुलधुर्यं रामं नियोजयतु द्वितीयेन चायोध्यायां त्रैलोक्य धरणा मस्य यौवनपक्ष्वी मारूढस्य रघुकुलतिलकस्य रामस्य चरणपादुका अभिदिच्य भरतस्तदधीनमात्मानं व्यवस्येत्।''[3]

ये विचार किसी सामान्य स्त्री के नहीं हो सकते जो देवताओं से संवाद करे और लोक चिन्ता, राष्ट्र चिन्ता आम जनमानस की प्राण रक्षा के सम्बन्ध में अहर्निश चिन्तनशील हो वो वीराङ्गना माता कैकेयी अवश्य ही स्तुत्य तथा प्रणम्य है, जब संकल्प शक्ति किसी कार्य में पूर्ण प्रवृत्त होती है तो फिर सांसारिक निहित स्वार्थ यश अपयश ये सब क्षण भंगुर प्रतीत होते है, आवश्यकता है तो ये कि शक्ति सही दिशा। परमार्थ जैसे कार्यों में लगी हो तो सफलता अवश्य प्राप्त होती है। माता कैकेयी का यह दृढ़ संकल्प ही था कि उन्होंने राम को अवध के किले से निकालकर जनमानस और ऋषियों के दिलों में, हृदय में स्थान दिलाया, रामनाम में रमण करने वाले महर्षियों तक पहुँचाया। माता कैकेयी राष्ट्र के प्रति लोकहित भावना से

जितनी ओतप्रोत थी उतनी ही वो महान वीराङ्गना भी थी। युद्ध कौशल में निपुण थी, उन्हें यह ज्ञात था कि राम ही आतताइयों का सर्वनाश करने में सक्षम है। एक योद्धा को ही दूसरे योद्धा की शक्ति का पूर्ण ज्ञान होता है, एक स्थान पर तो स्वयं देवराज इन्द्र ने माता कैकेयी को बधाई देते हुये कहा है - ''अतिरथाया देव्याः श्रेष्ठ विक्रमोत्कर्षनिमित्तमहमत्र भवयै त्रैलोक्यवन्द्या वीराङ्गना च इत्युपाधिना।''[4]

जब देवराज इन्द्र भी त्रैलोक्य वन्द्या माता कैकेयी को कह सकते हैं तो किंचित लघु सोच के धनी कुछ लोगों का विचार कि माता कैकेयी दोषी हैं यह कैसे मान लिया जाय। राम वनवास के विषय में अन्य ग्रन्थों में भी वर्णन आता है कि माता कैकेयी का ही केवल मत नहीं था कि राम वन जायें अपितु उस समय के महापुरुषों, युग पुरुषों की भी यही मंशा थी, यहाँ तक की देवताओं ने जब सुना कि भरत राजा बन रहे हैं तो तुलसी लिखते हैं – ''धन्य भरत जै राम गुसाई कहत देव हरषित बरयाई'' (रामचरित मानस)। वहाँ देवता भी भरत को राज्य और राम को वनवास का स्वागत करते हैं; क्योंकि राम का अवतार अवध का राज्य सम्हालने के लिये नहीं हुआ। प्रथम प्राथमिकता तो आतातायियों का सर्वनाश, सन्तों के हृदय में वास। उन्हें दर्शन, यही उद्देश्य था रामावतार का, गौ, द्विज, धेनु, देव हितकारी। राम का भी यही संकल्प था। यहाँ तक कि त्रिकाल तत्त्वदर्शी स्वयं गुरु वशिष्ठ भी भरत को ही राजा के रूप में देखना चाहते हैं – ''करहु राज पद हरहु ग्लानी-मानहु मोर वचन हित जानी'' अतः प्रस्ताव कैकेयी ने रखा, किन्तु जो विद्वान हैं, ज्ञानी हैं वे सभी प्रस्ताव का समर्थन कर रहे हैं। फिर माता कैकेयी को ही अकेले दोषी कैसे कहा जा सकता है, जब संकल्प ही पूर्व से न जाने का था तो उस संकल्प में सहायता करना यश प्राप्ति का द्योतक होना चाहिए न कि अपयश? माता कैकेयी चाहती तो अवध का राज्य हमेशा के लिये माँग सकती थी, किन्तु उन्होंने वन की समय सीमा को मात्र चौदह वर्ष में आबद्ध कर दिया – ''कैकेय्यास्त्यागेनेक्ष्वाकुवंशीया प्रतिष्ठा यावच्चन्द्रदिवाकरौ प्रचीयमाना आस्ते केवलं चतुर्दशवर्षावधिकं न तु आजीवनं भरतस्य यौवराज्यं सा किमपि प्रयोजन मुद्दिश्यायाचत आदि।''[5] (कैकेयी विजयम् पञ्चमो अंक) धन्य है उस माँ का धर्मराज पुत्र जिसने संसार को यह संदेश दे दिया कि राजपद का सम्बन्ध प्रभुता से हो सकता है, किन्तु भरत जैसे भाई का सम्बन्ध प्रभुपाद से ही रहेगा, इसीलिये तुलसीदास ने लिखा है – ''भरतहि होहि न राजपद विधि हरि हर पद पाय'' अतः विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि माता कैकेयी ने पूर्ण मनोयोग से जनकल्याण की भावना से दो वरदानों में राम को वनवास तथा

भरत को राज्य माँगा था न कि अवध के राज्य की लालसा से। अतः माता और पुत्र दोनों प्रणम्य हैं। स्मरणीय है कि धन वैभव के लोभ से दोनों ही परे हैं। जो कैकेयी राम का अभिषेक संवाद सुनकर मन्थरा को हर्षित होकर दिव्य भरण देती है और कहती है यह शुभ समाचार नहीं अमृत वचन है वह कैकेयी राम को वनवास देने के विषय में कैसे सोच सकती है? वनवास से वापस आने पर स्वयं प्रसादिका बनकर बहू सीता का श्रृंगार करती है। जिसने स्वयं के श्रृंगार हेतु मन्थरा जैसी चतुर प्रसादिका रखी हो, किन्तु बहू सीता का श्रृंगार अपने हाथ से करते हुये प्रसन्न है। माँ कैकेयी- भवद्भिः श्रुतमेव कथं कैकेयी अग्रणीभूयोल्लसितमनसा सीताया आकल्पं विरचयति आजीवनं मन्थरा प्रसाधिता सा स्व मेव प्रसाधिकीभूय सीतां विभूषयति।[6]

यदि ईर्ष्या या विचार में यत्किञ्चित् कलुषिता होती तो मुखमण्डल या क्रियाकलापों से कहीं न कहीं अवश्य दर्शित होती।

इस प्रकार अनेक ग्रन्थों के अध्ययन के पश्चात् यह सिद्ध होता है कि यह सम्पूर्ण वृतान्त नाट्य मंच की तरह है, जिसमें कैकेयी अपनी पूरी जिम्मेदारी से नाटकीय अभिनय में खरी उतरती है। ब्रह्मा जी के आदेश का अक्षरशः पालन होता है, तथा यह सीख मिलती है कि संसार में भले हमारी कीर्ति न रहे, यश न रहे, हम न रहें, किन्तु यह राष्ट्र रहना चाहिये तथा निर्भय युक्त होकर मानवीय सेवा का दायित्व निर्वहन होना चाहिये, चाहे वह किसी रूप में हो, पं. रामजी उपाध्याय का यह नाटक 'कैकेयी विजयम्' सुदृढ़ राष्ट्र के लिये हमेशा प्रेरित करता रहेगा।

सन्दर्भ -

1. *कैकयी विजयम्, अंक-5*
2. *वाल्मीकीय रामायण, 2/72/32-33*
3. *कैकयी विजयम्, अंक 4*
4. *कैकयी विजयम्, अंक 5*
5. *वही, अंक 4*
6. *वही, अंक 5*

9
कैकेयी-विजय

शिल्पा सिंह

आचार्य रामजी उपाध्याय बीसवीं शताब्दी के रूपककारों में समादृत नाम है। आपने अपनी उत्कृष्ट रचनाओं से संस्कृत साहित्य जगत् को समृद्ध किया। आपने अपनी नाट्यरचना के माध्यम से महाभारत, रामायण के उपेक्षित पात्रों- शम्बूक, एकलव्य, कैकेयी के चरित्र को ऊपर उठाया है। कैकेयी-विजय नाटक, वाल्मीकि रामायण पर आधारित है। कैकेयी को दोष देना उचित नहीं है। उसने जो कुछ किया वह लोक कल्याण के लिये और ब्रह्मा के निर्देशानुसार किया।

कैकेयी-विजय नाटक पाँच अंकों का है। सम्पूर्ण नाटक कैकेयी के चरित्र पर आधारित है। इसकी कथावस्तु का मूलाधार वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड से उत्तरकाण्ड पर्यन्त कथा से है। रामायण-कथा के पात्रें में कैकेयी एक उपेक्षित पात्र रही है। आचार्य रामजी उपाध्याय ने अपनी रचना 'कैकेयी-विजयम्' नाटक में कैकेयी को मंगलमयी, वीरांगना स्त्री के रूप में महत्त्व प्रदान किया है। कैकेयी द्वारा राम को चौदह वर्ष का वनवास दिया गया इसका उल्लेख करने वाले महाकवियों के सम्प्रदाय को आचार्य उपाध्यायजी ने तीन श्रेणियों में विभक्त किया है।

प्रथम - उन महाकवियों का सम्प्रदाय है जिन्होंने अपनी रचनाओं में यह उल्लेख किया है कि मन्थरा द्वारा कहने पर कैकेयी ने राजा दशरथ से दो वरदानों के रूप में अपने पुत्र भरत को अयोध्या का सिंहासन और राम के लिये चौदह वर्ष का वनवास माँगा। इन महाकवियों में- आदिकवि वाल्मीकि, कालिदास, कुमारदास, तुलसीदास, केशवदास और मैथिलीशरण गुप्त आते हैं। द्वितीय- उन महाकवियों का समूह है जिन्होंने यह माना कि राम के वनगमन में कैकेयी की मंशा नहीं थी।

राम का वनवास कराने वाली माया कैकेयी थी जो माया दशरथ से कूट पत्र लेकर उसे राम को दिखलाकर वनगमन कराया। इन महाकवियों में - भवभूति, मुरारि और राजशेखर हैं। तृतीय- उन महाकवियों का सम्प्रदाय है, जिनका मत रहा है कि राम से अधिक स्नेह करने वाली माताओं में कैकेयी रही हैं और राम की प्राण रक्षा के लिये ही कैकेयी ने राम को दण्डकारण्य भेजवाया, इन महाकवियों में मुख्य रूप से महाकवि भास हैं। कैकेयी एक वीरांगना स्त्री के रूप में इस नाटक में दृष्टिगत होती है। 'कैकयी-विजयम्' में कैकेयी के चरित्र का प्रारम्भ कैकेयी के स्वयंवर से होता है। यहाँ उनके विवाह के लिये शब्दवेधी शरसन्धान प्रतियोगिता का आयोजन होता है जिसमें सभी राजा विफल हो जाते हैं —

चन्द्रदत्तः- आर्य, किं न विदितं भवता यद् राजकुमारी रूपेणाभिजात्येन च तमेवानन्यतमं वरं वरीतुकामा, यः शब्दवेधिशरप्रयोगेण तामतिशयीत। चले लक्ष्ये निगूढेऽपि च ध्वनिमात्रेण लक्ष्यभेदनकौशले सद्वितीयं भ्राजते लोके। तस्याः पिताश्वपतिर्धर्माधिराजो विश्वजनादर्शभूतः। तेन सुष्ठु परीक्षितं यत् प्रायशो राजकुमारेषु कश्चिदेको गुणो विलसति, किन्त्वपरद्वयस्याभावो वर्तते। प्रागेव राजधान्या- मायोजिते स्वयंवरोत्सवे शब्दवेधनैपुण्येनातिशयितास्तत्रभवत्या नानदिगन्तागता राजकुमाराः।[3]

पिता की आज्ञानुसार कैकेयी भारत-भ्रमण करते हुये अयोध्या पहुँचती हैं वहाँ नरेश दशरथ के साथ शब्दवेधी शरसन्धान प्रतियोगिता में उनको श्रेष्ठतर पा लेने पर उनका विवाह होता है। कैकेयी को उनके पिता अश्वपति ने राजनीति, धनुर्वेद और रथचर्या की उच्चकोटि की शिक्षा स्वयं दी थी। वाल्मीकि रामायण में कैकेयी के स्वयंवर का प्रसंग नहीं है। कतिपय प्रकरण ऐसे हैं जो कैकेयी-विजयम् नाटक में आचार्य रामजी उपाध्याय ने सर्वथा नये प्रसंग जोड़े हैं जो वाल्मीकि रामायण में नहीं प्राप्त होते हैं। ऐसा ही एक प्रकरण कैकेयी-विजय नाटक में उद्धृत है- श्रवण कुमार को कैकेयी के द्वारा शब्दवेधी बाण लगता है और उनकी मृत्यु हो जाती है। उसके वृद्ध माता-पिता आश्रम में थे। राजा दशरथ आश्रम में वृद्ध दम्पती को मौन धारण कर जल पिलाने की इच्छा रखते हैं। परन्तु श्रवण के माता-पिता को अनुमान हो जाता है कि यह मेरा पुत्र नहीं है। अन्ततः दशरथ बताते हैं कि उनके द्वारा अज्ञानता से उनके पुत्र की इहलीला समाप्त हो गयी है। ऋषि बताते हैं कि हम तीनों दण्डकारण्य से तीर्थयात्रा करते हुये तुमसे मिलने आये थे। दण्डकारण्य के

राक्षसों से पीड़ित ऋषियों की सुरक्षा के लिये तुम्हें सन्देश देना था। दशरथ प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं ही नहीं, मेरे पुत्र-पौत्र भी ऋषियों को पीड़ित करने वाले राक्षसों का संहार करेंगे -

दशरथः - आश्वस्तोऽत्र भवान् देवलोकं स्वपुण्येन प्रतिष्ठताम्। अहं पुनः प्राध्वं प्रतिजाने (हस्तमुद्यम्य) अतः परं सततं रघुवंशीया राजानः पुत्रपौत्रपरम्परया दुष्कृतां रक्षसां प्रणाशाय प्राणपणेन प्रवर्तिष्यन्त इति। भवतापि प्रकरणेऽस्मिन् निर्बाधं त्वरितं च फलप्राप्तये संवृत्तिर्यथासाध्यमनुवर्तनीया सर्वत्र।[4] यह घटना वाल्मीकि रामायण में भिन्न रूप में है। वहाँ ऋषि, राजा दशरथ को शाप देते हैं कि जैसे पुत्र-वियोग में मेरी इहलोक-लीला समाप्त हो रही है, वैसे ही तुम्हारी भी इहलोक-लीला समाप्त होगी –

त्वयापि च यदज्ञानान्निहतो मे स बालकः।
तेन त्वामपि शप्स्येऽहं सुदुःखमतिदारुणम्।।
पुत्रव्यसनजं दुःखं यदेतन्मम साम्प्रतम्।
एवं त्वं पुत्रशोकेन राजन् कालं करिष्यसि।।[5]

महाकवि भास के अनुसार भी इसी प्रकार का कथन है कि- केवल कैकेयी ही इसे जानती थी कि दशरथ को मुनि का शाप है कि पुत्र वियोग में उनकी इहलोक-लीला समाप्त होगी –

तेनोक्तं रुदितस्यान्ते मुनिना सत्यभाशिणा।
यथाहं भोस्त्वमप्येवं पुत्रोकाद् विपत्स्यसे।।[6]

रामायण आदि ग्रन्थों के अनुसार कैकेयी ने दो वर राजा दशरथ से माँगे। जिसमें प्रथम अपने पुत्र भरत को राजा बनाने का, दूसरा राम के लिये 14 वर्ष का वनवास। परन्तु आचार्य रामजी उपाध्याय ने कैकेयी-विजय में इस घटना का वर्णन भिन्न प्रकार से किया है – कैकेयी को स्मरण था कि दशरथ दण्डकारण्य के ऋषियों की रक्षा का प्रबन्ध करने के लिये वचनबद्ध हैं और साथ ही उन्हें अयोध्या में प्रजापालन की व्यवस्था भी करनी है। उसने देवताओं के समक्ष समस्त राजनीतिक समस्याओं के निराकरण हेतु दशरथ से दो वर माँगे और कहा कि आप पत्र द्वारा राम को दण्डकारण्य के ऋषियों की रक्षा हेतु प्रयाण करवाइये और दूसरे वर के रूप में माँगा कि राम की खड़ाऊँ का अभिषेक करके उसकी छत्रच्छाया में भरत अयोध्या में प्रजापालन करें –

कैकेयी (सवितर्कम्) - एकोपायो देवर्षिमानवानामायोध्यकानां च सर्वेषां समं सर्वार्थसिद्धये प्रपश्यामि। महाराजेन प्रत्तं वरदानिकं क्षणेऽस्मिन् कृतार्थीक्रियेत- प्रथमेन वरेण महाराजो दण्डकारण्ये देवर्षीणां रक्षणाय कुलधुर्यं रामं नियोजयतु। द्वितीयेन चायोध्यायां त्रैलोक्यधरणक्षमस्य, यौवनपदवी- मारूढस्य रघुकुलतिलकस्य रामस्य चरणपादुका अभिषिच्य भरतस्तदधीनमात्मानं व्यवस्येत्।[7]

इस प्रकार कैकेयी पर दोषारोपण की प्रेरणा का मुख्य स्रोत उसकी कूटनीतिक विलक्षणता है, जिससे उसके कार्यों और उनके कारणों का तथा उनसे सम्बन्धित परिणामों का किसी को भान तक नहीं होता है। वस्तुतः उसका मौन धारण करना ही उसे अपशब्द का भागी बनाता है। बहुत प्राचीन-काल से ही कैकेयी विषयक अपवाद से असहमत कतिपय मनीषियों ने कैकेयी के प्रति न्याय करने का प्रयास किया है। यथा वाल्मीकि रामायण में राम का अपने विषय में विशद विश्लेषण है कि मेरे वनवास के लिये दैवी विधान ही कारण है। कैकेयी को दोष देना समीचीन नहीं है। राम ने लक्ष्मण से स्पष्ट कहा था-

न लक्ष्मणास्मिन् मम राज्यविघ्ने माता यवीयस्यभिशंकितव्या।
दैवाभिपन्ना न पिता कथंचिज्जानासि दैवं हि तथा प्रभावम्।।[8]

अरण्यकाण्ड में लक्ष्मण कैकेयी को जब क्रूरदर्शिनी कहते है तो राम उन्हें समझाते हैं —

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन।[9]

रामायण में कहीं-कहीं पर राम ने स्वयं कैकेयी को निर्दोष बतलाया है। एक प्रसंग में जब चित्रकूट में भरत, राम से कहते हैं कि मेरी माता को आपका अभिषेक नहीं रोकना चाहिये था और न आपका वनगमन होने देना चाहिये था। तब राम ने उन्हें शान्त करते हुये कहा था- तुम्हारे पिता ने कैकेयी से अपने विवाह के लिये तुम्हारे नाना को वचन दिया था कि कैकेयी का पुत्र राजा बनेगा-

पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्वहन।
मातामहे समाश्रौषीद्राज्यशुल्कमनुत्तमम्।।[10]

महाकवि भास ने भी कैकेयी के स्वभाविक सदाशयता को स्पष्ट किया है। राम स्वयं कैकेयी द्वारा प्रवर्तित वनगमन के आदेश को शिरोधार्य करते हुये कहते हैं - कैकेयी द्वारा प्रवर्तित मेरे वनवास की योजना अवश्य ही गुणशालिनी होगी। वे मर्यादा भ्रष्ट जैसा कोई कार्य नहीं करेंगी? —

रामः - किमम्बायाः। तेन हि उदर्केण गुणेनात्र भवितव्यम्।

फले कस्मिन् स्पृहा तस्या येनाकार्यं करिष्यति।।[11]

एक दूसरे स्थान पर आचार्य रामजी उपाध्याय जी ने कैकेयी को निर्दोष बतलाने हेतु महाकवि भास का उद्धरण देते हुये प्रतिमानाटक की यह उक्ति प्रस्तुत करते हैं कि- कैकेयी चिरनिगूढ रहस्योद्घाटन करती है कि दशरथ को मुनि का शाप था कि तुम मेरी ही भाँति पुत्र-शोक में मृत्यु को प्राप्त होगे। तब तो स्वयं को अपराधिनी बनाते हुये भी मैंने प्रिय पुत्र राम को वन में भेजवाया, राज्य के लोभ से ऐसा नहीं किया। ऐसा किये बिना मुनि के शाप से छुटकारा नहीं मिल पाता -

कैकेयी - जात एतन्निमित्तमपराधे मां निक्षिप्य पुत्रको रामो वनं प्रेषितः, न खलु राज्यलोभेन। अपरिहरणीयो महर्षिशापः पुत्रविप्रवासं विना न भवति।।[12]

आचार्य रामजी उपाध्याय ने कैकेयी-विजय नाटक में कैकेयी को उदारहृदया बतलाया है। वह समाज द्वारा बारम्बार लाच्छन लगाये जाने, अपमानित किये जाने पर भी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करती है और न ही निन्दकों के प्रति क्रूर व्यवहार करती है। कैकेयी-विजय में स्पष्ट है कि राम को वनगमन कराने में उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं, वह हृदय से राम का अमंगल नहीं सोचती थी। उपाध्याय महोदय का कथन था कि – ''कैकेयी साहित्य के उन कतिपय व्यक्तियों में प्रमुख हैं, जिन्हें समझने और समझाने में प्रायः भ्रान्ति हुयी है। उसका सबसे बड़ा अपराध माना जाता है कि उसने विश्व के सर्वोत्तम और सर्वप्रिय चरितनायक राम को उनके राज्याभिषेक के अवसर पर वन भेजवा दिया, जिससे राजपरिवार और प्रजा पर निस्सीम शोक लहरी व्याप्त हुयी।[13]

प्रस्तुत नाटक के अनुसार कैकेयी की आत्मा, सुशील और दयामय है। वह कर्तव्य-पथ पर राम को वन भेजते समय, सीता को चीर पहनाते समय और दशरथ को देवलोकवासी बनाते समय अश्रु नहीं प्रवाहित करती, वह ब्रह्मा के द्वारा निर्दिष्ट पथ से विचलित नहीं होती –

ब्रह्मा स्वकार्यं निर्बाधं सम्पादयितुमियेष। एतदर्थं स मन्थराया दौत्येन राजपत्नीं कैकेयीं समादिशत्- 'देशहितं लोकहितं चावेक्ष्यात्रभवती मम कार्यभरं युक्तियुक्तं निर्वहतु। नान्योऽपरः कश्चित् प्रकरणेऽस्मिन् समर्थ इति। कैकेयी ब्रह्मादेशस्य सम्यङ् निर्वहणेन कृतकार्या बभूव। रामो महापराक्रमेण देवर्षीनरक्षत्।[14]

कैकेयी के कार्यशक्ति और अवदान से सभी प्रभावित थे। कैकेयी स्वयं के मन से ऐसा कोई कार्य नहीं करती, जिससे उसके उदात्त कुल की मर्यादा पर कलंक लगे। आचार्य रामजी उपाध्याय स्पष्ट करते हैं कि- ऐसा ही कोई व्यक्ति होगा जो राम के वनगमन से आहत होकर कैकेयी की निन्दा न किया हो। ऐसा होना भी स्वाभाविक था। वनगमन की पूर्व भूमिका और तत्सम्बन्धी निगूढ़ शड्यन्त्र सार्वलौकिक कर दिये गये होते तो कैकेयी को जनाक्रोश न सहन करना पड़ता। कथावस्तु-विन्यास की कला को दृष्टि में रखते हुये घटनाओं और तथ्यों को इस प्रकार विलम्ब से सार्वलौकिक किया गया कि जनाक्रोश प्रज्ज्वलित हुआ और कैकेयी की निन्दा करने का पूर्ण अवसर कवियों और सर्वसाधारण को प्राप्त हुआ।

कैकेयी-विजयम् नाटक में कैकेयी की विजयगाथा का वर्णन आचार्य उपाध्याय ने किया है। उन्होंने स्पष्ट किया कि - कैकेयी सती-साध्वी और सर्वगुण-सम्पन्न स्त्री रत्न थी, जिसकी योग्यता से प्रभावित होकर ब्रह्मा ने उसे अपनी लोकहित-योजना को कार्यान्वित करने का भार दिया था। प्रस्तुत नाटक में यथानाम कैकेयी की चारु चरितावली प्रधानतः सुशोभित है।

आचार्य रामजी उपाध्याय की रचना का मुख्य उद्देश्य पाठक या प्रेक्षक को भारत की सांस्कृतिक धारा में अवगाहन कराना है। प्रस्तुत नाटक के सभी कथापुरुष यथासम्भव मन, वचन और कर्म से सुसम्पन्न हैं। कैकेयी-विजयम् नाटक का सर्वसंगत अभिप्राय व्यंजनागम्य बतलाया है। आचार्य उपाध्याय ने कहा- यह भारतीय राष्ट्र और समाज की सुरक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

सन्दर्भ –

1. *दशरूपक 1/6, लोकमणि दाहाल, चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् 1987*
2. *नाट्यशास्त्र 1/114, पण्डित केदारनाथ 'साहित्याभूषण', प्रकाशक-निर्णय सागर प्रेस (बम्बई), 1943 ई.*
3. *कैकेयी-विजयम्, अथ विष्कम्भकः, पृ. 4, रामजी उपाध्याय, प्रकाशक चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1999 ई.*
4. *कैकेयी-विजयम्, द्वितीयोऽङ्कः, पृ. 14, रामजी उपाध्याय, प्रकाशक चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1999 ई.*

5. श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण, अयोध्याकाण्ड, 64/53, 54, गीताप्रेस, गोरखपुर
6. महाकवि भास प्रणीत प्रतिमानाटकम् 6/15, आचार्य जगदीश्षचन्द्र मिश्र, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2005 ई.
7. कैकेयी-विजयम्, चतुर्थोऽङ्कः, पृ. 21, रामजी उपाध्याय, प्रकाशक, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1999 ई.
8. श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण, अयोध्याकाण्ड, 22/30, गीताप्रेस, गोरखपुर
9. श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण, अरण्यकाण्ड, 16/37, गीताप्रेस, गोरखपुर
10. श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण, अयोध्याकाण्ड, 107/3, गीताप्रेस, गोरखपुर
11. महाकवि भास प्रणीत प्रतिमानाटकम् 1/13, पृ. सं. 38, 39, आचार्य जगदीशचन्द्र मिश्र, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2005 ई.
12. महाकवि भास प्रणीत प्रतिमानाटकम् षष्ठोऽङ्कः पृ.193, आचार्य जगदीशचन्द्र मिश्र, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2005 ई.
13. कैकेयी-विजयम्, आमुख, पृ. 24, रामजी उपाध्याय, प्रकाशक, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1999 ई.
14. कैकेयी-विजयम्, अथ प्रस्तावना, पृ. 31, रामजी उपाध्याय, प्रकाशक, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1999 ई.

10
यशस्विनी कैकेयी

कृष्णा जैन

कैकयी की विजय गाथा को ही नाटक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कैकेयी जब स्वयंवर प्रतियोगिता के लिए अयोध्या पहुँचती है तो महर्षि वशिष्ठ भी कैकेयी के व्यक्तित्व की झाँकी इन शब्दों के माध्यम से दिखाते हैं —

वशिष्ठः - (सप्रसादम्)

देव, अहमिदानीन्तन - ग्रहयोगेन प्रपश्यामि यत् कुमारीतल्लजकैकेयी त्रिलोकस्योत्कर्षापकर्षप्रकरणेषु बहुलभूमिकां विधिवशान्निर्वक्ष्यति। साम्प्रतं हि सर्वकषा भगवती भवितव्यतैव।[1]

अर्थात् ऋषि वशिष्ठ कहते हैं कि आज की मैत्री ग्रह गणना के अनुसार इस प्रतियोगिता में सफलता तो आपको ही मिलेगी किन्तु कन्यापक्ष सदा प्रबल रहेगा। यदि कभी अयोध्या के उत्कर्षापकर्ष का समय आया तो कैकेयी विषम परिस्थितियों का कारक और निवारक भी बनेगी। ऐसी इसकी योग्यतायें हैं।

महर्षि वशिष्ठ की यह भविष्यवाणी भी कैकेयी के व्यक्तित्व को स्पष्ट रूप से अयोध्या में विषम परिस्थिति का कारक और निवारक का कारण घोषित करती है जो आगे के अंकों में प्रतिफलित हुई है।

कैकेयी शब्दबेधी शर सन्धान में निपुण थी और स्वयंवर द्वारा वह ऐसे ही वर की खोज में थी जो केवल रूप और अभिजात्य में ही श्रेष्ठ न हो, अपितु शरसन्धान में भी उनसे बढ़चढ़कर हो। यह बात चन्द्रदत्त के कथन से स्पष्ट होती है। उसी खोज में अयोध्या के सम्राट दशरथ को ही श्रेष्ठ धनुर्धर पाकर कैकेयी स्वयंवर प्रतियोगिता आयोजित की जाती है।

कैकेयी और राजा दशरथ जब सरसन्धान करती है तो राजा दशरथ का वाण सिंह को और कैकेयी का वाण विचलित होकर मुनि श्रवण कुमार को लगता है। पराजित होकर भी वह स्वयंवर के उद्देश्य की पूर्ति में सफल होती है।

कैकेयी भाग्य चक्र पर भी भरोसा करती है। वह कहती है - भाग्यचक्रमेतादृशे वैषम्ये सर्वान् नियमयति। तथापि लोकस्य गतिः परोवरीणं परिवर्तमानान्ततः परिमोहनं परिणमति।[2]

तृतीय अंक में कैकेयी की राजनीतिक दक्षता का चित्रण करते हुए जनपद एवं परराष्ट्र की चिन्ता स्वयं कैकेयी के माध्यम से स्वगत के रूप में वर्णित है। वह अन्तः पुर, राजधानी, जनपद एवं परराष्ट्र की देखरेख के लिए चिन्तित है। व्यस्त होने के कारण ही भरत को प्रशिक्षण के लिए मामा के पास भेजा है। उत्तर भारत तो ठीक है पर दक्षिण भारत में परिस्थितियाँ विषम हैं। राक्षसों के अत्याचार की सूचना ऋषियों के प्रतिनिधि मण्डल ने राम को दी है। दक्षिण भारत में ऋषियों की रक्षा के लिए सेना भेजी जाय या कोई राजकुमार इसका निर्णय मन्त्रिपरिषद और महाराज का परामर्श ही उपादेय है।[3]

एक अन्य स्वगत में वह देवराज इन्द्र और राजा दशरथ के परस्पर सहयोग से देवलोक और मानवलोक की राजनीतिक समस्याओं के समाधान की बात करती है - महेन्द्रस्तु महाराजस्य सखा। एतयोर्द्वयोः सहोद्योगेन देवलोक-मानवलोकयो राजकृत्यानि निर्वाह्यन्ते।[4]

तृतीय अंक में जब इन्द्र के आग्रह पर राजा दशरथ देवलोक जाने लगते हैं तो वशिष्ठ घबराकर पूछते हैं कि यह तो बताते जायें अपनी अनुपस्थिति में अयोध्या के दैनन्दिन शासन के लिये किसे नियुक्त किये जा रहे हैं। दण्डकारण्य से आया हुआ प्रतिनिधि मण्डल ऋषियों की रक्षार्थ राम को मांग रहा है। तब दशरथ कैकेयी में विश्वास प्रकट करते हुए कहते हैं कि मन्त्रिपरिषद् राम और कैकेयी के परामर्श से इन समस्याओं से निपटने का उपाय कार्यान्वित करे।[5] और स्वयं राजा दशरथ इन्द्र के सहायतार्थ देवलोक प्रस्थान के लिए उद्यत होते है।

लेकिन कैकेयी देवासुर महायुद्ध में राजा की सुरक्षा के लिए साथ चलने का आग्रह करती है जिसको राजा स्वीकार करते हैं और कैकेयी को परामर्श का उल्लेख करते हुए दशरथ कहते हैं —

कैकेयी ने अपने युद्ध कौशल से देवासुर संग्राम में दशरथ के प्राण बचाये थे इस प्रसंग को राजा दशरथ स्वयं इन शब्दों में व्यक्त करते हैं -

जब दानवराज ने हमारे रथ के सारथि को क्षत विक्षत कर दिया था तब तुमने सारथि के आसन पर बैठकर पैर की अंगुलियों से रथ संचालन किया और

हाथ से शब्दवेधी शरसन्धान अविरल गति से करती रही। असुर गण मूक दर्शक बने रहे। तुमने तो कभी मुझे अपने इस कौशल के विषय में बताया ही नही था। कैकयी कहती है कि जैसे कठपुतली नचाने वाला पैर की अंगुलियों से उसके अंग प्रत्यंग को संचारित करता है, वैसे ही मैं घोडों को लगाम के द्वारा पैर की अंगुलियों से गति का संकेत करती रही। यह विद्या मैंने पिताश्री से सीखी थी, उसी के बल पर आज असुर परास्त हुए।[6]

तदा कम्पमान शरीरोऽहं किंकर्तव्यविहवलोऽभवम। सारथिविहीन रथेनायोधनं न पार्यते। अपिचावयोर्जीवनस्याद्यतनदिवसोऽन्तिम इत्याशंक्य हतोत्साहोऽभवम्। अकाण्डपात आसीत्तदात्रभवत्या सारथ्यासनमधिष्ठाय पादांगुलि संकेतेनाश्ववल्गा संचारणम्। अपि च हस्ताभ्यां चाविरलं शब्दवेधिशरवषरसुरा झटिति सहस्रशो यमसात् कृताः। इतस्ततः कक्षेषु निगूढा अप्यसुरा लक्षीकृताः प्रभंशिताश्च। तदा शरप्रयोगपरांमुखास्ते मूकदर्शकायन्तेस्म। नैषालौकिकी पद्भ्यां रथचर्या देव्या मह्यम् चर्चिता।[7]

इस विजय पर देवराज इन्द्र राजा दशरथ एवं कैकेयी के युद्धकौशल की प्रशंसा करते हैं। तब दशरथ कहते हैं कि विजय के लिए देवी कैकयी का स्थान अद्वितीय है। इन्द्र देवी कैकेयी का विक्रमोत्कर्ष देखकर त्रैलोक्य की सर्वश्रेष्ठ वीरांगना के नाते बधाई देते हैं। प्रसन्न होकर राजा दशरथ कैकेयी को दो वर देते हैं प्रथम पैर की अंगुलियों से रथ संचालन करने के लिए और द्वितीय साथ ही साथ हाथों से वाण वर्षा करने के लिए।

ब्रह्मा भी कैकेयी को राजतन्त्र में विशेष प्रवीण मानते हुए कहते हैं कि अयोध्या की स्थानीय परिस्थिति को आप जानती हैं। इस सम्बन्ध में आपकी अवधारणाओं से अवगत होकर ही हम सभी कोई निर्णय ले सकते हैं।

कैकयी के दो वर संस्कृत साहित्य शास्त्र में प्रसिद्ध हैं। उनके द्वारा मांगे गये वर ने ही उनके चरित्र को, उनके व्यक्तित्व को मलिन किया है लेकिन आदरणीय उपाध्याय जी ने उस मलिनता को दूर करने का प्रयास कर उनके व्यक्तित्व को उज्ज्वलता प्रदान की है। उन दो वरों का उपयोग कैकेयी ने स्वार्थवश, पुत्र प्रेम के वशीभूत होकर नहीं किया अपितु लोकहित के लिए किया। वह ब्रह्मा से कहती हैं - मुझे तो ऋषियों, देवताओं और मानवों की सुचारू व्यवस्था के लिए एकमात्र यही उपाय दिखाई देता है कि महाराज ने हमें अभी - अभी जो दो वर दिए

हैं उनको लोकहित के लिए भुना लूँ। पहले वर से महाराज आदेश दें कि राम और लक्ष्मण के सशक्त हाथों में दण्डकारण्य के ऋषियों की सुरक्षा का भार रहे। दूसरा वर दें कि विनयी भरत युवराज बनकर अयोध्या में विनयाधान करें -

महाराजेन प्रदत्तं वरदानिकं क्षणेऽस्मिन् कृताथीक्रियेत। प्रथमेन वरेण महराजा दण्डकारण्ये देवर्षीणां रक्षणाय कुलधुर्यं रामं नियोजयितु। द्वितीयेन चायोध्यायां त्रैलोक्यधरणक्षमस्य, यौवनपदवीमारूढस्य रघुकुलतिलकस्य रामस्य चरणपादुका अभिषिच्य भरतस्तदधीनमात्मानं व्यवस्येत्।[8]

यहाँ पर कैकयी का अलग ही रूप देखने को मिलता है जबकि बाल्मीकि रामायण में भी भरत को युवराज बनाने के उद्देश्य से ही अयोध्या के राज्य मांगने का उल्लेख है -

एवं मे परमः कामो दत्तमेव वरं वृणे।
भरतो भजतामद्य यौवराज्यमकण्टकम्।।[9]

परन्तु इस नाटक में कैकेयी अलग ही रूप में प्रस्तुत होती हैं। वह अपने दो वर का उपयोग लोकहितार्थ करती हैं। ब्रह्मा की साक्षी में वर मांगती हैं। राम और लक्ष्मण को ऋषियों की सुरक्षा हेतु दण्डकारण्य का भार सोंपती हैं। भरत अयोध्या में ही रहकर विनयाधन करे लेकिन अभिषेक राम की खड़ाऊँ का हो।

दशरथ की सहमति एवं ब्रह्मा की स्वीकृति से यह वर मान्य किये गए। दशरथ कैकेयी से कहते हैं कि - आपके मांगे दोनों वरों को सबके हित के लिए अभीष्ट मानता हूँ। अतः आप अयोध्या पहुँचकर इस आदेश के अनुसार योजना को सर्वसम्मति से कार्यान्वित करें। मेरी मानव लोकलीला समाप्त हुई अब मेरा कार्यक्षेत्र देवलोक होगा। यही विधाता का विधान है। गुरू वृहस्पति ने भी इन्द्र को यही परामर्श दिया था।

राजशेखर के बालरामायण में भी दशरथ इहलोक लीला समाप्त करके अपने सखा इन्द्र के सिंहासन पर बैठने का उल्लेख है।[10]

संस्कृत साहित्य में कैकेयी के जिन दो वरों के कारण उसको स्वार्थिनी, पापिनी आदि जाने क्या क्या निकृष्ट वचनों से लज्जित किया गया है वहीं आदरणीय उपाध्याय जी ने उन दो वरों के उद्देश्य को ही परिवर्तित कर कैकेयी के व्यक्तित्व को निष्कलुष एवं निर्मल बनाया है। स्वार्थपूर्ण चरित्र का जो कलंक उनके माथे पर लगा था उसको धोकर लोक की चिन्ता में संलग्न कर दिया है। और उस पर दशरथ एवं ब्रह्मा के समक्ष स्वीकृति भी दिलवाई है।

राम की खडाऊँ के अभिषेक का प्रस्ताव कर वह राम के प्रति वनगमन के कलंक से भी मुक्त हुई और लोकहितार्थ ऋषियों की रक्षा का कार्य भार सोंपकर ऋषि रक्षा एवं संरक्षण की सहभागिनी बनी। यहाँ पर जग में व्याप्त कैकेयी के कोपभवन की बात को भी धूमिल कर दशरथ के समक्ष, ब्रह्मा के समक्ष उनके द्वारा सलाह मांगने पर कैकेयी द्वारा दो वरों का प्रस्ताव लोकहितार्थ किया गया।

पंचम अंक में श्रियंकर के संवाद में कैकेयी की राजनीतिक पटुता और राजसंचालन कौशल की स्पष्ट ध्वनि सुनाई देती है। वह कहता है कि हम दस राजदूत देवी कैकेयी के अधीन नियुक्त हैं। प्रति सप्ताह हममें से एक राजभवन, नगर और जनपद विषयक पत्र देवी कैकेयी के द्वारा लिखा हुआ दण्डकारण्य के श्री राम के पास पहुँचता है। उधर से स्थानीय प्रवृतियों के विषय में सीता का लिखा पत्र लाकर देवी कैकेयी को देता हूँ।[11]

इससे तो स्पष्ट रूप से प्रतिबम्बित होता है कि कैकेयी प्रति सप्ताह का प्रतिवेदन, सूचना श्री राम को भेजती थी और उनकी सलाह लेती थी। सीता से भी पत्र संवाद लगातार जारी रहता था।

कैकेयी के द्वारा अयोध्या की चतुंरगिणी सेना लंका से सीता को बचा लाने के लिए भेज दी गयी थी। राम वन में निवास करते हुए मुनि-जीवन से इतने प्रसन्न थे कि वह अयोध्या नहीं लौटना चाहते थे। उन्होंने इसकी सूचना पत्र द्वारा कैकेयी को दी थी। लेकिन कैकेयी ने इस पत्र के जबाब में जो पत्र लिखा वह कैकेयी के राम के प्रति प्रेम हृदय को प्रकट करने वाले स्वर हैं। उन्होंने राम के वियोग से सन्तप्त परिवार, पुरवासी और जनपद के लोगों की चर्चा करते हुए लिखा कि ये सभी तुम्हारे दर्शन के लिए उत्कण्ठित हैं। आगे लिखती हैं कि ‘‘भरत नन्दीग्राम में रहते हुए जीवन के प्रति अनासक्त है उसने चित्रकूट से प्राप्त तुम्हारी खड़ाऊँ की छत्रछाया में तुम्हारे समान 14 वर्ष तपस्वी जीवन बिताया है। यदि शीघ्र अयोध्या नहीं लौट आते हो तो भरत अपनी इहलोक लीला समाप्त कर देगा।[12]

कैकेयी के पत्र में उल्लिखित यह उद्‌गार यह व्यक्त करते हैं कि वह कितनी व्यग्रता से राम की प्रतीक्षा कर रही थी। उन्हीं के द्वारा राम के चिर अभिलिषित अभिषेक का आयोजन किया गया। जब सभी देवता अभिषेक के अवसर पर ब्रह्मा की स्तुति करने लगते हैं तो ब्रह्मा का यह कथन कैकेयी का अभिनन्दन करता है - कदाचित् आप लोगों को यह ज्ञात नहीं है कि आपका अभीष्ट सिद्ध करने में मुझसे बढकर देवी कैकेयी का सहयोग अभिनन्दनीय है।[13]

वशिष्ठ जब आश्चर्य चकित होकर कहते हैं कि कैकेयी ने तो राम का वनवास कराया है तब ब्रह्मा उनकी संतुष्टि के लिए कहते हैं - क्या आप लोगों को विदित नहीं है कि कैकेयी की योजना यदि न होती तो राम दण्डकारण्य जाते ही नहीं। तब कौन रावण को परलोक भेजता और नरभक्षी राक्षसों को दूर भगाता। उनके दण्डकारण्य प्रमाण के लिए कैकेयी को वर रूप में दशरथ का आदेश कूटनीति से प्राप्त करना पड़ा। अन्यथा राम को उनकी माताएँ और पुरवासी कहीं वन जाने देते। वशिष्ठ के यह कहते ही कि कैकेयी ने तो भरत को राजा बनाने के लिए किया। ब्रह्मा पुनः उनकी शंका को निर्मूल करते हुए स्पष्ट करते हैं कि - कैकेयी का त्याग उसके इक्ष्वाकु वंश की प्रतिष्ठा बनाये रखने में दिखाई देता है उसने भरत के लिए यौवराज्य केवल 14 वर्षों के लिए मांगा। क्या वह भरत के लिए आजीवन राजपद नहीं मांग सकती थी। कैकेयी राम की सफलताओं के लिए सदा चिन्तित रही। उसने अयोध्या से सेना भेजी, जिससे राम को लंका में अनायास विजय मिली।

कैकेयी को अभिनन्दन पूर्वक बधाई देते हुए कैकेयी की आंख में आंसू देखकर ब्रह्मा कहते हैं - कैकेयी आज तुम्हारी आंखों में आंसू कैसे? आज तो तुम्हारे चिर अभिलषित राम का अभिषेक दिवस है।

कैकेयी सिसकते हुए अपनी दयार्द्र स्थिति को प्रकट करती हुई कहती हैं - भगवन् इन आंसुओं को कई बार में बिना गिराये मैं पी चुकी थी। जब राम को वनवास दिया, जब सीता को चीरवासिनी बनाया, और जब पतिदेवता को देवलोक में प्रतिष्ठापित करके प्रोषित पतिका हुई। यह सब आपके आदेश से किया गया। चिरकाल से अपयश, अपयश और अपयश मेरे भाग्य में आपने लिख रखा है।

ब्रह्मा इसका कारण बताते हुए कहते हैं- हे देवि जिस पर मेरी सर्वाधिक कृपा होती है, उससे अधिक से अधिक लोकहित कराने के लिए नियुक्त कर देता हूँ। फिर यदि वह यश के चक्कर में पड़े तो काम क्या करेगा? उसका जीवन तो तपस्वी का जीवन होना ही चाहिए। रही तुम्हारे अपयश की बात। आज से तुम्हारा सारा अपयश मैने हर लिया। भविष्य में आदि कवि बाल्मीकि राम की यशोगाथा लिखेंगे उसमें वे तुमको यशस्विनी सम्बोधित करेंगे तुम्हें और क्या चाहिए।अंत में नाटक का सुखान्त कैकेयी द्वारा ही पढ़े गए इस भरत वाक्य से होता है —

रामो मे मिलतात् समश्चलभतां रामं जगज्जीवनाम्।
लब्धं देव मया समं वितरताद् दिव्यं वरं वांछितम्।।

सर्वः सर्वशुभंकरः प्रभवतात् सर्वोदयो दृश्यताम्।
सीताराममयं जगत् प्रणयतात् सर्वस्य सर्वोत्तमम्।।

अर्थात् जैसे मुझे राम मिले ऐसे ही सबको राम मिले। वरदान दें सभी सबका हित करें ताकि सर्वोदय हो। सभी सीता-राममय बने जिससे जीवन की पूर्णता हो।[14]

इस प्रकार कैकेयी-विजय नाटक में आदरणीय उपाध्याय जी ने कैकेयी के अपयश को यश में परिवर्तित कर ब्रह्मा के मुख से उसे यशस्विनी कहे जाने की घोषणा की। प्रस्तुत नाटक में कैकेयी द्वारा किए जाने वाले सारे आयोजन लोकहितार्थ ही हुए है तो कहाँ वह अपयश की भागिनी बन सकती है।

उपाध्याय जी ने वशिष्ठ द्वारा प्रश्न चिह्न खड़ा किये जाने पर स्वयं ब्रह्मा जी से उसका समाधान कराकर कैकेयी के उज्ज्वल चरित को निरूपित किया। इन्द्र ने कैकेयी का अभिनन्दन किया है। ब्रह्मा द्वारा लोक हित के लिए किये गए कार्यों में उसको सहयोगी बनाया गया। पग पग पर कैकेयी द्वारा किये गए कार्यों से कैकेयी की यशोगाथा ही प्रतिबिम्बत हो रही है।

कैकेयी चिरकाल से प्राप्त अपयश से दुःखी है लेकिन ब्रह्मा उसका अपयश हरण कर उसे यशस्विनी होने की घोषणा करते हैं। इस प्रकार कैकेयी को सन्तुष्ट करते हैं। कैकेयी स्वयं सर्वोदय की कामना करती हुई सीता राममय जीवन में ही जीवन की पूर्णता को स्वीकारती है।

सन्दर्भ –

1. *कैकेयी विजयम् अंक प्रथम पृ. 6,*
2. *वही, अंक प्रथम पृ. 10*
3. *वही, अंक तृतीय पृ. 15,*
4. *वही, अंक तुतीय पृ. 16*
5. *वही, अंक तृतीय पृ. 18,*
6. *वही, अंक चतुर्थ पृ. 18*
7. *वही, अंक चतुर्थ पृ. 19,*
8. *वही, अंक चतुर्थ पृ. 47*
9. *बाल्मीकि रामायण अयोध्याकाण्ड 11, 27, 28*
10. *बालरामायण 9/72*
11. *कैकेयी विजयम् अंक पंचम पृ. 49*
12. *वही, अंक पंचम पृ. 54*
13. *वही, अंक पंचम पृ. 56*
14. *वही, अंक पंचम पृ. 32*

11

कैकेयीविजयम् : नाट्यशास्त्रीय समीक्षा

कविता कुमारी मीणा

नाट्य को आचार्य भरतमुनि द्वारा त्रैलोक्य अर्थात् तीन लोकों के भावों का अनुकीर्तन[1], आचार्य धनञ्जय रामादि अवस्थाओं का अनुकरण[2], अभिनवगुप्त द्वारा रसस्वरूप[3] (नाट्य ही रस है) कहा गया है। नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक एवं ईहामृग आदि नाट्य के दस भेद माने गए हैं।[4] वस्तु , नेता एवं रस को इनके भेदक तत्त्व कहे गए हैं।[5] उपर्युक्त तत्त्वों को नाट्य के प्रमुख तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। इनको आधार बनाकर विभिन्ना आचार्यों द्वारा नाट्यों की रचना की जाती रही है। आचार्य रामजी उपाध्याय द्वारा भी विभिन्न नाटकों की रचना की गयी है। जिनकी उपर्युक्त तत्त्वों के आधार पर समीक्षा की जानी आवश्यक है।

आचार्य धनंजय द्वारा इतिवृत्त को नाट्य का शरीर कहा गया है।[6] इसके तीन भेद माने गए हैं - प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र। इतिहास, पुराण आदि से लिया गये इतिवृत्त को प्रख्यात, कविकल्पित इतिवृत्त को उत्पाद्य तथा प्रख्यात और उत्पाद्य दोनों के समन्वित रूप को मिश्र इतिवृत्त कहा गया है।

आचार्य धनञ्जय द्वारा फल की दृष्टि से इतिवृत्त के पुनः भेद किए गए हैं - अधिकारी द्वारा फल प्राप्ति तक निर्वहित आधिकारिक इतिवृत्त[7] एवं आधिकारिक वृत्त की सिद्धि हेतु प्रसंगतः आने वाला प्रासंगिक इतिवृत्त।[8] आधिकारिक को नाट्य का मुख्य तथा प्रासंगिक को अमुख्य इतिवृत्त कहा गया है।[9] इनमें प्रासंगिक इतिवृत्त के पताका तथा प्रकरी नामक भेद माने गए हैं। जो प्रासंगिक इतिवृत्त प्रधान वृत्त के फल प्राप्ति तक चले वह पताका तथा कुछ समय तक प्रधान वृत्त के साथ चले वह प्रकरी कहलाता है।[10] आधिकारिक इतिवृत्त का फल अथवा कार्य त्रिवर्ग (धर्म ,

अर्थ, और काम) माना गया है। इसके विकास में सहायक अर्थप्रकृतियों के पांच भेद किए गए हैं - बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। कार्य को सिद्ध करने वाला हेतु बीज कहलाता है जो प्रारम्भ में सूक्ष्म किन्तु बाद में वृक्ष के समान विस्तृत होकर नाटक आदि का रूप धारण कर लेता है।[11] उपर्युक्त बीज के अनेक भेद होते हैं। इनमें अवान्तर कार्य के बीज को बिन्दु कहा गया है, जो कथावस्तु के अवान्तर अर्थ के विच्छेद होने पर उपस्थित होकर उसको बिन्दु के समान जोड़ देता है अर्थात् कथा को आगे बढ़ाता है। फल अथवा कार्य के आधार पर कथावस्तु का उपसंहार किया जाता है।

रामजी उपाध्याय के सभी नाटकों में प्रख्यात इतिवृत्त का प्रयोग किया गया है। इनमें कैकेयीविजयम्, सीताभ्युदयम्, एवं शम्बूकाभिषेक आदि नाटक की कथावस्तु रामायणाश्रित है और अशोकविजयम् , नन्दगौतमीयम् आदि नाटकों का कथानक इतिहासाश्रित है।

रामजी उपाध्याय के नाटकों में अर्थप्रकृतियों का सफल प्रयोग किया गया है। कैकेयीविजयम् नाटक का फल है कैकेयी के उदात्त चरित्र को संसार के समक्ष प्रस्तुत करना। इस फल का हेतुभूत बीज नामक अर्थप्रकृति का प्रयोगनाटक की प्रस्तावना (देशहितं लोकहितं .... समर्थ इति') में किया गया है। कैकेयी स्वयंवर की घटना से कथा विच्छिन्न सी हो जाती है तब द्वितीय अंक में दशरथ द्वारा प्रतिज्ञा की गयी है जो कथा को आगे बढ़ाने में सहायक होती है अतः यह नाटक की बिन्दु नामक अर्थप्रकृति प्रतीत होती है। रामकथा का वृतान्त पताका नामक अर्थप्रकृति प्रतीत होती है, जो नाटकान्त तक प्रधान फल की प्राप्ति तक रहता है। श्रवण कुमार का वृत्त प्रकरी नामक अर्थप्रकृति प्रतीत होती है। इसी प्रकार पंचम अंक में ब्रह्माजी के वचनों में कार्य नामक अर्थपकृति को देखा जा सकता है।

फल की इच्छा वाले नायकादि के द्वारा प्रारब्ध कार्य की पाँच अवस्थाएँ हैं — आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम।[12] फल प्राप्ति के लिए नायकादि में इच्छा तथा उसके प्रति उत्सुकता मात्र ही आरम्भ अवस्था होती है। फल प्राप्ति के लिए की गयी चेष्टा प्रयत्न, उसकी प्राप्ति में उपाय एवं अपाय की आशंका के कारण फल प्राप्ति के विषय में ऐकान्तिक निश्चय नहीं हो पाना प्राप्त्याशा तथा विघ्नों के अभाव के कारण फल की प्राप्ति निश्चित होने पर नियताप्ति अवस्था और समस्त फलों की प्राप्ति ही फलागम नामक कार्यावस्था कहलाती है। कैकेयीविजयम् नाटक में वर्णित अवस्थाओं को इस रूप में देखा जा सकता है —

इस नाटक में कार्य की आरम्भ नामक अवस्था मुनि वशिष्ठ के वचनों (सप्रसादम्, देव, अहमिदानीन्तनग्रहयोगेन ......इति मादृशामाशंसा।)[13] में दिखाई देता है। तृतीय अंक में कैकेयी के वचनों को प्रयत्न नामक कार्य अवस्था के रूप में देखा जा सकता है।[14] कैकेयी द्वारा मांगे गए वरोंर की घटना प्राप्त्याशा कार्यावस्था प्रतीत होती है।[15] कैकेयीविजयम् में ब्रह्मा का कथन 'अभीष्ट सिद्धि (विश्वशान्ति) के लिए मुझसे भी बढकर कैकयी का सहयोग अभिनन्दनीय है' यहां फल प्राप्ति लगभग निश्चित प्रतीत होती है अतः नियताप्ति कार्यावस्था है।[16] पंचम अंक में ब्रह्मा द्वारा किया गया है आज से तुम्हारा सारा अपयश मैंने हर लिया है भविष्य में वाल्मीकि रामायण की रचना करेंगे जिसमें तुम्हें यशस्विनी सम्बोधित करेंगे अतः यही नाटक का फलागम है।[17]

अर्थप्रकृति तथा कार्य आदि अवस्थाओं के अतिरिक्त नाटक की कथावस्तु की पाँच सन्धियाँ मानी गयी हैं। ये अर्थप्रकृति और अवस्था के मिश्रण से बनती हैं, इसलिए सन्धियाँ कहलाती हैं अर्थात् नाटक की कथावस्तु का संबंध अर्थप्रकृति के रूप में कार्य से है और अवस्था के रूप में फलागम से दोनों को सम्बद्ध करने पर सन्धि हो जाती है। ये पाँच प्रकार की मानी गयी हैं - मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श एवं निर्वहण सन्धि। अनेक प्रकार के रस को उत्पन्न करने वाली बीजोत्पत्ति जिसमें हो, वह मुख सन्धि कहलाती है। उस बीज का कुछ-कुछ दिखाई देना और कुछ-कुछ दिखाई न देना प्रतिमुख सन्धि कहलाती है। इसमें बिन्दु अर्थप्रकृति और प्रयत्न नामक कार्यवस्था का योग रहता है। बीज के दिखाई देने और उसके नष्ट हो जाने पर उसका अन्वेषण बार-बार किया जाता है वह गर्भ सन्धि कहलाती है यहाँ फल प्राप्ति की सम्भावना तो होती है, किन्तु ऐकान्तिक निश्चय नहीं हो पाता। क्रोध से, व्यसन या लोभ से जहां फल-प्राप्ति के विषय में विचार किया जाए तथा जहां गर्भसन्धि के द्वारा बीज को प्रकट कर दिया गया हो, वहां अवमर्श सन्धि होती है। रूपक की कथावस्तु के बीज से युक्त मुख आदि जो अब तक इधर-उधर विखरे हुए हैं, जब एक अर्थ के लिए एक साथ एकत्रित किये जाते हो, वह निर्वहण संधि होती है।[18]

उपर्युक्त सन्धियों का प्रयोगात्मक पक्ष कैकयीविजयम् नाटक में देखा जा सकता है। इस नाटक में कैकेयी का उदात्त चरित्र ही फलरूप में दर्शाया गया है। 'देशहितं लोकहितं ' प्रस्तावना से द्वितीय अंक पर्यन्त मुख सन्धि को देखा जा सकता है। द्वितीय अंक में 'दशरथः - अहो दण्डारण्यवासिनां' से लेकर तृतीयांक

तक प्रतिमुख संधि दिखाई देती है। चतुर्थ अंक में गर्भ सन्धि को देखा जा सकता है। पंचम अंक में कैकेयी का कथन भगवन् अश्रुणीमानि...... विश्राम्यति[19] तक अवमर्श तथा पंचम अंक के शेष भाग में निर्वहण सन्धि प्रतीत होती है।

रूपक का दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व नेता या नायक को माना गया है। नाटक की कथावस्तु को फलागम तक ले जाने वाला नेता या नायक कहलाता है, नेता पद से नायक पद का ही ग्रहण नहीं होता अपितु नाटक के सभी पात्रों का ग्रहण होता है।[20] दशरूपक में नायक के विनम्रता, मधुर, त्यागी, चतुर, प्रियंवद, शुचि, वाग्मी आदि सामान्य गुणों का उल्लेख किया गया है।[21] नायक के धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्राान्त, धीरोद्धत आदि चार भेद किए गए हैं।[22] नाटक में एक प्रधान नायक, होता है जिसके उपनायक, पताकानायक, विट, विदूषक आदि सहायक पात्र होते हैं।[23]

नाटक के समस्त कार्य व्यापार उसी के हित में अवसान होता है, वस्तुतः नाटक के समस्त कार्य व्यापार अथवा घटनाचक्र का वही आधार माना गया है और नाटक के प्रधान रस का वही मूलभूत हेतु या आलम्बन माना गया है, परिणामस्वरूप वही पात्र मुख्य नेता पद का अधिकारी होगा जो नाटक की घटनाओं का मुख्य सूत्रधार हो जो प्रयत्न के फल का उपभोक्ता हो, जो नाटक के मुख्य रस का हेतु या आधार हो, नाटक का प्रधान नायक माना गया है।

कैकेयीविजयम् नाटक के उद्देश्य का सर्वाधिक संबंध कैकयी है, ब्रह्माजी दण्डकारण्य में रावणादि राक्षसों के उपद्रवों से पीडित देवताओं और ऋषियों की रक्षा के लिए राम को वहां भेजना चाहते थे। राम दशरथ को प्राण से भी बढ़कर प्रिय होने के कारण उन्हें राम का वनवास नहीं भाता ऐसी स्थिति में ब्रह्मा ने मन्थरा के द्वारा कैकयी को आदेश भेजा। देशहित और जनहित के लिए तुम्हे मेरी योजना को अपनी युक्तियों से कार्यान्वित करना है जो कि नाटक का बीज माना जा सकता है और नाटक का समापन भी इसी उद्देश्य (कैकेयी का उदात्त चरित्र संसार के समक्ष प्रस्तुत करना) की पूर्ति होता दिखलाई पडता है, यही नाटक का फल माना जा सकता है।

इसी प्रकार नायिका भी नाटक की एक मुख्य पात्र मानी गयी है जो नायक के ही समान गुणों से युक्त होती है। स्वकीया, परकीया और साधारण भेद से तीन प्रकार की नायिकाएं मानी गयी हैं।[24]

कैकेयीविजयम् नाटक में दशरथ और कैकेयी ये दो पात्र मुख्य प्रतीत होते हैं। प्रधान नायक ही नाटक का केन्द्र बिन्दु या प्राण माना गया है। नाट्यदर्पणकार का मत है कि रूपक में फल को प्राप्त करने वाला तथा विषयाशक्ति व प्राणहानिरूप विपत्ति अथवा व्यस से रहित पात्र नाटक का मुख्य पात्र हो सकता है। इस दृष्टि से कैकयीविजयम् नाटक में कैकेयी को मुख्य पात्र माना जा सकता है क्योंकि नाटक की घटना की पूर्ति के लिए कैकेयी सम्पूर्ण नाटक में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है, नाटक की सम्पूर्ण घटना कैकेयी की योजनाओं से पूर्ण होती प्रतीत होती है। नाटक में मुख्य रस शान्त रस माना जा सकता है कैकेयी को ही शान्त रस की आलम्बन माना जा सकता है। कैकेयी नाटक में शान्तचित्त , लोकहित में संलग्न दृष्टिगत होती है। प्रत्येक कार्य में लोकहितार्थ ही प्रवृत्त होती है। सम्पूर्ण नाटक में वह ब्रह्मा के निर्देशानुसार ही प्रवृत्त होती है। अतः कैकेयी नाटक की प्रधान नेता मानी जा सकती है।

कैकेयी स्वकीया श्रेणी की नायिका के रूप में प्रतीत होती है तथा नाटक नायिका प्रधान माना जा सकता है, जो कि नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से नवीनतम प्रयोग है, कवि ने कैकेयी का चरित्र रामायण से भिन्न प्रस्तुत कर नया दृष्टिकोण दिया है। अधिकांशतः श्रृंगार रस प्रधान नाटकों में ही नायिका को मुख्य पात्र के रूप में प्रस्तुत करने की परम्परा रही है किन्तु यह नाटक नायिका प्रधान प्रतीत होता है जो कवि का नाट्यशास्त्रीय परम्परा में महत्त्वपूर्ण प्रयोग दृष्टिगत होता है जिससे नाटक में नायिका की भूमिका के विषय में व्यापक दृष्टिकोण प्राप्त होता है।

कैकेयीविजयम् नाटक में कैकेयी सर्वत्र शान्तचित्त, लोकहित तथा मानवकल्याण हेतु कार्य में प्रवृत्त होती दिखाई देती है। सम्पूर्ण नाटक में कैकयी के हृदय में शम का भाव दृष्टिगत होता है। अतएव प्रस्तुत नाटक में शान्तरस अंगीरूप में तथा अन्य रस अंगरूप में प्रयुक्त हैं।

सन्दर्भ -

1. *त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ना.शा.*
2. *अवस्थानुकृतिनाट्यम्*
3. *नाट्यमेव रसः।*
4. *नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः।*
   व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति।।

5. वस्तुनेतारसस्तेशां भेदकः।

6. इतिवृत्त हि नाट्यस्य शरीरं परिकीर्तितम्।

7. दशरूपक 1/12

8. वही, 1/13

9. तत्राधिकारिकं मुख्यं प्रासंगिकं विदुः।

10. सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्। वही

11. स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा।

12. दशरूपक 1/19

13. कैकेयीविजयम् अंक 1, पृ. 6

14. किन्तु दक्षिणभारतस्य .... यथाशीघ्र निवारणीयाः सन्ति। कैकेयीविजयम् अंक पृ. 15

15. वही, अंक 4, पृ. 22

16. ब्रह्मा (प्रसाद-सौम्यानि चक्षूंषि निपातयन् समन्तादवलोक्य) भद्रं ...... साकेतान् मात्रीयते। वही, अंक 5, पृ. 30

17. ब्रह्मा (सानुशयम्) सत्यं वदसि भो देवि किन्तु ..... भूयः प्रियमुपकरोमि। वही, पृ. 32

18. दशरूपक 1/22-50

19. कैकेयीविजयम्, पंचम अंक, पृ. 31, 32

20. दशरूपक 2, पृ.75

21. वही, 2/1, 2

22. वही, 2/3

23. दशरूपक , 2/8, 9

24. वही, 2/15

12

सामाजिक समरसता की कृति : शम्बूकाभिषेक

रमाकान्त पाण्डेय

आचार्य रामजी उपाध्याय द्वारा विरचित शम्बूकाभिषेक नाटक रामायण में प्राप्त शम्बूक–कथा पर आश्रित होता हुआ भी उनके अपने चिन्तन पर आश्रित है। आधुनिक संस्कृत कवियों ने प्राचीन संस्कृत साहित्य में प्राप्त इस प्रकार के अनेक कथानकों पर कलम उठा कर उन्हें युगानुरूप बनने का स्तुत्य उपक्रम किया है। ऐसे कथानकों में एकलव्य, कुब्जा, कैकेयी, शबरी आदि का नाम लिया जा सकता है। वस्तुतः साहित्य का प्रणयन अपने युगधर्म, सामाजिक मान्यताओं तथा तत्कालीन विचारधाराओं पर आश्रित होता है। शम्बूक का प्रसंग रामायण के उत्तरकाण्ड के छिहत्तरवें सर्ग में प्राप्त होता है। इसके पूर्व के दो सर्गों में ब्राह्मण के पुत्र का अकालमरण आदि वर्णित है। रामायण तत्त्ववेत्ताओं द्वारा समग्र उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त माना जाता है। रामायण के समीक्षक भाषा आदि की–दृष्टि से भी उत्तरकाण्ड को वाल्मीकि की रचना नहीं मानते। उसे पूर्णतः प्रक्षिप्त ही माना जाता है तथापि यह प्रक्षेपण इतना नया भी नहीं है। कालिदास के समय से बहुत पहले यह अंश रामायण में प्रक्षिप्त होकर उसके अंश के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुका था।

शम्बूक साधारण व्यक्ति नहीं है। वह अत्यन्त निडर, स्वाभिमानी तथा कर्मठ है। वह कठोर तपस्या कर रहा है जिसे देख कर राम भी प्रभावित होते हैं तथा उसे ‘‘तपोवृद्ध” कह कर सम्बोधित करते हैं। राम जब उससे पूँछते हैं -

कस्यां योन्यां तपोवृद्ध वर्तसे दृढविक्रम।
कौतूहलात् त्वां पृच्छामि रामो दाशरथिर्ह्यहम्।।

(रामा. उत्तर. 76.16)

राम के मुख से यह सुन कर वह भयभीत नहीं होता। शम्बूक अत्यन्त निडर होकर उत्तर देता है –

शूद्रयोन्यां प्रजातोऽस्मि तप उग्रं समास्थितः।
देवत्वं प्रार्थये राम सशरीरो महायशः।।
न मिथ्याऽहं वदे राम देवलोकजिगीषया।
शूद्रं मां विद्धि काकुत्स्थ शम्बूको नाम नामतः।।
(रामा. उत्तर. 76.2,3)

हे राम! मैं शूद्र योनि में जन्मा हूँ। शरीर देवत्व प्राप्ति के लिये उग्र तप का आचरण कर रहा हूँ। हे राम! मैं मिथ्या भाषण नही कर रहा। मैं सशरीर देवलोक जाना चाहता हूँ। मेरा नाम शम्बूक है।

कालिदास रघुवंश महाकाव्य के पन्द्रहवें सर्ग में शम्बूक का वर्णन करते हैं। वहाँ शम्बूक की तपस्या रामायण की अपेक्षा कुछ भिन्न है। रामायण का शम्बूक शिर नीचे करके तपस्या कर रहा था (अवाक्शिराः) किन्तु कालिदास उसे ''धूमप'' कहते हैं। वह वृक्ष की शाखा से लटक रहा है, उसकी आँखें लाल हैं और वह अधोमुख होकर तपस्या कर रहा है -

अथ धूमाभिताम्राक्षं वृक्षशाखावलम्बिनम्।
ददर्श कञ्चिदैक्ष्वाकस्तपस्यन्तमधोमुखम्।।
(रघु. 15.49)

भवभूति के उत्तररामचरित के द्वितीय अंक में शम्बूक का वर्णन प्राप्त होता है। वह जनस्थान में अधोमुख होकर धूमपान करता हुआ तपस्या कर रहा था। राम उस शूद्र मुनि पर कृपाण से प्रहार करते हैं तथा शम्बूक को सद्‌गति प्रदान करते हैं। भवभूति इस आख्यान को परम उदात्तता प्रदान करते हैं। ब्राह्मण के पुत्र को जीवन भी प्राप्त होता है तथा शम्बूक को तपश्चर्या का परिपाक (स्वर्ग) भी प्राप्त होता है। शम्बूक स्वयं कहता है - स्वामिन् ! युष्मत्प्रसादादेवैष महिमा। (पृ. 259)।

भवभूति के राम लोकनाथ हैं, लोक में लोग राम को खोजते हैं किन्तु वही राम शम्बूक का अन्वेषण करते हुये सैकड़ों योजन की दूरी पार करके जनस्थान पहुँचते हैं तथा उसे सद्‌गति प्रदान करते हैं। शम्बूक इसे ही अपनी तपस्या का फल मानता है (द्रष्टव्य- 2.13)।

आचार्य रामजी उपाध्याय ने शम्बूक के इन्ही वर्णनों के आधार पर शम्बूकाभिषेक नाटक का प्रणयन किया है। पाँच अङ्कों में विभक्त इस नाटक की कथा का तानाबाना प्रसिद्ध होकर भी उत्पाद्य है। उत्पाद्य इसलिये कि नाट्य के संविधान में कवि ने जिस वस्तु की योजना की है वह उसकी स्वयं की है। प्रो.

उपाध्याय इस पुराख्यान से वर्तमान समस्या को भी जोड़ते हैं। प्रकृति का विनाश आज इस सीमा तक बढ गया है कि वनों का अस्तित्त्व ही समाप्तप्राय है। अनेक पशु पक्षियों का अब केवल नाम ही शेष रह गया है। शम्बूक प्रकृति का पुत्र है, अतः कवि ने प्रकृति की वर्तमान समस्या को इसके साथ चित्रित किया है। इस नाटक का फल राम के हाँथों शम्बूक का राज्याभिषेक है।

शम्बूकवध का सार -

नाटक का प्रारम्भ आन्ध्रप्रदेश में शबरराज हिरण्यकेश की राजवसति के प्राङ्गण से होता है। शम्बूक इसी शबरराज का तपस्वी पुत्र है। कवि ने इस राजा को महान् प्रकृतिप्रेमी बताया है। उसे राज्य उतना आनन्दित नहीं करता जितना प्रकृति आनन्दित करती है। जब वह अपने पुत्र को राजसभा में बुलाने का आदेश देता है तब पता चलता है कि राजकुमार इस समय कहीं बाहर हैं, कई दिनों से उन्हें यहाँ नहीं देखा गया। यह सुनकर राजा गुप्तचराधिपति सुमति को बुलाता है। वह राजा को बताता है कि राजकुमार को सहचरों के साथ जाते देखकर उसने उसे वापस लाने के लिये कतिपय सिपाहियों को उनके पीछे लगाया किन्तु सहचरों ने फरसा दिखाकर सिपाहियों को धमकाते हुये वापस कर दिया। यह सुन कर हिरण्यकेश उसे राजकुमार को वापस लाने का आदेश देता है।

गुप्तचराधिपति सुमति राजकुमार शम्बूक को खोजता हुआ किसी आश्रम में पहुँचता है। वहाँ योगेश्वर उसे राजकुमार का समग्र भवितव्य बताते हैं। उसे योगेश्वर यह भी बताते हैं कि राजकुमार दक्षिणापथ में सहस्रगो कुलाधिपति सत्यानन्द के आश्रम में है। तृतीय अंक अयोध्या के राजभवन के प्राङ्गण से प्रारम्भ होता है। वहाँ उपस्थित होकर एक आन्ध्रदेशीय ब्राह्मण राम से बताता है कि कुलपति सत्यानन्द के आश्रम में मेरा वेदपा नामक पुत्र शिक्षा प्राप्त कर रहा था। हिरण्यकेश नामक शबरराज वहाँ से समस्त ऋषियों का निर्वासन कर रहा है। उसके द्वारा पीडित तपस्वी आश्रम छोड़कर भाग गये। हिरण्यकेश ने मेरे पुत्र का हरण कर लिया है, न जाने वह मेरे पुत्र के साथ कैसा बर्ताव करेगा। यह सुनकर राम उसे उसके पुत्र की रक्षा का वचन देते हैं तथा शीघ्र वहाँ जाने को उद्यत होते हैं।

राम योगबल से शबर राजधानी में उपस्थित होते हैं। वहाँ उन्हें वृक्ष से लटकता हुआ एक युवक दिखायी देता है। उसके ''त्राहि मां, त्राहि माम्'' शब्द को सुन कर राम उससे पूँछते हैं - कथं तवेहशो दुर्धरस्तपोयोगः? तुम इतने कठिन तपोयोग का अनुष्ठान क्यों कर रहे हो? यह सुनकर वह युवक राम से अपने को

मुक्त करने की प्रार्थना करता है। राम के द्वारा मुक्त किया गया वह युवक बताता है कि वह शबरराज हिरण्यकेश का ज्येष्ठ पुत्र शम्बूक है। शबरी उसकी मातामही थी तथा जाबाला उसकी पितृष्वसा थी। वह कुलपति सत्यानन्द के आश्रम में पराविद्या का अध्ययन करके स्नातक बन चुका है किन्तु उसके पिता ने वहाँ पहुँचकर उसकी यह दुर्दशा की है। पिता उसे शाबर संस्कृति से च्युत नहीं होने देना चाहता। वह मेरे मित्र को भी पकड़ लाये हैं और आज रात में काली मन्दिर में उसकी बलि दे देगें। यह सुनकर राम शम्बूक के साथ उस मन्दिर में पहुँचते हैं और वेदपा की रक्षा करते हैं। राम वहीं शम्बूक का राज्याभिषेक कर देते हैं। अन्त में राम गोदावरी का दर्शन करके ऋषियों से विदा लेकर वापस अयोध्या आ जाते हैं।

शम्बूकवध में पूर्व कवियों का प्रभाव -

शम्बूकवध में शम्बूक की उसके पिता द्वारा की गयी दुर्दशा के वर्णन में कवि पुराणों में प्रतिपादित प्रह्लाद कथा से प्रभावित है- हिरण्यकेशो राजकुमारं राजधानीम् आनीय वटवृक्षस्य शाखायां प्रलम्बम् आलम्ब्य पीडयिष्यति तथापि राजकुमारस्तपोविरतो न भविष्यति (पृ.14) इत्यादि प्रसंगों में नाटककार प्रह्लाद के घटनाक्रम से प्रभावित परिलक्षित होता है। सुमति के ''महाराजेनादिष्टोऽहम् ऋषीणाम् आश्रमेषु---दिवारात्रं वनाद् वनं दुरतिक्रमेषु वंश-कठिनेषु गहनारण्येषु अपि निरन्तरम् अनशनायितोऽपि आत्मानं त्वरयामि'' (पृ. 10) इत्यादि में अभिज्ञानशाकुन्तल के मृगया वर्णन का प्रभाव स्पष्ट है। ''तपोधनानाम् आश्रमाः प्राणिमात्रस्य सौख्याय प्रवर्तन्ते (पृ. 11), नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण'' (पृ. 13) इत्यादि वाक्य पूर्वकवियों से लिये गये हैं। सुमति द्वारा की गयी योगेश्वर की ''विश्वं दर्पण-दृश्यमाननगरीतुल्यम्---शान्तात्मने ब्रह्मणे'' इत्यादि स्तुति में वेणीसंहार के ''आत्मारामा विहतरतयो'' इत्यादि पद्य का प्रभाव झलकता है। राम को पहचानने के बाद वेदपा सप्रश्रय राम की स्तुति करता है —

सोऽयं परात्मा पुरुषः पुराणः एष स्वयं ज्योतिरनाद्यनन्तः।
माया-तनुं लोकविमोहनीयां धत्ते परानुग्रह एष रामः।। पृ. 26

वह कहता है - हे राम ! तुम संसार की आत्मा हो, तुम्ही जगत् हो तथा तुम्ही जगत् के आधार हो किन्तु तुम किसी से भी बँधे नही हो। तुम एक हो और परम तत्त्व के रूप में सर्वत्र व्याप्त हो। वेदपा के इन कथनों में गीता तथा श्रीमद्भागवत आदि का प्रभाव देखा जा सकता है। आचार्य उपाध्याय अधीती मनीषी हैं। शास्त्रों तथा साहित्य में उनका असाधारण अधिकार इस लघु कृति में भी बहुत झलकता है।

प्रकृतिप्रेम -

नाटककार प्रकृति संरक्षण का महान् पक्षधर है। वह प्रकृति को राज्य से बढ़कर सम्मान देता है। प्रकृति के अभाव में प्राणियों का जीवन सुरक्षित नहीं रह सकता। राजा हिरण्यकेश अपने राज्य की प्रकृति सम्पदा को देखकर अत्यधिक प्रसन्न होता है। वह प्रकृति के संवर्धन को लेकर विशेष चिन्तित दिखायी पड़ता है -

''महदपि राज्यं न मे तथा सौख्यम् आवहति यथा प्रकृतेर्वनस्पति-काय-सौरभम्। अहो मातृरूपाया वसुन्धराया अलङ्कारभूताः प्रकृति विभूतयोऽत्र परितः परिवारयन्ति। तथा हि हरितच्छदा शाद्वला मही, पक्षिणां चीची-कूची-कूजितैः सङ्गीतमयं गगनम्, पुष्पहासविलासैः सुरभिर्वायुः, कल-कलोच्छल-निनाद-रम्यं जलम् -- प्रकृतेः सम्वर्धनं कथं भूयादिति (पृ. 3) इत्यादि नाटक के आरम्भ में ही कवि ने अपनी प्रकृतिविषयक चिन्ता को स्पष्ट किया है। हिरण्यकेश वन सम्पदा के संरक्षण के लिये भी तत्पर है। अरण्यपाल जब उसे बताता है कि नागरिक वनस्पतियों को तोड़-मरोड़ देते हैं, लता, छोटे पौधों आदि को काट डालते हैं। सिंह, गज, मृग आदि पशुओं को तथा आकाश के आभूषण हंस, मयूर आदि को विष देकर मार देते हैं। वृक्षों को काट डालते हैं, जिससे वनप्रदेश मरुभूमि मे परिवर्तित होते जा रहे हैं, तब वह विचलित हो उठता है। हिरण्यकेश को वन्य जीवन में इस प्रकार का विपर्यय सह्य नहीं है-वन्यजीवने नाहमीदृशं विपर्ययं सोढुमभिषिक्तः। वनं सुरक्षितुं वनप्रदेशाद् नागरिकाणां निष्कासनम् अपरिहार्यम्।(पृ. 6)। वन की सुरक्षा के लिये हिरण्यकेश नागरिकों को वन से निकालने का उपक्रम करता है। अपने इसी संकल्प की पूर्ति के लिये वह ऋषियों को भी वन से बाहर करना चाहता है। नाटककार प्रकृति की वर्तमान समस्याओं से परिचित है। वह इस नाटक के पुरा वृत्त के साथ देश की वर्तमान प्रकृति - संरक्षण की समस्या को भी अन्वित करता है , जिससे यह नाट्यकृति युगबोध का भी निदर्शन बन सकी है। राम स्वयं समस्त विश्व की सुखवृद्धि के लिये चराचर जननी वनभूमि को नमन करते हैं —

विश्वेषां सुखवृद्ध्यर्थं सचराचरमातरम्।
वनभूमिं परां मन्ये विष्वक् सौख्यविधायिनीम्।। पृ. 33

राज्याभिषेक के अनन्तर राम शम्बूक को जो उपदेश देते हैं वह भी नितान्त महत्त्वपूर्ण है - ब्रह्मचर्य और तपस्या से राजा राष्ट्र की रक्षा करता है। तुम्हारा मन साम्य में प्रतिष्ठित हो। तुम ऐसे राजा बनो कि प्रजा के हृदय में वैसे ही निवास करो जैसे मैं तुम्हारे हृदय में निवास करता हूँ। प्रजा तुम में अनुरक्त हो।

यह नाटक काय की दृष्टि से लघु है, किन्तु इस लघु कथानक में कवि ने नाटकीयता की कमी नहीं आने दी। वस्तु का विन्यास अत्यन्त निपुणता से किया गया है, जिससे नाटक स्पृहणीय बन गया है। शम्बूक के राज्याभिषेक के दृश्य में ही कवि ने नाटकीयता का भरपूर उपयोग किया है - राम शम्बूक को सिंहासन पर बैठाते हैं, समस्त दिशाओं में पवित्र नदियों का जल छिड़क कर मार्जन करते हैं, तदनन्तर उसका राज्याभिषेक करते हैं, अनेक ऋषि, राजा, मन्त्री, प्रजाप्रमुख भी उसका अभिषिंचन करते हैं, राजधानी के लोग दधि, अक्षत, मोदक, लाजा और पुष्प शम्बूक को भेट करते हैं, शम्बूक वह सब कुछ राम को समर्पित कर देता है, राम उसका गाढ़ आलिंगन करते हैं। इस प्रकार यह नाटक अपनी अभिनेयता, नाटकीयता तथा वस्तु संघटना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

कवि ने इस नाटक की रचना के बहाने सहस्राब्दियों से चली आ रही साहित्यिक न्यूनता को पूर्णता प्रदान की है। रामायण का शम्बूक आज के युग में आकर राजा के रूप में अभिषिक्त होता है, यह भी इस युग की साहित्यिक और वैचारिक उपलब्धि है। न केवल लौकिक संस्कृत साहित्य में वैदिक साहित्य में भी अनेक ऐसे प्रसंग उपलब्ध होते हैं, जिनमें अनेक अन्त्यज सम्मान प्राप्त करते हैं। ऐतरेय महीदास, जानश्रुति आदि इसके उदाहरण हैं। ऐसे में शम्बूक को उसकी प्रतिष्ठा प्रदान करना साहित्यिक और सामाजिक दायित्व था, जिसे प्रो. उपाध्याय जी ने पूरा किया।

इस नाट्य की भाषा सरल और प्रवाह युक्त है। पुरावृत्त तथा वर्तमान समस्या के समन्वय से यह रचना साम्प्रतिक बन गयी है। नाटककार समाज के प्रत्येक वर्ग को सुखी, प्रसन्न तथा उन्नति के पथ पर अग्रसर देखना चाहता है। वह भरत वाक्य में ऐसे राष्ट्र की संकल्पना करता है जहाँ प्रेम ही प्रेम हो, दुःख न हो, पारस्परिक भेद का अभाव हो, सभी कल्याणमय हों, समस्त विश्व विश्व भर की जनता के लिये जिये, पृथ्वी सम्पदाओं से परिपूर्ण हो, सौहार्द्र से उल्लसित जनता पारस्परिक वैर के उद्गम को ही नष्ट कर दे —

प्रीतिप्रौढं दुरितहरणं सौमनस्य - प्ररूढम्
भेदाभावोल्लसित-चरितं विश्वकल्याणकेन्द्रम्।
वृत्तं सौख्यामृत- सुघटितं सर्वमाङ्गल्यमूलं
कुर्याद् राष्ट्रं सुकृतललितं दुःखशून्यं समन्तात्
विश्वो विश्वजनाय जीवतु मही स्यात् सम्पदां वर्द्धिनी
सौहार्दोल्लसिता समग्रजनता वैरोद्गमं ध्वंसयेत्

आचार्य रामजी उपाध्याय की उक्त भावनायें वैश्विक जनता के लिये भ्रातृभाव का सोपान हैं। इस नाट्यरचना को संस्कृत साहित्य में निहित सामाजिक भावनाओं का पुनराविष्कार कहा जाना चाहिये।

सन्दर्भ -

1. *उपाध्याय, रामजी, शम्बूकाभिषेकम्, भारतीय संस्कृति संस्थान, वाराणसी, 2001*
2. *रामायण, सप्तम भाग, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नयी दिल्ली,2006*
3. *द्विवेदी, रेवाप्रसाद, रघुवंश महाकाव्य, सं. सं. वि. वि., वराणसी, 2008*
4. *द्विवेदी, शिव बालक, उत्तररामचरित, हंसा प्रकाशन, जयपुर, 2008*
5. *शर्मा, रामशरण, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2015 (पुनर्मुद्रित संस्करण)*

13

चराचरवृन्दैर्लब्धं पदनिर्वाणम्

रामहेत गौतम

आचार्य रामजी उपाध्याय द्वारा लिखित 'शम्बूकाभिषेकम्' नाटक की पूर्णता के अवसर पर ऋषियों का कथन- ''चराचरवृन्दैर्लब्धं पदनिर्वाणम्[1] सम्पूर्ण दर्शन परम्परा का बीज वाक्य है। यह आनन्द प्रकृति की गोद में ही है अतः शबरराजहिरण्यकेश कहता है कि – ''अहोमातृरूपाया वसुन्धराया अलंकारभूताः प्रकृति-विभूतयोऽत्रपरितःपरिवारयन्ति'' ।[2] अर्थात् मातृरूपावसुन्धरा (भूमिया माता) वन ही आनन्द का साधन हैं। ये (वन) पृथ्वी के अलंकार हैं। ये चराचर का भरणपोषण करने वाले हैं। अतः हिरण्यकेश प्रकृति की रक्षार्थ वनों को नष्ट कर कंकरीट के जंगल खड़े करने वाले नागरिकों तथा उनको बढ़ावा देने वाले ऋषियों को वन क्षेत्रों से खदेड़ने हेतु आन्दोलन छेड़ देने के लिए हिरण्यकेश की हत्या कर ऋषिहितैषी शम्बूक का राजतिलक कर आर्षसंस्कृति की स्थापना करते हैं। इस उपलक्ष्य में ऋषिवृन्द कामना करते हैं कि सभी को निर्वाण पद की प्राप्ति हो। इस प्रकार इस नाटक में वन्य संस्कृति व आर्षसंस्कृति के आपसी वर्चस्व के संघर्ष की कहानी है। यद्यपि दोनों का लक्ष्य निर्वाण ही है।

इस कथानक का मूल प्रसंग है - तप करना। शम्बूक के सदेह स्वर्ग जाने के लिए तप करने से ज्ञात होता है कि ऋषि शम्बूक की नजरों में सदेह स्वर्गगमन शक्य था। 'उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।' के तत्त्वज्ञ शम्बूक का उद्यम उसकी वर्णहीनता के कारण कैसे बाधित किया जा सकता है? अतः शम्बूक का प्रसंग अति संवेदनशील बन चुका है। इस प्रसंग पर चर्चा होते ही आरोप प्रत्यारोपों की बौछार होने लगती है फिर भी महाकवि वाल्मीकि, व्यास (पद्मपुराण) से लेकर वर्तमान के कवियों तक ने इस प्रसंग पर लेखनी चलाकर समाज को विवेक पूर्वक आत्ममन्थन करने को बाध्य किया है। समय-समय पर लिखे गये कथानक अवलोकन के लिए ये प्रस्तुत किये जा रहे हैं –

वाल्मीकीय रामायण में शम्बूक कथा -

वाल्मीकीयरामायण के अनुसार राज्याभिषेक के बाद राम सुखमय जीवन बिता रहे थे। तभी एक विवेकशून्य बूढ़ा द्विज(न कि ब्राह्मण[3]) मृत वेटे के शव को राजद्वार पर रखकर विलाप के साथ राजा राम को दोषी ठहराता है।[4] उनके राज्य में अनुचित कर्म रोकने की व्यवस्था नहीं है। इस प्रकार के दोषारोपण को सुन राजा राम ने मन्त्रियों, वशिष्ठ, वामदेव एवं महाजनपदों सहित भाईयों को आमन्त्रित कर मंत्रणा की। तब नारद जी बोले-सत्ययुग में केवल ब्राह्मण ही तपस्वी थे। त्रेता में क्षत्रीय तप कर ब्राह्मणों के बराबर हो गये। द्वापर में वैश्य भी तपस्वी हो गये। कलयुग में शूद्र भी तपस्या में प्रवृत्त होंगे। द्वापर में शूद्रों का तप करना महान् अधर्म है। तब आज त्रेता में कोई खोटीबुद्धि शूद्र तप कर रहा है।[5] इसी से इसकी मृत्यु हुई है। 'श्रुत्वा कर्तव्यतां राजन्कुरुष्व रघुनन्दन। (यह सब जानकर आपको जो उचित लगे वह कीजिए।)'[6] षड्भागस्य च भोक्तासौ रक्षते न प्रजाः कथम्। स त्वं पुरुषशार्दूल मार्गस्वविषयं स्वकम्।। दुष्कृतं यत्र पश्येथास्तत्रयत्नं समाचर। अर्थात् पुरुष सिंह! जो जनता के शुभ कार्यों के छटे भाग का उपभोक्ता है वह जनता की रक्षा क्यों नहीं करेगा? अर्थात् अवश्य करनी चाहिए। आप अपने राज्य में खोजिये जहाँ भी दुष्कर्म दिखे उसे रोकिये। क्योंकि एवं चेद्धर्मवृद्धिश्च-----[7] अर्थात् इसी से धर्म वृद्धि होगी। तब राम धनुष और तलवार लेकर पुष्पक विमान से दुष्कर्म खोजने निकले। उत्तर, पश्चिम व पूर्व दिशा को शुद्ध सदाचार युक्त पाया।[8] उसके बाद वे दक्षिण दिशा में जाते हैं तब कौशल पर्वत के उत्तर में महान् सरोवर के पास अधोमुख लटककर उत्तम तप करते हुए तपस्वी को देखा।[9] पास जाकर पूछा-इतना उत्तम तप करने वाले तुम कौन हो? और तुम्हारी जाति क्या है? इस उत्तम तप का प्रयोजन क्या है? यह सुनकर शम्बूक द्वारा खुद को शूद्र वर्ण व जाति का होना तथा उद्देश्य सशरीर देवत्व प्राप्ति(देवत्वं प्रार्थये राम सशरीरो महायशः) बताते ही राम द्वारा मार दिया जाता है।[10] राम के द्वारा एक शूद्र के मारे जाते ही देवता साधु-साधु कहकर प्रशंसा करते हैं। उनके इस कार्य का देवकार्य कहकर स्वागत किया जाता है।[11]

पद्मपुराण में भी शम्बूक का प्रसंग आता है। गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित संक्षिप्त पद्मपुराण, संबत् 2075 में मुद्रित जयगोपाल गोयन्का टीका, पृष्ठ 971 श्रीराम के जीवन प्रसंग में आता है कि श्रीरघुनाथ जी ने एक तपस्वी शूद्र को मारकर मृत्यु को प्राप्त एक ब्राह्मण बालक को जीवन प्रदान किया।

महाकवि कालिदास कृत रघुवंश में शम्बूक कथा -

रघुवंश में यह घटनाक्रम कुछ इस प्रकार है - कि एक दिन राम राज्यवासी एक विप्र मृत बेटे को गोदी में लेकर फूट-फूटकर रोता हुआ कहता है कि - शोचनीया सि वसुधरे या त्वंदशरथाच्च्युता। रामहस्तमनुप्राप्य कष्टात्कष्टतरंगता।। (हे वसुधे! दथरथ से वंचित होकर राम के हाथों पड़तकर अति कष्टमय स्थिति में आकर शोचनीय हो गयी हो।)[12] यह कथन सुन राम लज्जित हुए क्योंकि न ह्यकालभवोमृत्युरिक्ष्वाकुपदमस्पृशत्।। (इक्ष्वाकुओं के राज्य में अकाल मृत्यु नहीं होती)[13] राम ने क्षमा मांगकर उस दुःखी को आश्वस्त कर वैवस्वतजिगीषा से कुबेरयान पर आरूढ़ हुए ही थे कि आकाशवाणी हुई कि – 'राजन् प्रजासुतेकश्चिदपचारः प्रवर्तते। तमन्विष्य प्रशमयेर्भवितासिततः–कृती।।' (आपसी प्रजा में कोई कदाचार हो रहा है उसे खोजकर दूर करो तभी तुम सफल होगे।)[14] ऐसा सुन इस 'वर्णविक्रिया' को दूर करने के लिए निकले। तब एक पेड़ पर उल्टा लटक कर धूम्रपान करते हुए मनुष्य को देखा और उससे उसके नाम गोत्र के बारे में पूछा तो उस (शम्बूक) ने उत्तर दिया – 'आत्मानं शम्बूक नाम शूद्रंसुरपदार्थिनम्।।'[15] इतना सुनते ही उसे तप का अनधिकारी होने से दण्डस्वरूपशिरोच्छेदन के लिए उस शासक (राम) ने शस्त्र उठाया और उसके शिर को धड़ से अलग कर दिया।[16] इस घटना को कवि कालिदास शम्बूक का सद्‌गति का कारण मानते हुए कहते हैं। स्वयं राजा से दण्डित वह शूद्र सद्‌गति को प्राप्त हुआ न कि शास्त्र विरुद्ध तप करके। बाद में द्विजात्मज जी उठता है। तब उस द्विज ने प्रशंसाकर पूर्व में की गयी निन्दा को परिमार्जित कर दिया।[17]

महाकवि भवभूति कृत उत्तररामचरितम् में शम्बूक कथा -

उत्तररामचरितम् के द्वितीय अङ्क में अश्वमेघ यज्ञ के लिए अश्व छोड़ दिये जाने पर वासन्ती और आत्रेयी के संवाद के दौरान आत्रेयी कहती है कि राम के राजद्वार पर मृत पुत्रदेह को रखकर कहता है कि 'राजापचारमन्तरेण प्रजास्वकाल मृत्युः संचरतीत्यात्मदोषं निरूपयति करुणामये रामभद्रे सहसैवाशरीरिणी-वागुदचरत्-शम्बूको नाम वृषलः पृथिव्यां तप्यते तपः। शीर्षच्छेद्यः स ते राम तंहत्वाजीवयद्विजम्।।'[18] इस अशरीणि वाणी (यह वाल्मीकि के नारद के कथन की अपेक्षा भववूति की अपनी कल्पना है।) को सुन राम शम्बूक को खोजते दक्षिण वन में पहुँच कर शम्बूक से कहते हैं कि – रे हस्त दक्षिणा मृतस्य शिशोर्द्विजस्य, जीवातवेविसृजशूद्रामुनौकृपाणम्। रामस्य गात्रमसिनिर्भरगर्भखिन्न-सीता

विषसनपटेः करुणा कुतस्ते ।।[19] अर्थात् हे मेरे दाहिने हाथ! मृत ब्राह्मण के जीवनार्थ शूद्र मुनि पर तलवार उठा। पूर्ण गर्भ से अलसाई सीता के निर्वासन में निपुण राम का तू अंग है, तुझे दया कैसे? मोतीलाल बनारसी से प्रकाशित जनार्दनशास्त्री पाण्डेय के संपादन में व्याख्याकार आनन्दस्वरूप 2002 के संस्करण में पृ. 176-177 पर व्याख्याकार ने टिप्पणी की है कि- महाकवि भवभूति ने उद्वेगजनक दृश्यों को प्रत्यक्षतः न दिखाने के सिद्धान्त का उल्लंघन कर राम के उद्वेग को दिखाकर संकेतित करना चाहते हैं कि राम लोकभावना के दबाव में निर्णय लेने के लिये बाध्य रहते थे। लोक भावना कभी-कभी किसी के साथ अन्याय का कारण बन जाती है। इस बात को राम समझते थे। वे यह भी जानते हैं कि शम्बूक के साथ अन्याय हो रहा है पर वे लोकभावना के दबाव से नहीं बच पाते हैं और न चाहते हुए भी शंबूक की हत्या कर देते हैं। पाण्डेय जी इसे सीता के परित्याग के समकक्ष देखते हैं। ये दोनों कृत्य लोकभावना के दबाव में हुए हैं। इतना ही नहीं हत्या के बाद शम्बूक को दिव्यपुरुष के रूप में अवतरित कराकर राम के इस कृत्य को सामान्य बना देते हैं।

दिव्यपुरुषः- जयतु जयतु देवः।

दत्ता भयेत्वयि यस्मादपि दण्डधारे, संजीरितःशिशुरसोम मचेयमृद्धिः।

शम्बूक एष शिरसा चरणौ नतस्ते, सत्सङ्गजानि निधनान्यपि तारयन्ति।।[20]

अर्थात् यमराज से अभय प्रदान करने वाले आपके द्वारा दण्ड दिये जाने पर वह बालक भी जीवित हो गया, तथा मेरा भी भला हो गया। यह शम्बूक आपके चरणों में प्रणाम करता है। साधु संगति से प्राप्त विनाश भी भवसागर से पार करने वाला होता है। इतना ही नहीं आगे भी कहता है - अन्वेष्टव्योयदसिभुवनेभूतनाथः शरण्यः। मामन्विष्यन्निहवृषलकं योजनानां शतानि। क्रान्त्वा प्राप्तः स इह तपसां संप्रसादोऽन्यथाचेत्, कायोध्यायाः पुनरुपगमोदण्डकायां वने वः।।[21]अर्थात् आपके अनुग्रह से ही यह उत्कर्ष है। इसमें तप से क्या? अथवा तप ने बड़ा उपकार किया। लोक में अन्वेषणीय शरणागत रक्षक आप मुझ शूद्र को ढूँढ़ते हुए सैकड़ों योजन पारकर यहाँ आये वह तपोफल ही है; अन्यथा अयोध्या से दण्डकारण्य पुनरागमन कहाँ होता है?

महाकवि ने राम और शम्बूक के संवादों के दौरान शम्बूक के मुख से राम के माहात्म्य को स्थापित करवाया है। तथा दिव्य रूपधारी शम्बूक के द्वारा कृतज्ञता प्रकट करवायी है।

इससे पता चलता है कि महाकवि भवभूति के समय में शम्बूक के साथ हुए जातीय भेद के कारण राम के चरित पर प्रश्न खड़े किये जाने लगे थे। इन प्रश्नों के शमन के लिए महाकवि ने संगतीकरण का उद्यम किया है। कवि ने स्थापित किया कि शम्बूक का तप निर्वाण के लिए ही था वह उसको मिला भी। शम्बूक के इस निर्वाण की प्राप्ति को तप का परिणाम कहलवा कर शूद्र के द्वारा तप करने के प्रयास को दण्डनीय ही सिद्ध किया है।

'जयति वनं रमणीयम्' नटी गीत के बाद प्रथम अंक में आरम्भ में आन्ध्रप्रदेश राजभवन के प्राङ्गण में शबरराज हिरण्यकेश का प्रवेश तथा उनके द्वारा अपने राज्य की प्राकृतिक सुषमा को निहारते हुए – 'प्रकृतेः संवर्धनम्कथं भूयादिति'।[22] विषय पर विमर्श हेतु अरण्यपाल को बुलाते हैं तो वह प्राकृतिक पर्यावरण के ह्रास के लिए नागरिक संस्कृति को जिम्मेदार ठहराते है[23] – वनों में नागरिकों को बुलाने व आश्रय प्रदान करने वाले ऋषियों को भी हटाने की योजना बनायी जाती है। पर एक समस्या उनके सामने आती है कि- हिरण्यकेश का पुत्र शम्बूक इन ऋषियों के संपर्क में रहता है (तस्याःप्रतिपत्याःऋषीणां नागरिकाणां च सममेव वनान्निर्गमनं-सम्भवेत्।)[24] --- निर्वासनम्। मम पुत्रः शम्बूकः ऋषीणांसा - हचर्येणात्मानं बहु मन्यते। स स्वच्छन्द एव ऋषिचर्यं चरति। केनोपायेन स ऋषिभ्यःपृथग्भवेत्? गृहकलहमिदं शमनीयमेव।[25] उसे ऋषि संगत से अलग कर शबरोचित संस्कार डालने हैं। हिरण्यकेश शम्बूक को गैर जिम्मेदार घोषित कर राष्ट्र के युवाओं को उससे दूर रहने की सलाह देता है। सुमति के माध्यम से शम्बूक के वक्तव्य - 'युवकाः, लोकसंग्रहो भवतु भवतां जीवनोद्देश्यम्।[26] अर्थात् परलोकसिद्धि ही आप लोगों का उद्देश्य हो।)

शम्बूक की खोज में नियुक्त सुमति शबर संस्कृति का समर्थक होने के साथ-साथ ऋषिसंस्कृति का विरोधी होने पर भी ऋषियों के आश्रम में रात बिताने की सोचना असंगत है। कथानक में समयानुकूल परिवर्तन करते हुए माणवक से कहलवाते हैं कि - स्वगृहनिर्वेशेषैऽत्रवसतु। 'न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत' इति आश्रमव्रतम्। तपोधनानामाश्रमाः प्राणिमात्रस्य सौख्याय प्रवर्तन्ते। अर्थात् किसी को वसति में आने पर आवास तो देना ही चाहिए यह हमारा आश्रमवासिक धर्म है। तपस्वियों के आश्रम प्राणिमात्र के सुख संवर्धन के लिए होते हैं।[27] आगे पूछता है - किं प्रयोजनमुद्दिश्य त्वया संकटमयी वनयात्रा संकल्पिता? (किस प्रयोजन से घने वन में आने के लिए संकटमयी यात्रा का कष्ट उठाया?) इस नाटक की प्रस्तावना

के अनुसार सुमति वनवासी ही है उसके प्रति वनयात्रा पर कौतूहल असंगत है।[28] खैर युवराज शम्बूक विद्रोही हो शबर संस्कृति की उपेक्षा कर आर्ष संस्कृति के प्रति आकर्षित है।[29] योगेश्वर तपोबल से जान लेते हैं कि शम्बूक विलक्षण गुणी व अशरण का शरणदाता व दृढ़पथिक है। वह सत्यानन्द के विश्वविद्यालय में स्नातक बनने वाला है। उसे उसका पिता दण्ड देने के फेर में दण्ड पायेगा और शम्बूक की बांह ऊँची होगी। रामः स्वयं राजकुमारं राजपदेऽभिषेचयिष्यति, ऋषींश्च सुप्रतिष्ठं व्यवस्थापयिष्यति।[30] इतनी पूर्व पीठिका जोड़कर कवि रामजी उपाध्याय ने वाल्मीकि के कुटिल ब्राह्मण की रक्षा की है। तीसरे अंक में कूटस्थ नामक ब्राह्मण शबरों के आतंक को बड़बड़ाता हुआ अयोध्या आकर राम से निवेदन करता है कि दक्षिणपथ में निष्करुण शबर मेरे बेटे को बन्दी बनाकर ले गया। तब राम शबरों को दण्डित करने का प्रण लेकर कहते हैं - धैर्यमातिष्ठतु।[31] शस्त्र ले वेदपा को बचाने दण्डकारण्य में पहुँच जाते हैं। पेड़ पर उल्टे लटके छटपटाते शम्बूक को देख राम कहते हैं कि 'कथं तवेदृशोदुर्धरस्तपोयोगः? कोऽसि?'तत्पश्चात् उसे बन्धनमुक्त करते हैं और शम्बूक राम का आभार व्यक्त करता हुआ शबरी को अपनी नानी, जाबाला को अपनी बुआ बताता है। शबरों की हिंसक प्रवृत्ति तथा सत्यानन्द के आश्रम में अन्तेवासी[32] होने पर पिता द्वारा बन्दी बनाकर लटका दिए जाने की बात बताता है। ताकि अन्य शबर युवाओं को शाबरी प्रवृत्ति[33] से अलग न होने की सीख दी जा सके। शम्बूक के मुख से वेदपा को देवी काली की बलि हेतु लाये जाने की सूचना पाकर शम्बूक के साथ उसे बचाने निकल पड़ते हैं। हिरण्यकेश को घेरकर - 'भो मूढ़! वनलक्ष्मी भवानी पशु-देवता (पशुबलिप्रिया) नास्ति। सा प्रकृतिरूपा, त्वं च प्रकृति-सेवी। प्रकृतिसेवायाः पुरस्कार एव तव मुक्तिः। तव सात्विक प्रसाधनप्रवृत्त्या परितोषितासा तुभ्यं परं पदं ददाति। सा तव दोषानपि गुणपक्षमध्यारोपयति।' कहकर उसे बींध देते हैं। वेदपा मुक्त हो जाता है। तत्पश्चात् शबरस्थान राजधानी में शम्बूक का अभिषेक कर सर्वहितकारी शासन का उपदेश देते हैं। ऋषियों की सर्वमंगल कामना 'चराचरवृन्दैर्लब्धंपदनिर्वाणम्।'[34] के साथ यह पञ्चाङ्कात्मक नाटक समाप्त हो जाता है।

पेरियार ललई सिंह तथा राम अवतार पाल कृत शम्बूक वध – तीन अंकात्मक इस नाटक का आरम्भ शम्बूक मुनि के महाविद्यालय के दृश्य से होता है। जहाँ मुन्दर सूचना देता है कि आर्य लोग उसके वृद्ध माता-पिता को असह्य कष्ट दे रहे हैं। ज्ञानू, सेतू की चर्चा के तारतम्य में शम्बूक कहते हैं कि- मुट्ठी भर आर्य

चतुराई से बहुसंख्यकों के शासक बने हुए हैं। वर्ण व्यवस्था आप (आर्येतर आदिवासियों) को संगठित नहीं होने दे रही। अतः शम्बूक 'समाजोद्धारक समिति' बनाकर वर्णव्यवस्था के कुचक्र से बचने के लिए आन्दोलन चलाते हैं।[35] वर्णव्यवस्था के पोषक लोगों के हाथों में सत्ता व सैन्य शक्ति के बल पर इन आन्दोलनों को कुचलने के षड्यन्त्र से निपटने के लिए सैनिक संगठन 'ज्ञानू' बनाने की बात शम्बूक के द्वारा की जाती है।[36] शैलेन्द्र (शिवकण्ठ का पुत्र) व कुन्दन (शम्बूक का प्रमुख कार्यकर्ता) दोनों अच्छे मित्र हैं। बातों ही बातों में शैलेन्द्र को पता चल जाता है कि कुन्दन भी पढ़ने जाता है। यह पाठशाला आचार्य महर्षि शम्बूक चला रहे हैं। दोनों में नोंक-झोंक देख शम्बूक दोनों को समझाकर पढ़ाई के लिए प्रेरित करते हुए कुन्दन से कहते हैं कि 'तुझे भी आर्यों के समान विद्वान् बनने का जन्मसिद्ध अधिकार है।'[37] अन्यत्र अपनी प्रियतमा (तुंगभद्रा) को चिन्तित देख शम्बूक कहते हैं कि 'तुम अपने मन की व्यथा कहो आदिवासी स्त्री को अपने हृदय की बात कहने का पूर्ण अधिकार होता है।'[38] तुंगभद्रा आदिवासियों की आपसी फूट को लेकर चिंतित है। तब शम्बूक इस फूट का कारण वर्णव्यवस्था को बताते हैं और कहते हैं कि यह वर्णव्यवस्था मानव-मानव व भाई-भाई में भेद पैदा करती है। तथा लोभ उसको पुष्ट करता है। इस प्रकार समझा ही रहे थे कि आर्यों द्वारा आश्रम पर हमले की खबर आ जाती है। डटकर सामना किया जाता है। हमलाबरों को खदेड़ दिया जाता है पर इस संघर्ष में 'समाजोद्धारक समिति'[39] के अध्यक्ष 'मुन्दर' की हत्या हो जाती है। नाटक के चतुर्थ दृश्य में नारद के नेतृत्व में मार्कण्डेय, मौदगल्य, वामदेव, कश्यप, कात्यायन, जाबालि तथा गौतम शम्बूक जी के आश्रम पहुँचकर धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक मुद्दों से सम्बद्ध तर्कवितर्क करते हैं। शम्बूक जी कहते हैं कि शत्रुओं ने हमारे साहित्य को नष्ट कर दिया है जिससे हमारे समाज की आँखें तो हैं पर दृष्टि नहीं है। मस्तिष्क भी है पर समझ नहीं है। परिणामतः पाखण्डों में फँस कर सम्मान विहीन होकर आप लोगों की बात मानने के लिए विवश हैं। मैंने अपने समाज की दिमागी गुलामी अंधविश्वास, कूपमंडूकता तथा मूर्खता आदि के उन्मूलन का बहुमुखी बीड़ा उठाया है।[40] प्रथम अंक के पंचम दृश्य में नारद के नेतृत्व में गठित प्रतिनिधि मंडल शम्बूक की योजनाओं का तोड़ निकालने पर विमर्श करता है। आर्य जाति की रक्षा के लिए हंसते-हंसते प्राण अर्पण करने का निश्चय होता है। उन्हें दशरथ की नीति ढुलमुल लगती है। तथा राम

वशिष्ठ के आज्ञाकारी हैं। बिना राजकीय सहायता के विजय उनके लिए असंभव जान पड़ती है। फिर वे राम को धोखे में रखकर अपनी योजना को अंजाम देने की सोचते हैं।[41] योजना अनुसार एक निर्धन लालची ब्राह्मण बालक को बेहोशी की दबा खिलाकर उसकी मृत्यु का दोष राम के मत्थे मढ़ देते हैं।[42] राम के द्वारा बुलायी गयी सभा(नारद के कुटिल साथियों से युक्त) निर्णय लेती है कि इसका हल तो वही ब्राह्मण बता सकता है। उनकी योजनानुसार शम्बूक को मार देने का निर्णय लिया जाता है।[43] राम शम्बूक के मानवाधिकारों की बात करते हुए कहते हैं कि क्या ब्राह्मण ही तप के अधिकारी थे शेष ईश्वर की संताने नहीं हैं? तब नारद राम को भड़काने के लिए कहते हैं कि शीघ्र ही आपके विरोध में एक बहुत बड़ी जनक्रान्ति होने वाली है--- आपको परास्त कर पद से अलग कर दिया जायोगा। यह महर्षि शम्बूक की बहुमुखी योजना है। इस बात को सुनते ही वशिष्ठ जी राम को शम्बूक के वध की आज्ञा देते हैं। राम भी ऐसा करने का प्रण लेते हैं।[44] तीसरे अंक के तीसरे दृश्य में राम-शम्बूक का संवाद होता है। शम्बूक के द्वारा मानवीय अधिकारों व अपने भाईयों की स्वतंत्रता की बात दोहराने पर राम प्रहार कर शम्बूक की हत्या कर देते हैं। बिलाप करती तुंगभद्रा राम के प्रति अन्यायी होने की बात करती हुई भावी संतानों के द्वारा सत्य को तराजू पर तौलने व अधिकारों को प्राप्त करने की बात के साथ ही प्राण छोड़ देती है। इसी के साथ पटाक्षेप हो जाता है। शम्बूक व तुंगभद्रा की समाधि पर श्रद्धांजलि के साथ नाटक पूर्ण होता है।

इस प्रसंग पर हिन्दी जगत् के कवियों ने भी लेखनी चलायी है – डॉ. जगदीश गुप्त शम्बूक वध में लिखते हैं कि -जो व्यवस्था व्यक्ति के सत्कर्म को भी मान ले अपराध, जो व्यवस्था फूल को खिलने न दे निर्बाध जो व्यवस्था वर्ग विषयक घातक व्यवस्था शीघ्र ही हो अस्त।[45] मेधा से मुझको पराजित नहीं कर पाए, केवल व्यवस्था के तर्क की पैनी धार से काटकर मेरा अस्तित्व, वध की क्रूर भाषा में कर दिया मेरी शंकाओं का समाधान, लेकिन निरुत्तर मैं नहीं हुआ, वही हुए।[46] गुप्त जी कहते हैं कि मेरी कृति में मनुष्यता से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं।[47] दलित कवि कंवल भारती लिखते हैं कि – 'लेकिन शम्बूक!' तुम इतिहास का सच हो, राजतन्त्रों में जन्मती असंख्य दलित चेतनाओं का प्रतीक, व्यवस्था और मानव के संघर्ष का विम्ब।----शम्बूक (हम जानते हैं) तुम उलटे होकर तपस्या नहीं कर रहे थे जैसा कि वाल्मीकि ने लिखा है, तुम्हारी तपस्या एक आन्दोलन थी जो व्यवस्था को उलट रही

थी।---- शम्बूक तुम्हें मालूम नहीं तुम्हारे वध पर देवताओं ने पुष्प वर्षा की थी, कहा था बहुत ठीक - बहुत ठीक; क्योंकि तुम्हारी हत्या दलित चेतना की हत्या थी, स्वतन्त्रता, समानता, न्याय बोध की हत्या थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति, रामजी उपाध्याय, पेरियारललई सिंह, जगदीश गुप्त तथा कंवल भारती आदि ने इस प्रसंग को अपने विचार अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। इस प्रसंग को लेकर राम पर आक्षेप लगने के कारण अनेक विद्वान् रामायण के उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त बताकर राम को अथवा कवि वाल्मीकि को इस कलंक से मुक्त कराने का प्रयास करते हुए प्रतीत होते हैं। अगर उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त मानते हैं तो व्यास(पद्मपुराण), कालिदास (रघुवंश), भवभूति (उत्तररामचरित) के पुराप्रसंगों को भी काल्पनिकता व मिलावट खोरी का पोषक मानना पड़ेगा। एक कवि को मुक्त करने के लिए सुदीर्घ परम्परा को कठघरे में खड़ा करना होगा। फिर तो आधी तज साजी को धावे, आधी मिले न साजी पावे, वाली बात हो जायेगी। पुराणों व महाभारत के अनेक प्रसंग जो ब्राह्मणों के संवर्धन के लिए ही समर्पित हैं का क्या होगा? इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि कथा वाचकों ने अपने आश्रयदाताओं को इस बात के लिए उकसाया हो कि वे उनको तो सशक्त करें पर जो लोग उनसे असहमत रहकर जनता में उनका खण्डन करते हैं उनको दण्डित करने में ही राजा का हित है। कालिदास ने राजा राम के हाथों शास्त्र विरुद्ध आचरण के दण्डस्वरूप शम्बूक के वध से यह संदेश भी दे दिया कि शूद्र का तप करना शास्त्र विरुद्ध होने से दण्डनीय है। शूद्र ऐसा दुस्साहस करने से बचें। अगर कोई शूद्र पुनः ऐसा करता है तो राजा का दायित्व है कि उसे दण्डित करे। इतना ही नहीं कवि कालिदास शम्बूक के वध को उसकी सद्गति कारक दिखाकर राम के इस कृत्य का संगतिकरण भी करते हैं पर उनका यह प्रयास पूर्ण सफल नहीं होता। तब कवि भवभूति को पुनः उद्यम करना पड़ता है। हत्या के बाद शम्बूक को दिव्यपुरुष के रूप में अवतरित कराकर राम के इस कृत्य को सामान्य बनाने के लिए शम्बूक के मुँह से कहलवाते हैं कि यमराज से अभय प्रदान करने वाले आपके द्वारा दण्ड दिये जाने पर वह बालक भी जीवित हो गया, तथा मेरा भी भला हो गया। यह शम्बूक आपके चरणों में प्रणाम करता है। साधु संगति से प्राप्त विनाश भी भवसागर से पार करने वाला होता है। आधुनिक आचार्य रामजी उपाध्याय ने तो मूल कथानक में बदलाव करते हुए राम के हाथों

शम्बूक का अभिषेक करवा दिया है। इस नाटक में कवि रामजी उपाध्याय ने शम्बूक को आर्य संस्कृति पोषक के रूप में वर्णित किया है। अनार्य आदिवासियों के विद्रोही स्वर शम्बूक के पिता (हिरण्यकेश) के माध्यम से वर्णित किये हैं। हिरण्यकेश का विद्रोह वनों के संरक्षण के लिए है। जो आचार्य रामजी उपाध्याय जी की दृष्टि में अनुचित नहीं है। हिरण्यकेश की हत्या भी ब्राह्मण बालक वेदपा के प्राण रक्षा के लिए की जाती है। वाल्मीकि, वेदव्यास, कालिदास तथा भवभूति के द्वारा शूद्र को तप के अनधिकार की बात (सर्वमान्यजनों द्वारा उक्त होते हुए भी, धर्मशास्त्रोक्त होते हुए भी) आचार्य रामजी उपाध्याय को स्वीकार्य नहीं है क्योंकि अब इसकी प्रासंगिकता नहीं रहीं। ऐसे बदलाव अति आवश्यक हैं जिससे साहित्य समाज हितैषी बना रहे। केवल साहित्यिक बदलाव ही नहीं सामाजिक बदलाव भी हो तभी इन प्रयासों की सार्थकता होगी। यह साहित्यकारों के जीवन में भी दिखना चाहिए।

संस्कृत जगत् के इतर हिन्दी जगत् में इस प्रसंग को लेकर लेखनी चलाई गयी। पेरियार ललई सिंह ने इस प्रसंग को भारतीय समाज में विभाजन व शोषण के कारण वर्ण व्यवस्था के खिलाफ विद्रोही स्वर के रूप मैं चित्रित किया है। इसमें शम्बूक आनार्यों के प्रति आर्यों के शोषणकारी व्यवहार के खिलाफ विद्रोह कर देते हैं। पेरियारललई सिंह के नाटक शम्बूक वध में शम्बूक आदिवासियों को शिक्षा के माध्यम से जागृत करके आदिवासियों को वर्णवस्था व शोषणकारी ब्राह्मणी षड्यंत्र से बाहर निकालना चाहते हैं। वे महाविद्यालय खोलते हैं, शोषण के खिलाफ आवाज उठाने के लिए समाजोद्धारक समिति का गठन भी करते हैं। ब्राह्मणों का विरोध दण्डनीय[48] मानकर शम्बूक की हत्या करके इस नियम को बरकरार रखा जाता है। दुष्परिणाम यह होता है कि चराचर वृन्द के द्वारा निर्वाण पद की प्राप्ति बाधित हो जाती है। अतः डॉ. जगदीश गुप्त सत्कर्म की विरोधी इस व्यवस्था को शीघ्र अस्त कर देना चाहते हैं। साथ ही डॉ. कंवल भारती शम्बूक की हत्या को दलित चेतना की हत्या, मानवता की स्वतन्त्रता, समानता, न्यायबोध की हत्या मानते हैं।

सबको मुक्ति के सिद्धान्त के विरोध में होने के कारण ही इस विषय पर यह वाद-विवाद कभी भी खत्म नहीं हो सकता। अतीत में क्या हुआ या पुरासाहित्यक घटनाओं को संजोये है पर विवाद खड़ा करने की अपेक्षा इस विषय

पर जोर दिया जाये कि आज समाज में क्या घटित हो रहा है? और उसका मूल्यांकन कैसे किया जा रहा है? पुरा साहित्य के संगतीकरण की अपेक्षा आज सारे भेदों को दूर कर मानवीय एकीकरण पर जोर दिया जाये। तभी सिद्ध होगा सर्वं खल्विदं ब्रह्म। मानवता अमानवीयता से मुक्त होने पर ही आचार्य रामजी उपाध्याय जी का सपना 'चराचरवृन्दैर्लब्धंपदनिर्वाणम्' जो कि मानवमात्र का सपना है, सिद्ध होगा।

सन्दर्भ -

1. शम्बूकाभिषेकम् 05.07

2. शम्बूकाभिषेकम् प्रथमोङ्कः हिरण्यकेशस्यवचनम्।

3. कुछ लोग द्विज का अर्थ ब्राह्मण करते हैं जबकि ''शमोदमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानंविज्ञानमास्तिक्यंब्रह्मकर्मस्वभावजम्।। गीता-18.42 शमोदमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम्। ज्ञानंदयाच्युता-त्मत्वं सत्यं च ब्रह्मलक्षणं।। भागवतपुराण-7. 11.21 के अनुसार वह एक द्विज मात्र है। जो अपने दुष्कर्मों के फल को राजा के मत्थे मढ़ने का उपक्रम करता है।

4. वाल्मीकीय रामायण उत्तरकाण्ड सर्ग-74 श्लोक-10

5. सत्युग में केवल ब्राह्मण तप करता है, द्वापर में क्षत्रिय तथा त्रेता में वैश्य भी तप करने लगा। कलियुग में शूद्र भी तप करने लगेगा। यहाँ उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है न कि ह्रास फिर पापकरक क्या है?

6. वाल्मीकीय रामायण उत्तरकाण्ड सर्ग-74 श्लोक-09

7. वाल्मीकीय रामायण उत्तरकाण्ड सर्ग-74.33

8. प्रविशुद्ध-समाचारामादर्श-तल-निर्मलाम्। पुष्पकस्थोमहाबाहुस्तदा- पश्यन्नराधिपः।। वाल्मीकीय रामायण- 75.12

9. तस्मिन्सरसितप्यन्तंतापसंसुमहत्तपः। ददर्शराघवःश्रीमाँल्लम्बमानमधोमुखम्।।

10. राघवस्तमुपागम्यतप्यन्तं तप उत्तमम्। उवाच च नृपोवाक्यंधन्यस्त्वमसिसुव्रत।। कस्यां योन्यां तपोवृद्धवर्तसेदृढविक्रम। कौतूहलात्त्वांपृच्छामिरामोदाशरथिर्ह्यहम्- कोऽर्थोमनीषितस्तुभ्यंस्वर्गलाभोपरोऽथवा। वराश्रयोयदर्थं त्वं तपस्यन्यैः सुदुश्चरम्।। यमाश्रित्यतपस्तप्तंश्रोतुमिच्छामि तापस। ब्राह्मणोवासि- भद्रंते क्षत्रियोवासिदुर्जयः। वैश्यस्तृतीयोवर्णो वा शूद्रो वा सत्यवाग्भव।। इत्येवमुक्तः स नराधिपेन अवाक्शिरादाशरथायतस्मै। उवाचजातिंनृप- पुङ्गवाययत्कारणंचैवतपः प्रयत्नः।।

वाल्मीकीय रामायण सर्ग-75.17-19 शूद्रयोन्यांप्रजातोस्मि तप उग्रंसमाधिस्थतः। देवत्वंप्रार्थये राम सशरीरोमहायशः।। नमिथ्याहंवदे राम देवलोकजिगीषया। शूद्रं मां विद्धि काकुत्स्थ शम्बूकं नाम नामतः।। भाषतस्तस्य शूद्रस्य खड्गं सुरुचिरप्रभम्। निष्कृष्यकोशाद्विमलंशिरश्चिच्छेदराघवः।। वा.रा.76.2-4

11. *तस्मिन् शूद्रे हते देवाः सेन्द्राः साग्निपुरोगमाः। साधुसाध्विति काकुत्स्थं ते शशंसुर्मुहुर्मुहुः।। वा.रा.76.5*
12. *रघुवंश - 15.43*
13. *रघुवंश-15.44*
14. *रघुवंश- 15.47*
15. *'पृष्टनामान्वयोराज्ञा स किलाचक्षधूमपः। आत्मानंशम्बूक नाम शूद्रंसुरपदार्थिनम्।।' (रघुवंश - 15.50)*
16. *तपस्यनधिकारित्वात्प्रजानां तमघावहम्। शीर्षच्छेद्यं परिच्छिद्य नियन्ता शस्त्रमाददे।। रघुवंश-15.51स तद्वक्त्रं हिमक्लिष्टकिञ्जल्कमिव पङ्कजम्। ज्योतिष्कणा-हतश्मश्रु कण्ठनालादपातयत्।। रघुवंश- 15.52*
17. *कूलदण्डः स्वयं राज्ञा लेभे शूद्रः सतां गतिम्। तपसा दुश्चरेणापि न स्वमार्गविलङ्घिना।। रघुवंश – 15.53,57*
18. *उत्तररामचरितम् 2.8*
19. *उत्तररामचरितम् - 2.10*
20. *उत्तररामचरितम् - 2.11*
21. *उत्तररामचरितम् - 2.13*
22. *शम्बूकाभिषेकम्- प्रथम अंक पृ.- 03*
23. *शम्बूकाभिषेकम्- प्रथम अंक पृ.- 06*
24. *शम्बूकाभिषेकम्- प्रथम अंक पृ.- 06 हिरण्यकेश कथन।*
25. *शम्बूकाभिषेकम्- प्रथम अंक पृ.- 07 हिरण्यकेशकीथन।*
26. *शम्बूकाभिषेकम्- प्रथम अंक पृ.- 08*
27. *शम्बूकाभिषेकं- पृ.11*
28. *शम्बूकाभिषेकं द्वितीय अङ्क- योगेश्वर कथन।*
29. *स स्वच्छन्द एव ऋषिचर्यं चरति। शम्बूकाभिषेकम्- प्रथम अंक पृ.- 07, शबरसंस्कृतिपरायणस्यस्वपुतुर्मनोगतमुपेक्ष्य राजकुमार ऋषीणां तपोमयीं संस्कृतिमाद्रियते। शम्बूकाभिषेकम्- द्वतीय अंक पृ.- 12*

30. *शम्बूकाभिषेकम्- द्वतीय अंक पृ.- 15*
31. *शम्बूकाभिषेकम्- तृतीय अंक पृ. 20*
32. *अन्तेवासी- सत्यानन्दस्याश्रमेऽन्तेवासीभूयपराविद्यामधीत्यस्नातकोऽभवम्। शम्बूका. अंक 4 पृ.22*
33. *प्रथम अंक के आरम्भ में कवि ने वन्य संस्कृति को हिरण्यकेश की संरक्षणीय संस्कृति के रूप में वर्णित किया है। वह कहता है कि 'वन्यजीवनेनाहमीदृशं विपर्ययंसोढुम-भिषिक्तः वनं सुरक्षितुं वनप्रदेशात्नागरिकाणां निष्कासनमपरिहार्यम्।' शम्बूकाभिषेक प्रथम अंक पृ. 06*
34. *शम्बूकाभिषेकम्पञ्चमोऽकः ऋषिवचन। पृ. 34*
35. *शम्बूक वध नाटक लेखक पेरियार ललई सिंह तथा राम अवतार पाल, सम्यक प्रकाशन दिल्ली। पृ. 17*
36. *वही*
37. *वही पृ. 22*
38. *वही पृ. 22*
39. *वही पृ. 17*
40. *वही पृ. 26*
41. *वही पृ. 29*
42. *वही द्वितीय अंक का पहला व दूसरा दृश्य तथा तृतीय अंक*
43. *वही पृ 56 नारद का कथन।*
44. *वही पृ 58*
45. *शम्बूक, डॉ. जगदीश गुप्त पृ. 45*
46. *शम्बूक, डॉ. जगदीश गुप्त पृ. 100*
47. *शम्बूक, डॉ. जगदीश गुप्त पृ. 15*
48. *'मोहि न सोहाइ ब्रह्मकुलद्रोही' --- मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव। मोहि समेत बिरंचिसिव बस ताकें सब देव।। सापत ताड़त परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता।। पूजहि बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना।। रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड-33 एवं उसके पूर्व एवं पर की चौपाईयाँ।*

14

संस्कृत काव्य परंपरा में शम्बूकाभिषेकम् नाटक

ठाकुर शिवलोचन शाण्डिल्य

संस्कृत साहित्य में प्राचीन काल से नाटकों की समृद्ध व विशद परम्परा रही है तथा परम्परा का यह प्रवाह अद्यावधिपर्यन्त अविरलतया सतत प्रवर्तमान है। संस्कृत के समकालीन अथवा आधुनिक नाटककारों में आचार्य रामजी उपाध्याय का मूर्धन्य स्थान है। आचार्य उपाध्याय संस्कृत साहित्यालोचन की परम्परा के आधुनिक आचार्यों में अग्रगण्य माने जाते हैं। काव्य की सभी विधाओं में आचार्य रामजी उपाध्याय का समान अधिकार परिलक्षित होता है। नाटक व उपन्यास लेखन की विधा में उनका वैदुष्य सर्वाधिक प्रचयप्राप्त प्रतीत होता है। इतिहास प्रसिद्ध कथानकों को समकालीन सामाजिक परिप्रेक्ष्य से सम्मिश्रित करके उसे प्रभावोत्पादक रीति से नाटकादि में कुशलतया निबन्धित कर देने में आचार्य सिद्धहस्त हैं।

'शम्बूकाभिषेकम्' आचार्य उपाध्याय का एक प्रसिद्ध नाटक है। इस नाटक के नाम से ही इसके नायक व इसकी कथावस्तु का सङ्केत स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः इसका उपजीव्य रामकथा है। वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकाण्ड के 73वें सर्ग की कथा के अनुसार एक ब्राह्मण श्रीराम के राजद्वार पर अपने मृत पुत्र को लेकर आता है तथा उसकी अकाल मृत्यु के लिये राजा श्रीरामचन्द्र के राज्य में प्रवर्तमान अधर्म के आधार पर राजा को ही दोषी ठहराते हुये विलाप करता है -

"रामस्य दुष्कृतं किञ्चिन्महदस्ति न संशयः।
यथा हि विषयस्थानां बालानां मृत्युरागतः।।"[5]

74वें सर्ग में महर्षि नारद द्वारा श्रीराम को उनके राज्य में किसी शूद्र द्वारा तपस्या करने के फलस्वरूप ही उस बालक की मृत्यु की सूचना दी जाती है –

स वै विषयपर्यन्ते तव राजन् महातपाः।
अद्य तप्यति दुर्बुद्धिस्तेन बालवधो ह्ययम्।।[6]

76वें सर्ग में श्रीराम द्वारा तपस्या करते हुये उस शूद्र को खोजकर उसके वध करने की कथा का वर्णन है। श्रीराम के द्वारा तपस्या का कारण पूछे जाने पर वह बताता है कि उसका नाम शम्बूक है तथा वह सदेह ही स्वर्गलोक जाकर देवलोक पर विजय पाने की इच्छा से तपस्या कर रहा है –

न मिथ्याहं वदे राम देवलोकजिगीषया।
शूद्रं मां विद्धि काकुत्स्थ शम्बूकं नाम नामतः।।[7]

उत्तरकाण्ड की कथा के अनुसार शम्बूक के मुख से उसका परिचय सुनते ही श्रीराम ने अपनी तलवार निकालकर तत्क्षण उसका शिरोच्छेद कर दिया तथा उस तपस्वी शूद्र का वध होते ही इन्द्र और अग्नि सहित सभी देवगण 'साधु साधु' कहकर श्रीराम की प्रशंसा करने लगे –

भाषतस्तस्य शूद्रस्य खड्गं सुरुचिरप्रभम्।
निष्कृष्य कोशाद् विमलं शिरश्चिच्छेद राघवः।।[8]

तदनन्तर समस्त देवताओं व ऋषिगणों द्वारा श्रीराम के अभिनन्दन व प्रशंसा का वर्णन किया गया है। वाल्मीकीय रामायण के इसी प्रकरण का उपजीव्य ग्रहण कर कालिदासादि ने भी शम्बूक की कथा का अपने-अपने ग्रन्थों में प्रकारान्तर से निबन्धन किया है।

शम्बूक के वध की यह कथा किसी भी निष्पक्ष पाठक को मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के निर्मल चरित्र के अनुरूप औचित्यपूर्ण व न्यायसङ्गत नहीं प्रतीत हो सकती है। श्रीराम द्वारा किसी परमतपस्वी का अकारण वध जनमानस को स्वीकार्य नहीं होता है। इसके विवादास्पदता का एक कारण यह भी है कि यह रामायण के उत्तरकाण्ड के उत्तरवर्ती सर्गों में निबन्धित है, जिसे अनेक विद्वान् रामायण का प्रक्षिप्त अंश मानते हैं ।

रामकथा का उपजीव्य स्वीकार करने वाले उत्तरवर्ती कवियों ने इस कथानक में यथायोग्य सम्मार्जन करने का प्रयास भी किया है। महाकवि कालिदास रघुवंशम् के 15वें सर्ग में इस कथा का वाल्मीकीयरामायण के अनुसार ही वर्णन करते हुये अन्त में श्रीराम के द्वारा शम्बूक की मुक्ति की सूचना देते है। कालिदास कहते हैं कि शम्बूक को तप से भी जो सद्गति प्राप्त न हो पाती, वह उसे श्रीराम के

हाथ से मृत्यु को प्राप्त करने के कारण मिल गयी - ''कृतदण्डः स्वयं राज्ञा लेभे शूद्रः सतां गतिम्। तपसा दुश्चरेणापि न स्वमार्गविलङ्घिना।।''[9]

यद्यपि महाकवि कालिदास ने श्रीराम के द्वारा तपस्वी शूद्र शम्बूक को मोक्ष प्रदान करने का उल्लेख करके रामचरित में कुछ उदात्तता के आधान का प्रयास किया है, तथापि वह शम्बूक के साथ अपेक्षित न्याय नहीं कर पाये हैं। भगवान् जीव मात्र के प्रति करुणा के आगारस्वरूप होते हैं, उनके चरित्र में दया की पराकाष्ठा व दाक्षिण्य की चरमसीमा होती है। भगवदवतारों में भी श्रीराम को तो मर्यादापुरुषोत्तम तथा विग्रहवान् धर्मस्वरूप कहा जाता है। ऐसी स्थिति में उनके द्वारा किसी तपस्वी के वध की सङ्गति नहीं उत्पन्न हो पाती है। जो भगवान केवट को गले लगाते हैं, निषादराज गुह से मित्रता निभाते हैं, सुग्रीव जैसे कृतघ्न वानर व विभीषण जैसे राक्षस कुलोद्भव का राज्याभिषेक करवाते हैं तथा शबरी जैसी वनवासिनी के जूठे बेर प्रेमपूर्वक खाते हैं, उन भगवान् श्रीराम द्वारा तपस्या करते हुवे शम्बूक का वध केवल उसके शूद्र वर्ण में उत्पन्न होने के कारण ही कर देना न्यायोचित व युक्तिसङ्गत कथमपि नहीं लगता है सम्भवतः रामचरित में इस कथानक के सङ्गतिकरण के उद्देश्य से ही महाकवि भवभूति ने इस कथानक का यथोचित परिमार्जन किया है। यहाँ आकाशवाणी के द्वारा श्रीराम को सूचना मिलती है कि शम्बूक नामक कोई वृषल इस पृथिवी पर तप कर रहा है, उसका शीर्षच्छेद करके द्विजपुत्र को पुनर्जीवित किया जाये – ''शम्बूको नाम वृषलः पृथिव्यां तप्यते तपः। शीर्षच्छेदः स ते राम तं हत्वा जीवय द्विजम्।।''[10]

भवभूति के राम दण्डकारण्य में शम्बूक तपस्या में निरत शम्बूक के वध के लिये उसपर खड्ग उठाते हुये करुणा से भर जाते हैं तथा आत्मग्लानि से परिपूर्ण होकर कहते हैं – ''रे हस्त दक्षिण मृतस्य शिशोर्द्विजस्य जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम्। रामस्य गात्रमसि निर्भरगर्भखिन्न-सीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते।।''[11]

यहाँ श्रीराम के कृपाण के प्रहार से शम्बूक दिव्य पुरुष के रूप में परिणत हो जाता है तथा श्रीराम की चरणवन्दना करते हुये कहता है कि उनके अनुग्रह से द्विजपुत्र तो पुनर्जीवित हो ही गया, साथ ही साथ शम्बूक को भी समृद्धि प्राप्त हो गयी-''शम्बूक एष शिरसा चरणौ नतस्ते सतसङ्गजानि निधनान्यपि तारयन्ति।''[12] महाकवि भवभूति ने श्रीराम व शम्बूक दोनों के चरित्र को उदात्तता प्रदान करने का प्रयास किया है। शम्बूक से विदा लेते समय राम की आँखें करुणा से भर उठती हैं।

शम्बूक को आशीर्वाद देते हुये श्रीराम कहते हैं कि उसकी समृद्धि श्रीराम के अनुग्रह से नहीं अपितु उसके कठोर तप के फलस्वरूप प्राप्त हुई है, अतः वह दिव्य विषयभोग तथा अणिमादि ऐश्वर्य का लाभ प्राप्त करते हुये नित्य-आलोकमय वैराज-नामक ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित हो – ''यत्रानन्दाश्च मोदाश्च यत्र पुण्याश्च सम्पदः। वैराजा नाम ते लोकास्तैजसा सन्तु ते शिवाः।।''[13]

श्रीराम के अनुग्रह के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुये दिव्यरूप में परिणत शम्बूक उन्हें शरणागतवत्सल के रूप में सम्बोधित करते हुये कहता है कि यह उसके तप का ही फल है कि उसे मुक्त करने के लिये चराचराधिपति श्रीराम उसे खोजते हुये स्वयं सैंकड़ों योजन लाँघकर दण्डकारण्य आये हैं। इस प्रकार उत्तररामचरित का प्रकृत कथानक अपेक्षाकृत सम्मार्जित व न्यायोचित प्रतीत होता है।

आचार्य रामजी उपाध्यायविरचित 'शम्बूकाभिषेकम्' नाटक भी इस कथानक में न्यायोचित सम्मार्जन के उद्देश्य से ही प्रवर्तित होता है। नाटक की भूमिका में ही आचार्य उपाध्याय स्पष्ट कर देते हैं कि वाल्मीकि, भास, कालिदास, भवभूति, तुलसीदास आदि महाकवियों को जिस निर्मल रामचरित ने अपनी अनुपम काव्यरस-निर्झरिणी को प्रवाहित करने के लिये प्रेरित किया है, उसकी वर्चस्विता व उपजीव्यता निस्सन्देह असीम है। तथापि उसमें यदि त्रुटिवश कुछ धब्बे आ गये हैं, तो श्रीराम के सनाम होने के कारण आचार्य रामजी उपाध्याय के लिये भी वे धब्बे असह्य ही हैं। आचार्य उन धब्बों को धो डालने की प्रतिज्ञा करते हैं। रामचरित में प्रतिभासित होते इन धब्बों के स्रोत व हेतु का अन्वेषण करते हुये आचार्य कहते हैं कि ये धब्बे कहाँ से कैसे आये? इस प्रश्न का समाधान करना वे अनावश्यक ही मानते हैं तथापि इस विषय में उनका मत है कि रामकथा के मूल रचयिताओं से बढ़कर क्षेपककारों की वाह-वाही पाने की कामना ही इसका मुख्य कारण है।

वस्तुतः शम्बूक के कथानक में इसी प्रकार कतिपय क्षेपककारों का दुष्कृत्य परिलक्षित होता है। आचार्य रामजी उपाध्याय स्पष्ट करते हैं कि राम के द्वारा शूद्र मुनि शम्बूक का वध केवल उसके तप करने के कारण निर्दयतापूर्वक कर देने की बात उनके गले नहीं उतरती। शूद्र का तप करना वस्तुतः कोई अधर्म नहीं है। राम के पहले और पीछे अनेक शूद्र उच्च-कोटि के ऋषि-मुनि और महातपस्वी हुये हैं। अतः रामकथा के इस धब्बे को धो डालने के लिये आचार्य रामजी उपाध्याय ने 'शम्बूकाभिषेकम्' नामक पाँच अङ्कों वाले नाटक की रचना की है ।

नाटक के प्रथम अङ्क की कथा के अनुसार प्राचीन काल में दक्षिणापथ में हिरण्यकेश नामक एक शबर राजा शासन करता है। हिरण्यकेश एक प्रकृतिप्रेमी शबरराज है, जिसे अपने वन तथा वन्य पशु-पक्षियों तथा पेड़-पौधों से अतिशय प्रेम है। परन्तु वह उन नागरिकों पर क्रुद्ध है जो वन को भी उपनिवेश बनाकर उसकी निर्मलता को नष्ट करने में लगे हैं तथा वनवासियों को भी कष्ट प्रदान कर रहे हैं। अपने सचिव अरण्यपाल से परामर्श करने पर वह इस निश्चय पर आता है कि वन में तपस्या करने वाले ऋषि-मुनियों का आश्रय लेकर ही नागरिक भी वन में आते हैं, अतः सभी ऋषियों को ही यदि वन से निष्कासित कर दिया जाये तो नागरिक भी पुनः वन में आकर उसे प्रदूषित करने का दुस्साहस नहीं करेंगे। परन्तु इस कार्य में हिरण्यकेश के लिये बड़ी समस्या यह उपस्थित होती है कि उसका पुत्र शम्बूक स्वयं ही ऋषियों के प्रभाव में आकर राजभवन छोड़कर भाग गया है। उसे खोजने के लिये हिरण्यकेश अपने सुमति नामक गुप्तचर को नियुक्त करता है।

द्वितीय अङ्क की कथा के अनुसार शम्बूक को चिरकाल तक सर्वत्र खोजते हुये सुमति की भेंट एक सघन वन में योगेश्वर नामक मुनि से होती है, जो उसे बताते हैं कि शम्बूक दण्डकारण्य क्षेत्र में गोदावरी नदी के तट पर महर्षि सत्यानन्द के आश्रम में ब्रह्मविद्या का स्नातक बनने के लिये अध्ययन कर रहा है।

तृतीय अङ्क में दक्षिणापथनिवासी कूटस्थ नामक ब्राह्मण अयोध्या के राजा श्रीराम से मिलकर उनसे निवेदन करता है कि महर्षि सत्यानन्द के आश्रम में अध्ययन कर रहे उनके पुत्र वेदपा का शबरराज हिरण्यकेश ने अपहरण कर लिया है, अतः श्रीराम उसके पुत्र को मुक्त कराकर उसकी प्राणरक्षा करें।

चतुर्थ अङ्क में श्रीराम वेदपा की रक्षा हेतु दक्षिणापथ पहुँचते हैं, तो वहाँ उन्हें एक वृक्ष की शाखा से उल्टा लटका हुआ शम्बूक दिखाई देता है, जो श्रीराम द्वारा विमुक्त कराये जाने पर उन्हें अपना परिचय देते हुये बताता है कि ऋषियों के प्रति श्रद्धा रखने वाले अन्य वनवासी शबरजनों के मन में भय उत्पन्न करने के लिये उसके पिता हिरण्यकेश ने उसे यह घोर दण्ड दिया है तथा उसके अभिन्न मित्र वेदपा की बलि देने के लिये उसे काली-मन्दिर ले जाया गया है। श्रीराम तत्काल काली-मन्दिर पहुँचकर हिरण्यकेश का संहार करते हैं और बलि-बन्धन में बंधे वेदपा को बन्धन मुक्त करते हैं।

पञ्चम अङ्क में हिरण्यकेश के सशरीर स्वर्गारोहण के उपरान्त श्रीराम स्वयं अपने हाथों से शम्बूक का राज्याभिषेक करते हैं तथा उसके मित्र ब्राह्मण पुत्र वेदपा को शम्बूक का महामन्त्री नियुक्त किया जाता है। तदनन्तर श्रीराम शम्बूक व अन्य शबरजनों को सात्त्विक जीवन अपनाने का उपदेश प्रदान करते हैं । इस प्रकार नाटक की सुखद व कल्याणकारिणी परिसमाप्ति होती है।

इस लघुकथा वस्तु वाले नाटक में आचार्य रामजी उपाध्याय ने विभिन्न रामचरितकारों के कथावस्तु का यथायोग्य समायोजन करते हुये अपनी मनीषा से वाल्मीकीय रामायण के क्षेपक-मल का कुशलतया अपकर्षण किया है। समकालीन परिप्रेक्ष्य में शम्बूक प्रकरण जिस प्रकार सर्वत्र दलित-विमर्श के क्षेत्र में आलोचना का बिन्दु बनता रहता है, वहाँ यह नाटक-प्रयोग रामचरित के इस धब्बे को धो डालने का स्तुत्य प्रयास कहा जा सकता है।

शबरराज हिरण्यकेश में असुरराज हिरण्यकश्यप की तथा उसके पुत्र शम्बूक में भक्तराज प्रह्लाद की छवि दृष्टिगोचर होती है। शबरराज हिरण्यकेश यद्यपि निर्दयी व अनैतिक है, तथापि उसका अपने निवास क्षेत्र व शासन क्षेत्ररूपी वन तथा वन्यजीवों से प्रेम प्रशंसनीय है। उसके इसी पुण्य के फलस्वरूप उसे श्रीराम के हाथों मुक्त होकर शरीर स्वर्गगमन का अवसर प्राप्त होता है। पर्यावरण संरक्षण के दृष्टिकोण से समसामयिक परिप्रेक्ष्य में आचार्य उपाध्याय की यह विषय-योजना प्रभावोत्पादक व उल्लेखनीया है ।

शबरकुमार शम्बूक का ब्रह्मविद्याध्ययन तथा ऋषि-मुनियों द्वारा उसके व्यक्तित्व की प्रशंसा अस्पृश्यता की सामाजिक कुरीति के उन्मूलन हेतु साङ्केतिक सन्देश सिद्ध होता है। दलित-विमर्श का संस्कृत-नाटक-परम्परा में ऐसा उदात्त निदर्शन आह्लादित करने वाला प्रतीत होता है।

भगवती के प्रति बलिदान को लेकर जाते हुये निरीह ब्रह्मचारी वेदपा पर स्वयं भगवती काली के अनुग्रह से हिरण्यकेश की तलवार के छूटकर दूसरी ओर गिर जाने के चित्रण से आचार्य ने धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसात्मक गतिविधियों पर प्रहार किया है। आचार्य ने सिद्ध करने का प्रयास किया है कि देवता स्वयं नहीं चाहते कि किसी निरीह प्राणी की हिंसा हो। इस प्रकार अन्त में शम्बूक के राज्याभिषेक से इस क्रान्तिकारी नाटक का कल्याणकारी समापन होता है । निश्चय

ही यह नाटक समाज के लिये प्रेरणाप्रद व अनुकरणीय है। यह केवल अतीत के अपराध का ही परिमार्जन नहीं करता है, अपितु भविष्य के सामाजिक-सामरस्य की पृष्ठभूमि को भी सुव्यवस्थित करता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यह नाटक और भी अधिक प्रासङ्गिक सिद्ध होता है।

सन्दर्भ -

1. *नाट्यशास्त्र 1/104*
2. *साहित्यदर्पण 6/1*
3. *काव्यालङ्कारसूत्र 1/3/30*
4. *दशरूपक 3/1*
5. *वाल्मीकीयरामायण 7/73/10*
6. *वही, 7/74/28.5*
7. *वही, 7/76/3*
8. *वही, 7/76/4*
9. *रघुवंशम् 15/53*
10. *उत्तररामचरितम्, 2/8*
11. *वही, 2/10*
12. *वही, 2/11*
13. *वही, 2/12*

15

शम्बूकाभिषेकम् में सामाजिक जन–जीवन

जहाँआरा

साहित्य और सामाजिक जीवन के बीच अपना एक अलग ही सम्बन्ध होता है। साहित्यकार समाज में कितनी ही तटस्थता का दावा क्यों न करे, जाने अनजाने सामाजिक जीवन के प्रभाव को वह अवश्य ग्रहण कर उसी को अपनी रचना में अभिव्यक्त कर ही देता है क्योंकि साहित्यकार भी समाज से अलग नहीं है, वह भी एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में जन्म लेता है उसी में पलता बढ़ता है और उसका अन्त भी समाज में होता है। उसकी कल्पनाएं संसार सागर रूप तरंगों से ही प्रेरित तथा अनुशासित होती हैं। ऐसी स्थिति में समाज तथा साहित्यकार और उसकी कृति के पारस्परिक अविच्छेद सम्बन्ध स्पष्ट होकर सामने आ जाते हैं। सीधी सी बात है जिस युग में साहित्यकार ने अपनी रचना को रूप दिया है, उस युग में कौन-कौन सी सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, स्थिति-परिस्थिति व समस्याऐं थीं, ये सारे परिदृश्य उनकी रचनाओं में स्वतः ही मुखरित हो जाते हैं। तद्युगीन समाज में प्रतिबिम्बित समस्याएं न केवल तत्कालीन समाज की समस्याएं हैं, अपितु वर्तमान समाज में भी ये समस्याएं किसी न किसी रूप में प्रबल हैं जिनका अन्त होना ही चाहिये।

आर्थिक-स्थिति - अध्येय नाटक में यदि हम देखें तो नागरिकों का वनवासियों के जन-जीवन में बहुत हस्तक्षेप हुआ करता था। ये अपनी आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिये वन्य जीवन की सात्विक सुषमा तक को क्षीण कर देते थे। वृक्षों-लताओं को काट डालते थे, साथ ही साथ आखेट भी इनका मनोरंजन का साधन होता था। हंस, मयूर, कोयल, शुक आदि पक्षियों का ये आनन्द के लिये आखेट किया करते थे,[1] तथा अपने शौक के लिये इन पक्षियों को पिंजरे में कैद कर देते थे। इनकी कल्पनाएं यहीं तक सीमित नहीं थीं ये लोग नदियों और झरनों पर

बांध बना दिया करते थे। जरा सोचें जिस भूमि पर आपका जन्म हुआ हो, जिस वायु में आप सांस लेते हों, जिन नदियों-तथा झरनों का जल पीकर आप बड़े हुए हो तथा जिन पक्षियों की कलरव सुनकर जीवन की हर सुबह-शाम प्रारम्भ और समाप्त होती हो ऐसे स्वर्ग जैसे आंगन को कोई समाप्त करना चाहता हो तो उस मनुष्य को कितना कष्ट होगा ।

वही शम्बूकाभिषेकम् नाटक में एक ऐसा ही पात्र हिरण्यकेश था। उसे इस बात का तो कष्ट था कि नगरवासी वन्य जीवन की सात्विक सुषमा को क्षीण कर रहे हैं, किन्तु उसे इस बात का अधिक अफसोस था कि शहरी लोग वनवासियों में शहरी चमक-दमक, अपने वस्त्राभूषण, भोजन, पेय और मनोरंजन की ललक उत्पन्न कराकर उन्हें अपने शहर ले जाकर अत्यधिक श्रम कराते हैं।[2]

शम्बूकाभिषकम् में हिरण्यकेश नामक पात्र भी अपने वनवासियों के नगर जाकर उनसे अधिक मजदूरी कराये जाने पर आहत था।[3]

धार्मिकस्थिति - अरण्यपाल से परामर्श करने पर हिरण्यकेश के मन में यह बात बैठ जाती है कि ऋषियों का आश्रय लेकर ही नागरिक वन में आने और बसने का साहस करते हैं।[4] हिरण्यकेश के मन में यह विचार आने लगा कि यदि वन से ऋषियों को भगा दूँ तो अपने आप ये नगरवासी वन में आना बन्द कर देगें। परन्तु उसके लिये कठिनाई यह थी कि उसका पुत्र शम्बूक और उसके साथी ऋषियों से प्रभावित होते जा रहे थे। हिरण्यकेश ने अपने पुत्र शम्बूक को ऋषियों से अलग करने के लिये उसे बहुत समझाया, किन्तु उसके पुत्र ने उसकी एक न सुनी और राजभवन को छोड़कर भाग गया।[5] हिरण्यकेश शम्बूक के भाग जाने पर सुमति नामक गुप्तचर को नियुक्त करता है, किन्तु कई महीनों तक उसे शम्बूक का पता न लग सका। एक दिन उसकी भेंट मुनिवर योगेश्वर से होती है जिनके माध्यम से उसे ज्ञात होता है कि शम्बूक आन्ध्र प्रदेश में गोदावरी तट पर सत्यानन्द के आश्रम में ब्रह्म विद्या का स्नातक बनने वाला है।

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में निम्न वर्ग के लोग भी पूजा-पाठ करते थे, ऋषियों के आश्रम में उनका आना-जाना होता था क्योंकि शम्बूक शबर जाति का है और शबर जाति निम्न वर्ग के अन्तर्गत आती है।[6] यहाँ तक कि शम्बूक के पिता राजा हैं, फिर भी शम्बूक राजभवन को त्यागकर आश्रम को महत्त्व देता है। निःसन्देह इससे उसकी धार्मिकता प्रदर्शित होती है। उसके अनुसार ऋषियों की संस्कृति ही अपनानी चाहिये; क्योंकि वह देखता है कि

शबरों की परम्परागत हिंसामयी प्रवृत्तियाँ मननशील व्यक्ति को शान्ति प्रदान करने के लिये समीचीन नहीं हैं। उसके जीवन में सात्विक जीवन के परानन्द की झलक दिग्दर्शित होती है। शम्बूक एक ऐसा पुत्र है जो अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध राजभवन को त्यागकर महर्षि सत्यानन्द के आश्रम में तपोमय जीवन बिताता है। यहाँ तक कि उसके पिता उसके मिलने पर कठोर दण्ड भी देते हैं, उसे पेड़ पर सिर नीचे पैर ऊपर कर लटका देते हैं।[7] वस्तुतः सिर नीचे पैर ऊपर कर वटवृक्ष की डाल में लटकाकर उसे पंचाग्नि तपाने का पिता का उपक्रम विश्व के इतिहास में विरले ही देखने को मिलता है। इस नाटक के अनुसार शम्बूक को असुर राज हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लाद की सरणि पर चलते हुए देख सकते हैं। हिरण्यकेश अपने पुत्र शम्बूक के लिये वैसा ही कठोर है जैसे प्रह्लाद के लिये उसका पिता। वहीं उसका पुत्र उलटा लटका रह लेता है, पर क्षमाप्रार्थी बनकर पिता का आश्रय नहीं ग्रहण करता।

वैसे देखा जाये तो वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति ने क्रमशः रामायण, रघुवंश और उत्तररामचरित में यह लिखा है कि शूद्र को तपस्या करने का अधिकार नहीं है। इन तीनों ही ग्रन्थों में शूद्र-तपस्वी शम्बूक को दण्ड दिया गया है। किन्तु अच्छी बात यह है कि इस दुराग्रह से 'शम्बूकाभिषेकम्' नाटक मुक्त है।

राजनीतिक स्थिति - इस नाटक में राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। वे ऐसे राजा हैं जिनके दरबार में कभी भी कोई भी अपनी इच्छापूर्ति एवं सहायता के लिये आ सकता था। लोकहित और दूसरों की आवश्यक्ताओं को पूरा करने के लिये वह सदैव तत्पर रहते थे। राम के लिये कोई कार्य तुच्छ नहीं था, वह किसी भी विपत्तिग्रस्त की सहायता के लिये अविलम्ब चल देते थे। जब कूटस्थ नामक दक्षिणापथ के ब्राह्मण ने उनसे बताया कि वेदपा नामक मेरे पुत्र को हिरण्यकेश ने अपहरण कर लिया है तो वह उसकी सहायता के लिये स्वयं चल पड़ते हैं, सेना नहीं भेजते।[8] सचमुच आज भी हम ऐसे राजा की कामना करते हैं क्योंकि ''राजैव कर्ता भूतानां राजैव च विनाशकः"।।[9] राम को सर्वप्रथम मार्ग में दुर्दशाग्रस्त पेड़ की डाल से लटका मुख नीचे पैर ऊपर किये हुए शम्बूक मिला। राम ने सर्वप्रथम शम्बूक को बन्धन- मुक्त किया।[10] इसके बाद राम वेदपा को भी बन्धनमुक्त करते हैं।[11]

अपहरण की समस्या - वहीं नाटक में वेदपा का हिरण्यकेश के द्वारा अपहरण कर लेना[12] यह दर्शाता है कि स्थितिवश समाज में अपहरण जैसी समस्याएँ भी विद्यमान थीं।

घनिष्ठ मित्रता - इस नाटक में शम्बूक और वेदपा की मित्रता का जो वर्णन हमें देखने को मिलता है वह सचमुच प्रशंसनीय है। उनकी मित्रता एक -दूसरे के लिये समर्पित है। इनकी मित्रता इतनी उदात्त है कि वह एक दूसरे के बिना जीने में असमर्थ हैं। शम्बूक वेदपा की बलि की चर्चा मात्र से रोने लगता है।[13] वह राम को बताता है कि मेरे पिताश्री सन्ध्या के समय काली मन्दिर में उसे देवी के लिये बलि दे देंगे।

बलि-प्रथा - वेदपा की नाटक में बलि चर्चा से यह द्योतित होता है कि तत्कालीन समाज में पुरुषों की भी बलि दी जाती थी।[14] माता काली में श्रद्धा और विश्वास - इस नाटक में वेदपा असाधारण रूप से धीर और प्रगल्भ है। गले पर तलवार चलने की घड़ी में भी वह घबराता नहीं है, अपितु वह काली का स्मरण करता है। वेदपा को बचाती तो काली माँ हैं, परन्तु इसमें प्रेरणा राम की है ।[15]

प्रकृति-प्रेम - 'शम्बूकाभिषेकम्' में प्रकृति का मानवीकरण पूर्णतः प्रस्फुटित हुआ है। इसके प्रथम अंक में पूर्ण रूप से प्रकृति का वर्णन हुआ है।[16] तत्कालीन समाज में वनवासी प्रकृति के पुजारी हुआ करते थे। इसका प्रमुख उदाहरण दक्षिणापथ का हिरण्यकेश नामक शबर राजा था। उसको सात्त्विक सेवा का फल मिलता है कि प्रकृति उसे स्वर्ग सुख प्रदान करा देती है।[17] वरना बलि देने वाला तो नरकगामी होता था। तद्युगीन समाज में नगरवासी वन में उपनिवेश बनाकर अपने सुख-सौरभ के लिये वन्य जीवन की सुषमा को क्षीण कर देते थे।

सन्दर्भ -

1. शम्बूकाभिषेकम् -1 पृ. सं.-5
2. वही -1 पृ. सं. -5
3. शम्बूकाभिषेकम् -1 पृ. सं.-6
4. वही -1 पृ. सं.-6
5. वही -1 पृ. सं.-7
6. अनुशासनपर्व. - 35.17, शान्ति पर्व.- 65.13
7. शम्बूकाभिषेकम् - 2 पृ. सं.-14
8. शम्बूकाभिषेकम् - 4 पृ. सं.-21
9. शान्ति पर्व - 92.8
10. शम्बूकाभिषेकम् 4- पृ. सं.-22
11. वही 4 - पृ. सं.-26
12. वही 4 - पृ. सं.-23
13. वही 4 - पृ. सं.-23-24
14. वही 4 पृ. सं.-23-24
15. वही 4 पृ. सं.-26
16. वही पृ. सं.-11-12
17. वही 4 पृ. सं.-25

16

सहकारी सरोकार का रंग लोक : अशोक-विजयम्

अजय कुमार मिश्र

कवि-समीक्षक तथा संस्कृत नाट्य साहित्य को लेकर लिखे गये प्रारंभिक सार्थक इतिहासपरक ग्रंथ के प्रणेता आचार्य रामजी उपाध्याय के नाटक 'अशोक-विजयम्'[1] क़िस्म के नाटकों का लेखन सामान्यतः मध्यकाल में पढ़ने को मिलता है। उसी कड़ी में प्रस्तुत नाटक को भी बढ़ते कदम माना जा सकता है। उस नाटक को दार्शनिक कोटि का साहित्य माना जा सकता है। यह तथ्य अलग है कि नाटककार उपाध्याय ने भारत की सांस्कृतिक विरासत के नॉस्टॉल्जिक घटाटोप में मौर्यवंश का तथा भारत के महान् शासक अशोक के कलिंग विजय के बाद उसके अहिंसात्मक हृदय परिवर्तन के ताने-बाने में पाँच अंकों के साथ समापन किया है। अतः आचार्य उपाध्याय ने अपने इस नाटक को भारतीय इतिहास तथा इसके दार्शनिक चिंतनों को रूपायित करने का प्रयास किया है। अतः इस रचना को साहित्य तथ इतिहास के पन्नों का एक साझा हिस्सा माना जाना चाहिए। इस सबब से भी इस रचना का अपना ख़ास महत्त्व लगता है। यह बात अलग है कि नाटककार ने इसकी भूमिका में अशोक के कई शिलालेखों के संदर्भों के ज़िक्र को प्रस्तुत कर अपने इतिहास चेतना से पाठक/दर्शक को रूबरू करना चाहा है। लेकिन यह भी सच है कि प्रस्तुत कृति मूलतः कलिंग युद्ध के बखान तथा अपने बहादुर जल सेनापति सुधन्वा का कलिंग के दुश्मनों द्वारा धोखा देकर हत्या किये जाने पर उसकी माता सुधर्मा द्वारा आत्मदाह कर के स्वर्ग जाकर अपने शहीद पुत्र से मिलने की खबर[2] सुनकर तथा उसके विविध दार्शनिक लोक चिंतन के तर्कों को सुनकर[3] अशोक द्वारा अपने विश्वविजय के अभियान को लात मारे जाने की घटना[4] तथा आध्यात्मिक गुरु ऋषि सर्वज्ञ के मार्गदर्शन[5] तथा ब्रह्मा[6], विष्णु[7] महेश[8] के आशीष के माध्यम से रक्त रंजित विश्वविजय कामना की जगह वैश्विक समरसता तथा

आपसी सामंजस्य से दुनिया भर में शांति स्थापना का आध्यात्मिक तथा दार्शनिक रूप में सिरकत आज के वैश्विक तनाव तथा दुनिया में तीसरे विश्वयुद्ध के मँडराते बादल को देख इस नाटक का फलसफ़ा बड़ा ही प्रासंगिक हो गया है। वस्तुतः तीन-चार साल पहले जो ह्वाइट टेररिज़्म (white terrorism) की अवधारणा की बात उठायी गई है। उस मिजाज़ के खिलाफ़ वेदोक्त वचन 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का पालन अशोक ने सबसे पहले दुनिया को बताया है। इसका कारण यह है कि आज कैसे विकसित देश विकासशील देशों को विविध प्रलोभन देकर अपने दुश्मन देशों को ठिकाना लगाने के लिए अपने प्रलोभित देशों में शस्त्रास्त्र आदि का जमावड़ा जमा कर वैश्विक तनाव, जाति-धर्मगत दुर्भावनाओं की साज़िश रचने के खेल करते हैं। यही तो 'ह्वाइट टेररिज़्म' का फलसफा है।

अतः अशोक के उस वचन को आज याद ही नहीं बल्कि अनुसरण भी किया जाना चाहिए जो वह कलिंग युद्ध की विभीषिका की चर्चा अन्तियोक नामक राजा से करते हुए कहता है कि हम लोगों को न केवल अपने देश, जन भूमि तथा संस्कृति को युद्ध की अग्नि की लपेटों में नहीं फेंका जाना चाहिए, अपितु युद्ध की विभीषिका से पूरी दुनिया को महफूज रखा जाना चाहिए।[9] अशोक के इस नग्न सत्य को सुन कर अन्तियोक का भी दिल पिघल जाना गौर करने का तथ्य है।[10]

आज विश्व पर मँडराते आण्विक खतरों को टालने तथा जनमानस, आम जनता तथा खेतिहर समाज के कल्याण की बातें करते हैं उसका स्पष्ट स्वर आचार्य रामजी उपाध्याय के इस अहिंसा, करुणा तथा दार्शनिकता के त्रिवेणी साहित्य में गुंजायमान लगता है। पाँचवें अंक में सैन्य मंत्री[11] तथा सेनापति[12] के बीच अशोक के अहिंसक होने तथा युद्ध से सदा के लिए उसके अपने मुँह मोड़ लेने के सवाल-जवाब जहाँ युद्ध के न होने की सार्थकता को एक वैश्विक तथा युगीन आयाम देता मालूम पड़ता है वहीं उसमें भारतीयता तथा अतीव गौरव की ऊष्मा भी लगती है। सैन्य मंत्री अशोक के इस इटोपियन अवधारणा पर कुछ सवाल उठाता है।[13]

प्रस्तुत सवाल आज के एक अंग्रेजी कहावत - 'नो पीस विदाऊट वार' की ओर घूमता दिखता है। कुछ ऐसा ही सवाल प्रथम महामात्र भी प्रधानमंत्री के सामने रखते हुए कहता है - ऐसा अहिंसक व्रत कितना मुमकिन होगा, पता नहीं।[14] साथ ही साथ सैनिकों के बीच यह भी सवाल उठता है कि देश के तोपो/असलों का अब क्या होगा। इन सब प्रश्नों को सेनापति जिस सटीकता तथा लोक/किसान जन्म सर्वहारा समाज के उत्थान तथा उनके चतुर्दिक विकास की बात करता है, वह कथन अब

कोई और देश-समाज तथा उसकी मानवता को निगलने वाला नागासाकी या हिरोशिमा न बन सके, उस आशय को समझने के लिए पर्याप्त है। सेनापति का साफ़ एलान है कि इन शस्त्रास्त्रों के उपकरणों को खेतिहर समाज तथा उनके कृषक औज़ार को बनाने में लगना चाहिए। यद्यपि बहुत सारे इतिहासकार अशोक के इस जनकल्याणपरक सार्वभौमिक उदात्त भावना को अपने इतिहास के पन्नों में तरजीह देते नहीं दिखते हैं। लेकिन नदीष्ण फिर भी संस्कृत के समसामयिक नाटककारों में अमूनन हाशिए पर धकेले गये उर्जस्वी नाटककार आचार्य रामजी उपाध्याय ने आचार्य मम्मट के कान्तासम्मितउपदेश के जरिये आज के नाट्य-साहित्य को एक नयी आभा दी है - जिसे आम पाठक भी पढ़कर इसका तस्दीक कर सकता है कि संस्कृत साहित्य जितना श्रृंगार प्रधान है, उससे जरा भी कम अपने जन, भूमि तथा संस्कृति के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद में जनमानस को भी राष्ट्र की मुख्यधारा से जोड़ने में सदा संलग्न है। खेतिहर समाज, कर्मकार तथा आम जनता को आज के राफ़ेल जैसे सामरिक संसाधनों को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाना भी ग़ौरतलब है।[15] लेकिन हमें इसका भी थोड़ा ख़्याल रखना चाहिए कि आचार्य उपाध्याय अपने इस मानोखेज़ नाटक में जिस भारतीय सांस्कृतिक-ऐतिहासिक नॉस्टौल्ज़िया के माध्यम से हाइपरवोलिक विश्व बन्धुत्व की वकालत करते हैं। और महामात्र के पूछे जाने पर कि इस तरह का अहिंसात्मक विश्वविजय को हवाई किला बनाना आखिर कैसे संभव है और क्या ऐसा कभी हुआ भी है ?तो प्रधानमंत्री द्वारा भारत के बेजोड़ नज़ीर के रूप में मान्धाता तथा जनमेजय का नाम गिनाया जाना आज के सामरिक तनाव के वातावरण में अपनी कितनी गुंजाईश बना पाएगा, यह तथ्य भी सोचने का है। नाटक का प्रथम महामात्र कहता है कि दुनिया के लोगों का अपना-अपना स्वभाव होता है।[16] अर्थात् युद्धप्रिय राजा शांतिप्रिय राजा का तो एक भी नहीं सुनेगा, तो ऐसा धर्म विश्व में कैसे संभव है ?उसके इस कथन में आज के चीन तथा कोरिया (उत्तर) देशों की मनमानी देखी जा सकती है, विशेषकर किम जौंग उन का। यह तथ्य अलग है कि अमेरिका अपनी कूटनीति का मीठी चाकू चला कर अपना वर्चस्व जमाये रहना चाहता है। लेकिन प्रस्तुत नाटक का प्रधानमंत्री अशोक के शस्त्रास्त्र को त्यागने के क्रम में पशु-पक्षियों के भरण-पोषण की समस्या के समाधान की जो बात करता है वह तथ्य भी नाटक को आज के पर्यावरण संतुलन तथा इन्वारमेंटल जस्टिस के सवालों को काव्य प्रयोजन के लिहाज से युगीन अर्थ में उठाता है।[17] अशोक शुरु में ही पशु-पक्षियों के

संरक्षण[18] की बात करता है। नाटक के क्षेत्र में उसका प्रधानमंत्री उसी पर्यावरण संतुलन की बात करता है। लेकिन महान् अशोक इन पशु-पक्षियों के साथ मानवीय तथा संवेदनात्मक लगाव की बात करता है। वह प्रसंग कालिदास के शकुन्तला के वन्य जीवन के साथ ऊष्मामयी संबंध के साथ जोड़ता है।[19] पशु-पक्षियों को भी अपनी बातें कहने तथा हक के साथ जीने का उतना ही बराबरी का अधिकार है जितना किसी मानव जाति का। वस्तुतः आचार्य भरत का नाट्यशास्त्र जो एक समग्र सृष्टि का निर्माण करता है जिसमें आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक संचेतनाओं का भावानुकीर्तन है। उसी फलसफा की चमक यहाँ दिखती है। पाश्चात्य नाट्यशास्त्र एकाकी या यों कहें कि एक खंडित सृष्टि का निर्माण करता है, जबकि भारतीय नाट्य दृष्टि में सहकारी समग्रता का वैशाल्य है। यही सबब है कि अशोक से पशु-पक्षियों से सीधा रिश्ता कायम है। यह तथ्य अलग है कि शकुन्तला के वन्य जीवन को एक समग्र सृष्टि स्नेह और श्रृंगार की एक अलौकिक तथा लालित्यपूर्ण दुनिया में अनायास ले जाता है और 'अशोक-विजयम्' नाटक अहिंसा के आध्यात्मिकता का, एक विशाल दुनिया का रूपायन करता है। ध्यान रहे श्रृंगार हमेशा स्नेह पर आधृत होता है और करुणा उस श्रृंगारित भाव में हमेशा एक डिटरजेंड का काम करता है। साथ ही साथ यह भी सच है कि करुणा के बिना अहिंसा की रेखा कतई नहीं खींची जा सकती है। कलिंग युद्ध का यही शर्मनाक नरसंहार के गर्भ से अशोक का वैश्विक धर्म-अहिंसा का आगाज़ होता है।[20] करुणा और अहिंसा की समन्वित भाव से प्रस्फुटित रामायण की उपजीव्यता में क्रौंचमिथुन की कहानी की महत्ता कौन नहीं जानता है? वस्तुतः अशोक-विजयम् नाटक में अशोक कलिंग युद्ध विजय के बाद दुनिया का शहंशाह बनना चाहता है।[21] लेकिन मगध के महान् जलसेनापति सुधन्वा का कलिंग के दुश्मनों द्वारा धोखे में मारा जाना और उसकी माँ सुधर्मा द्वारा अपने आत्मदाह कर स्वर्ग में जाकर अपने पुत्र से मिलने की तमन्ना सुनकर अशोक के द्वारा विश्वविजय होने की बात को तिलांजलि दिया जाना उस रचना का टर्निंग प्वाइंट प्रसंग है जिसके आस-पास नाटक के सभी पाँचों अंक अपना ताना-बाना बुनते नजर आते हैं। अतः आचार्य रामजी उपाध्याय का यह स्तुत्य नाट्य साहित्य दार्शनिक होकर भी अहिंसा के साथ-साथ करुणा पर आधृत संस्कृत के आधुनिक साहित्य की श्रीवृद्धि करने में संलग्न है। अतः अहिंसा पर केन्द्रित इसे एक मानीखेज़ रंग प्रयोग माना जा सकता है। लेकिन प्राचीन इतिहास के जाने माने इतिहारकार प्रो. आर.एन. नंदी के कथन

पर विश्वास किया जाय तो यह तथ्य भी अशोक महान् की नीति के विषय में उभरकर आता है कि उसने अपने साम्राज्य में पशु-पक्षियों की हत्या पर तो जरूर रोक लगवा दी थी, लेकिन उनके राज्य में भी राजघराने में प्रतिदिन एक मयूर को मारे जाने की अनुमति थी। इसके पीछे राजा अशोक का क्या चिंतन था, अन्वेषण का विषय लगता है। उसी प्रकार आचार्य रामजी उपाध्याय के इस सांस्कृतिक जीत के नाटक में उड़ीसा के एक अभिलेख में अशोक इस तथ्य का भी एलान करता है कि माना कि वह परम अहिंसा का अनुयायी हो गया है। लेकिन उसका मतलब यह कतई नहीं कि आवश्यकता आने पर वह शस्त्रास्त्र उठाने के लिए मजबूर हो सकता है। उस तथ्य को कलिंग विजय तथा बघाटक के राजा/सामंतों को उसके खिलाफ़ विद्रोह या आवाज़ न उठाने की भी नसीहत देता है जिसके जड़ में नो पीस विदाऊट वार (No peace without war) की भावना भी परिलक्षित होती है। आज की वैश्विक कूटनीति के नजरिये से जिसका दर्शन 'वैलेंस ऑफ पाअर' से साफ जुड़ता दिखता है। लेकिन यह तथ्य भी सही है कि साहित्य इतिहास का अन्तः साक्ष्य तो हो सकता है लेकिन साहित्य इतिहास की तरह नग्न सत्य की छान-बीन नहीं करता है, क्योंकि आचार्य मम्मट ने भी अपने काव्य के छः प्रयोजनों - सद्यः परनिवृत्रये शिवेतरक्षते तथा कान्तासम्मित उपदेशों का जिक्र किया है।[22] वस्तुतः यहाँ कलिंग युद्ध के बाद अशोक का परम अहिंसावादी होना, जिसमें सुधर्मा तथा अशोक के बीच युद्ध की नीरसता की चर्चा सुधर्मा का कान्तासम्मित तथा युद्ध विमुखता शिवेतरक्षतये के काव्य प्रयोजन तत्त्व से सम्वलित लगता है। जाहिर सी बात है कि साहित्य अपनी इति-वृत्त के चक्कर में ऐतिहासिकता से हरगिज़ बोझिल नहीं हो सकता है। फिर भी यह माना जा सकता है कि प्रस्तुत अशोक-विजय' नाटक अपनी आध्यात्मिक तथा दार्शनिक भाव परंपरा के आधिक्य के कारण सांस्कृतिक 'वैश्विक राष्ट्रवाद की तरफ थोड़ा अधिक झुका मालूम पड़ता है। यही कारण है कि इस नाटक में ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश का अशोक के दर्शन तथा उसके उपदेश के लिए इहलोक पर अवतरण नाट्य तत्त्व अन्वितित्रय-देश, काल तथा स्थान को समन्वित रूप में एक साथ रूपायित कर भारतीय नाट्य परंपरा का सार्थक निर्वाह करते हुए अपने नाट्य कथा तन्तु को देवशास्त्र से जोड़कर नाटक को और महत्त्वपूर्ण बना दिया है। भारतीय जीवन प्रबंधन तथा उसके चिंतन में काल की अवधारणा वृत्रत्म है - अर्थात जो जाता है वह पुनः आता है अर्थात् समग्र जीवन आशा तन्तुओं का रफ्फू ही नहीं अपितु इन्द्रधनुषी कसीदगी भी है। उत्साह और

उमंग की धड़कन है। जबकि पाश्चात्य दर्शन में काल की अवधारणा एक रैखिक है- अर्थात् जो जाता है वह फिर कभी लौट कर नहीं आता है। यही सबब है कि पाश्चात्य नाट्यकार/दार्शनिक को भवभूति के उत्तर रामचरित में बारह साल के बिछुड़न के अन्तराल की सार्थकता समझ में नहीं आती है। भारतीय नाट्यशास्त्र और उसके काव्य की एक वैश्विक दृष्टि है। यही कारण है कि ब्रह्मा ने अहिंसा रूपी अशोक के महातप का बखान करते बताया है कि उसका जन्म विश्व शांति की स्थापना करने के लिए ही हुआ है।[23] समय की यह आशात्मक भारतीय चिंतन विश्वशांति के अगुआ के रूप में अशोक महान् के व्यक्तित्व को गढ़ता है। इस महान् सम्राट् को 'देवानां प्रियः' आखिर क्यों कहा जाता है? इस सवाल का जवाब किसी भी प्रगतिशील इतिहासकारों के पन्नों में साफ़ तौर पर पढ़ने को नहीं मिलता है। जिसकी संपुष्टि प्रस्तुत नाटक के देवगण के कथन से होता है। वस्तुतः अशोक का अहिंसात्मक परम तप ही उसे देवों के बीच लाडला बनाता है।[24] संस्कृत भाषा ने अपनी भाषिक प्रवृत्ति के अनुकूल अशोक के देवों के प्रिय होने का अर्थ खोज निकाला है। इसका कारण यह भी है कि इस नाटक का विवेच्य ही भारतीय दार्शनिकता के माध्यम से विश्व बन्धुत्व की स्थापना करना है। यह तथ्य अलग है कि आचार्य रामजी उपाध्याय का यह फलसफा महाभारत के अनुशासन पर्व से अनुप्रमाणित माना जा सकता है।[25] लेकिन यह तथ्य अलग है कि महाभारत की दार्शनिकता की अर्थक्ता पर यक्ष प्रश्न उठाती हुई सुधर्मा साफ़ तौर पर अशोक को कहती है कि –

सुधर्मा : महाभारत का नाम न लें।

अशोक : क्यों? महाभारत तो भारत का गौरव-ग्रन्थ है।

सुधर्मा : महाभारत की यह मान्यता केवल अर्ध सत्य है, दूसरों को भरमाने के लिए। महाभारत में कौरव-पाण्डवों का युद्धाख्यान है। इसके अनुसार भीष्म प्रतिदिन दस हजार सैनिकों को परलोक भेजते थे।[26]

आज भी महाभारत का भयावह परिणाम भारत भोग रहा है। उस भयंकर युद्ध में सैनिकों की कितनी करोड़ स्त्रियाँ विधवा हुईं, उनकी सन्तान, माता-पिता, भाई-बहन आदि अनाथ होकर बिलबिलाते फिरे। इस युद्ध में 18 अक्षौहिणी सेना के विनाश से जो अश्रुपात हुआ, उससे आज भी संसार का जल खारा है।[27] नाटककार उपाध्याय ने इन पाँचों अंकों का बड़ा ही सरल तथा ललित हिंदी तर्जुमा प्रस्तुत किया है। जिसका यह महाभारत प्रसंग तरोताजा नज़ीर माना जा सकता है।

साथ ही साथ अपने इस नाटक में सुधर्मा के माध्यम से अशोक के तेरहवाँ शिलालेख जो शहबाजगढ़ी के नाम से भी जाना जाता है उस प्रसंग को जोड़कर अपने नाटक की सांस्कृतिक प्रासंगिता, अपनी ऐतिहासिक चेतना को और समसामयिक बना दिया है और यह कठोर सच है कि संस्कृत भाषा में ऐसी इतिहासपरक रचना का सर्वथा स्वागत किया जाना चाहिए। ताकि शेल्डॉन पॉलक जैसे पाश्चात्य विद्वानों के उन विचारों को धराशायी किया जा सके जो संस्कृत को 'डेड लैंग्वेज' करार करने के चक्कर में लग हुए हैं। महाभारत की यह विध्वंसात्मक लीला मानव सभ्यता की रक्षा तथा विकास के लिए जितनी पुरातन लगती है उतनी ही अनेक समकालीन संदर्भों को नागासाकी और हिरोशिमा के निर्वेद भाव स्पष्ट करता है। कुछ सामरिक संचयन के डाटा को माने तो यह माना जाता है कि आज समूची दुनिया इतना घातक शस्त्रास्त्र का जखीरा जमा कर चुकी है कि इससे पूरी दुनिया वाले भू-भाग को चौदह बार खत्म किया जा सकता है। प्रस्तुत आलेख में जो पूर्व में 'वाइट टेररिज़्म' की बात की गई है उसका तार यहाँ भी जुड़ता मालूम पड़ता है। अतः इस नाटक का कुछ पताका तथा प्रकरी इतिवृत्त को बड़ा ही युगीन तथा जीवंत बना देता है। इस नाटक का इतिवृत्त प्रख्यात तथा उत्पाद्य होने के कारण मिश्रित (मिस) क़िस्म का माना जाना चाहिए, क्योंकि सुधर्मा का यह प्रसंग महाभारत के अंश होने के कारण प्रख्यात है जो नाटक का टर्निंग प्वांइट लगता है तथा अन्वितित्रय के माध्यम से ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश का इहलोक पर अशोक महान् को आध्यात्मिक (अहिंसात्मक) विश्वविजयी बनने के लिए अपने-अपने आशीर्वाद देने के लिए इहलोक में पर्दापण कवि कल्पित माना जा सकता है। इस नाटक में अशोक के द्वारा भारतीय नदियों तथा हिमालय आदि के प्रति सम्मान की भावना जहाँ नाट्य आलम्बन उद्दीप्पन भावों को स्पष्ट करता है वहीं पोस्टमोडनिज्म नाटक के आमुख (प्रस्तावना) में सूत्रधार, नटी, मार्ष (पारिपार्श्विक) या विदूषक के साथ संवाद करता हुआ विचित्र उक्तियों/कथनों के जरिये प्रस्तुत (कथावस्तु) का आक्षेप (संकेत) कर अपने कार्य का रूपायन करता है, उसे आगुरु कहा जाता है - ''सूत्रधारो नटी ब्रूते मार्षं वाथ विदूषकम्/स्वकार्यम् प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम्/प्रस्तावना वा तत्र स्युः कथोद्धातः प्रवृत्तकम्/ प्रयोगाति-शयश्चाथ वीथ्यङानि त्रयोदश।।''

नाटकाकार उपाध्याय ने अपने नाट्य आमुख तथा प्ररोचना की शैली को कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल के तर्ज़ पर रूपायित करने का सार्थक प्रयास

किया है। लेकिन कालिदास के इस प्रस्तावना में उनके अभिनव नाटक को वैदुष्यपूर्ण प्रेक्षागृह में सफलता के लिए हर कोशिश की बात उठायी गयी है। इससे तत्कालीन समाज में संस्कृत रंगमंच तथा उनके सहृदय सामाजिकता के तादात्मात्मकता की भी पुष्टि होती है।[28] यद्यपि कालिदास के नाट्य प्रयोग को लेकर जो जिज्ञासा अभिज्ञान शाकुन्तल में है उसी प्रयोग के इस अभिनव नाटक में भी उठती है। लेकिन आचार्य रामजी को अपने इस नाटक के साफल्य की कोई चिंता इस प्ररोचना में नहीं दिखती जो वस्तुतः संस्कृत के सम सामयिक रंग प्रयोगों की ओर भी जाने अनजाने कोई न कोई सवाल ज़रूर खड़ा करता दिखता है। लेकिन पारिपार्श्वक के पूछे जाने पर कि भास-कालिदास-विशाखदत्त-भवभूमित जैसे दिग्गज नाटककारों की रचनाएँ रहती हुई भी इस अशोक विजय नाटक के मंचन का क्या औचित्य है?[29] उसके जवाब में सूत्रधार का कहना है कि अब इन नाट्यकारों की रचनाधर्मिता सहृदय सामाजिकों के सत्त्व में इजाफा बनाये रखने के लिए कोई ख़ास धारदार मालूम नहीं दिखती है। अतः भारतवर्ष के वर्तमान युग में सहृदय सामाजिकों में फिर से जान फूँकने के लिए अशोक-विजय नामक नाटक का मंचन उचित जान पड़ता है।[30] वस्तुतः प्ररोचना के माध्यम से नाट्यकार आचार्य उपाध्याय ने नाट्य के कैनवास में थोड़ा परिवर्तन कर उसे युगीन धर्म से जोड़ा है जो संस्कृत भाषा तथा इसके साहित्य के लिए सर्वथा समय की माँग ही माना जाना चाहिए। अतः इसे हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने परंपरा तथा आधुनिकता को परिभाषित करते हुये मनुष्य के क्रमशः पिछले तथा अगले कदमों से जोड़ा है। यह बात अलग है कि संस्कृत के नाट्य-क्लासिक्स को चाहने वाले को सूत्रधार का यह कथन पूरा का पूरा समझ आये। विष्कम्भक जिसके द्वारा नीरस लेकिन बहुत ही आवश्यक कथा अंशों को रूपायित किया जाता है अर्थात् – विष्कम्भाति-नियोजयति पूर्वापरकथा-भागं य सः विष्कम्भकः – मतलब यह है कि नाटक के पिछले तथा अगले वृत्त को जोड़ने का काम यह करता है। साथ ही साथ भूत और भविष्य का बीज भी इस विष्कम्भक में संनिहित होता है। प्रधानमन्त्री तथा सैन्यमंत्री के बीच अशोक के धर्म विजय (अहिंसा-विजय) का कथन-उपकथन इस नाटक का विष्कम्भक है। लेकिन यह नाट्य-तकनीक का इस्तेमाल नाटक की शुरुआत में किया जाता है। आचार्य उपाध्याय ने न जाने क्यों नाटक के अवसान के आस-पास उसका प्रयोग किया है। विष्कम्भक के दो प्रकार होते हैं – शुद्ध तथा संकीर्ण। इसमें प्रधानमन्त्री तथा सैन्यमंत्री के बीच संवाद होने के कारण इसे शुद्ध

किस्म का माना जाना चाहिए। प्रस्तुत संवाद नाटक के पूर्व चर्चा को अंततः समेटता नज़र आता है। इस नाटक में पाँच अंकों का निर्वाह तो ज़रूर किया गया है। लेकिन रचना की लघुकाया होने के कारण इसके संधि-सन्ध्यंत्रों की शास्त्रीय समग्रता का न हो पाना स्वाभाविक है। लेकिन शास्त्रीय मत - 'गोपुच्छसमग्रम्ः' की सटीकता निश्चित रूप में रूपायित होता दिखता है। वस्तुतः समसामयिक नाटकों/रूपकों का थोड़ा छोटा होना समय की माँग है। अब फिल्म भी छोटी बनने लगी है; क्योंकि समय की अनुपलब्धता के कारण दर्शक को अधिक समय तक बाँधने में निदेशक को अपनी उसी प्रकार नायक की कोटि धीरोदात्त[31] के अन्तर्गत कुछ हद तक सम्राट् अशोक के व्यक्तित्व को रखा जा सकता है क्योंकि साहित्य दर्पणकार- विलाससर्द्यादिगुणवमुवतं नानाविभूतिमिः।।76।। नाट्य स्वरूप को लेकर जिन तत्त्वों की बात करता है और इस शास्त्र ग्रंथ को लेकर रुचिरा टीका - 'विलासद्धर्यादिगुणवत' विलास के भाव को उन्मीलित करते - 'प्रियासङ्ग उद्यानिविहारादिवा' लिखा है उसे इस नाटक में अशोक के संदर्भ में उचित नहीं समझा जा सकता है। लेकिन गुणवान् का तात्पर्य — 'गाम्भीरयौदोर्यादिगुणसम्पन्न' बहुत ही सटीक बैठता है। भारतवर्ष के गौरवशाली तथा लब्धप्रतिष्ठ मौर्य साम्राज्य से अशोक का जुड़ा होना भी नाट्य शास्त्रीयता का निर्वहन है - 'प्रख्यातो वंशः पितृपितामहादि पूर्वजवर्गोयस्य तथोक्तः।' अशोक के मौर्य वंश में उसके पुरखे चन्द्रगुप्त का जन्म हुआ था। आचार्य रामजी उपाध्याय के इस मनोरम नाट्य साहित्य से कुछ इतिहासकारों के उस मत का भी खंडन होता है जिनका मानना है कि मौर्य वंश का ताल्लुकात किसी निम्न सामाजिक सरोकारों से रहा होगा। सच तो यह है कि सम्राट् अशोक 'प्रतापवान्' अर्थात् दिग्विजयी (विश्व विजेता कुछ अंशों में) है। लेकिन अहिंसा तथा करुणा उसे बौद्ध धर्म का अनुचर तथा प्रचारक बना देती है जो भारतीय संस्कृति की एक इन्द्रधनुषी झाँकी प्रस्तुत करता है। यहाँ धीरोद्धत में विलास की व्याख्या आध्यात्मिक उत्कर्ष के रूप में समझा जाना सर्वथा उचित लगता है। इसका एक कारण यह भी है कि नाटक का मुख्य प्रतिपदा विषय अध्यात्म की दार्शनिकता है जिसमें श्रृंगार का स्थान रखना कोई मायने नहीं रखता है। अतः सुधर्मा के चरित्र में भी करुणा के साथ-साथ निर्वेद की स्थिति बड़ा ही स्वाभाविक लगता है। जिस प्रकार महाभारत का अंगी रस शांत है। अतः अशोक-विजय का प्रधान रस शांत ही लगता है; क्योंकि करुणा मैत्री तथा अहिंसा के बल पर भारतवर्ष की विश्वविजेता बनने की कामना की गई है। नाटक के गौण

पात्र भी अपने रोचक तथा तात्त्विक संवादों से नाटक के इतिवृत्त के रंग प्रयोग के चक्कों को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते नज़र आते हैं।

फिर भी यह सवाल जरूर उठता है कि संस्कृत नाट्य साहित्यकार-इतिहासकार आचार्य रामजी उपाध्याय ने अपने आमुख में इस नाट्य प्रयोग की धर्मिता के सपनों को संजोया है उसका प्रायोगिक पालन इस नाटक के साथ-साथ संस्कृत के अन्य समकालीन नाटकों के साथ क्या हो रहा है? इस आशय के मर्म को बहु-पठित कवि-नाट्यकार-उपन्यासकार तथा बहुचर्चित नक़्क़ाद आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी ने नाट्य अनुसंधान केन्द्र, केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय भोपाल परिसर, भोपाल के 51 वें समापन पुष्कल व्याख्यान दिनांक 19, अक्टूबर 2020 में अगाह किया है कि हिन्दुस्तान की औपनिवेशिक शिक्षा पद्धति के घाल-मेल के कारण कहीं ऐसा तो नहीं नाट्य साहित्य को रंग प्रयोग की अपेक्षा उसे काव्य या महाकाव्य के नजरिये से पढ़ने-पढ़ाने में संलग्न है।

वस्तुतः आचार्य त्रिपाठी ने जिस तथ्य से हमें सावधान किया है वह एक मानीखेज़ सवाल हैं - ''क्योंकि पाश्चात्य विद्वान् ईडविन विल्सन और इल्वीन गोल्डफार्व ने यह मिथक फैलाने का प्रयास किया है कि भारतवर्ष पर नौंवी सदी में अरब के आक्रमण और 1206 ई. में यहाँ पर सल्तनत राज्य की स्थापना से हिन्दू संस्कृत (भाषा-साहित्य) परंपरा विशेषकर नाट्य विधा विलुप्त होने लगी।'' (मथुरा प्रसाद दीक्षित के नाटक, अजय कुमार मिश्र, प्रकाशन प्रभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2002, पृष्ठ 15)[32]

अतः यह जरूरी जान पड़ता है कि हम अपने संस्कृत क्लासिक्स विशेष कर इसके प्रयोग साहित्य को लेकर नॉस्टौल्जिक सम्मान से अधिक इसके रंग के स्नेह पर अधिक ख्याल रखे; क्योंकि नाट्य साहित्य की रचनात्मक ऊष्मा उसकी प्रयोगधर्मिता पर ही आधृत होता है। अतः आचार्य रामजी सदृश रचनाकारों के नदीष्ण रचनाओं को सिर्फ प्रकाश में लाने की आवश्यकता ही नहीं है, अपितु इनका रंग प्रयोग भी आवश्यक है।

पादटिप्पणी व सन्दर्भ -

1. *भारतीय संस्कृत-संस्थान वाराणसी, 2057 वि.स. (प्रथम संस्करण)*
2. *सुधर्मा (सनिवेदम्) अत्र भवतः कलिङ्गेयुद्धेन वयमिहलोके पुत्रमिलनाद् वञ्चिराः। सम्प्रति तं मिलितुं परलोकं गन्तुकामाः। - द्वितीय अङ्क, पृ. 10*

3. अशोक - विश्वात्मकविभूतिर्भिलोकसम्भरणाय साधनं वति दीर्घजीवनम्। सुधर्मा श्रवणे श्रावणे च पेशलमेतद्ववचनम्। तत्तु भवतो मुखाद् वितथं प्रतिभाति, यतो हि विश्वविजयाय कृतघोषो भवान् तद्विपरोतमेव चेष्टिष्यते। फलतो न विश्वभरणमपितु मरणं भूयिष्ठानामवश्यंभावि। - द्वितीय अङ्क, पृ. 11

4. अशोक – नाहमिदानीं राजराजेश्वरः। विश्वशान्तिरोचनः प्रजापरमेश्वरोऽस्मि। मयाराध्या प्रजा एव परमेश्वरः। न केवलं प्रजा नापितु सकलचराचरं परमेश्वरं इति प्रतिभाति मे। तस्य रञ्जनं प्रेष्ठो मं पराक्रमः। तदेतस्य पराक्रमस्य सम्यक् प्रतिपत्तेय विश्वप्रजानां राज्ञां च यथाक्षमं सहभागित्वमपरिहार्यम्। - पंचम अङ्क, पृ. 31

5. सर्वज्ञः विश्वजनवत्सलो भवान् परमेश्वरेण विश्वोद्धाराय सृष्टाऽस्ति।

6. ब्रह्मा (अशोकं प्रति) – बहुफलं ते तपोप्रतम्। अस्माकं चिराभिलषित-विश्वशान्ति-संकल्पास्त्वयि उदितसिद्धयः परिणामयिष्यन्ति। - चतुर्थ अङ्क, पृ. 25

7. विष्णुः (अशोकाभिमुखम्) – तुभ्यमहं स्वकीयां विश्वरूपां विभूति प्रयच्छामि। - चतुर्थ अङ्क, पृ. 25

8. शिवः (सौदार्यम्) – 'दानमेव कलौ युगेः' इत्यादर्शयन् स्वकीया यौगिकविभूतीस्तुभ्यं परिददामि। ताभिस्त्वमीशित्व-वशित्व-प्रपन्नो भूलोके सकलं चराचरमीश्वरवद् भ्रामयिष्यसि। - चतुर्थ अङ्क, पृ. 25

9. कालिङ्गमहायुद्धे मयैतत्सर्वं प्रत्यक्षं दृष्टम्, तदनन्तरं प्रतिज्ञातं च - नाहं स्वदेशे कदापि योत्स्ये, विदेशेष्वपि राजानः प्रजाश्च युद्धाग्नौ मा शलभीभवन्त्विति प्रकल्पिष्ये च। अस्मिन् महापराक्रमे भवतां सहयोगः सुतरामपेक्षितः। - पञ्चम अङ्क, पृ. 33

10. अन्तियोकः (सबहुमानम्) – कारूण्यनिर्भरं भवतोऽमृतवचनम्। भवतः कीर्तेः श्रवणात्, दर्शनाच्च सम्प्रति वयं युद्ध-समारम्भाद्विरता भवन्तमनुवृत्ताः। - पञ्चम अङ्क, पृ. 33

11. सैन्य-मन्त्री – .... ततः परं कीदृशोऽयमभिनव-धर्म-विजय-प्रकारो यस्य कृतेऽपूर्वः कश्चिदुद्योगोऽनुसन्धेयः ? प्रधानमंत्री - पंचम अङ्क, पृ. 29

12. संयच्छत्यखिलं मलीमसहरं सत्त्वाश्रितं प्राञ्जलम्।
सद्भावं नवनीतमञ्जुलनयं बन्धुत्व-संवर्धनम्।। - पञ्चम अङ्क, पृ. 29

13. सैन्य-मन्त्री (सविनयं सजिज्ञासं च) – यत् प्रभविष्णवे रोचते। किं स्वरूपोऽयं धर्मविजय इति ज्ञातुमुत्कण्ठामोह। प्राक्काले कलिङ्गा अस्माभिर्विजिताः। पश्चान्महा-राजाज्ञानुसारेण यौवनदेशं यावद् दिग्विजयप्रयाणाय सज्जीभूता वयम्। ततः परं कीदृशोऽयमभिनवधर्मविजय-प्रकारो यस्य कृतेऽपूर्वः कश्चिदुद्योगोऽनुसन्धेयः ? अत्र संशयच्छेदिवचनेनानुग्राह्या वयम्। - पञ्चम अङ्क, पृ. 29

14. प्रधानमन्त्री – पूर्वतनराजा यानि कार्याणि दिंसया सम्पादयमाना आस्तन, तानि महाराजोऽहिंसया शमप्रशमाभ्यां स साधियिष्यति।

प्रथमो महामात्रः

कथमित्थं सम्भविष्यति? किं नाम जगत्यां सर्वेषां मानवानां चरित्रं प्रतीपयितुं शक्यते? पञ्चम अङ्क, पृ. 30

15. प्रधानमन्त्री - तस्य प्रजाव्यापारे सा शस्त्राणामावश्यकता नास्ति। सुष्ठु स मन्यते - 'सर्वाणि सैन्योपकरणानि अस्त्रशस्त्र-कवचादीनि कृषिकर्मोपयोगिनां लवाणक-हलफालकुद्दालादीनां निर्माणायोपयोक्ष्यनते, इति। तद्विधोपक्रमेण न केवलं मानवानामपितु पशुपक्षिणामपि उत्तरोत्तर भरण-पोषणं सम्भविष्यति। - पञ्चम अङ्क, पृ. 29

16. प्रथमो महामात्रः – कथमित्थं सम्भविष्यति ?किं नाम जगत्यां सर्वेषां मानवानां चरित्रं प्रतीपयितुं शक्यते? - पञ्चम अङ्क, पृ. 30

17. तद्विधोपक्रमेण न केवलं मानवानामपितु पशुपक्षिणामपि उत्तरोत्तरं भरण-भोषणं सम्भविष्यति। - पञ्चम अङ्क, पृ. 29

18. अशोकः

अवद्यं ते वदन्ति

क्रन्दतः पशवस्तथा च विहगा न्यायार्थमत्रागताः।

त्वं राजन् जगदीश्वरोऽसिजगतो भागा वयं प्राणिनः।

रक्ष्याः स्मः कुरु रक्षणं वचमपि प्रीत्या पयोभी रवैः

संगीतैर्मनुजप्रमोदनिवहं संसाधयामः परम्।। - तृतीय अङ्क, पृ. 20

19. शकुन्तला - न केवलं तातनियोग एव, अस्ति ते सोदरस्नेह एतेषु। - अभिज्ञान शाकुन्तल, प्रथम अङ्क

20. परमार्थतोऽसिधाराव्रतं मयाङ्गीकृतं, यन्नाम निःशस्त्रीभूय विशाल साम्राज्यस्य परिपालनं विश्वविजयं च समं साधनीयम्। - द्वितीय अङ्क

21. अशोकः (आत्मगतम्)

कलिङ्गास्तु दुर्जया आसन्। तेसां स्वायत्तीकरणेन मम मगधराज्यं बृहत्तमं संवृत्तम्। कलिङ्गेषु मम सैनिकैरनुपमः पराक्रमः प्रादर्शि। पराभवभयात् कश्चिद् वैदेशिको राजा भविष्येऽप्यस्मानाक्रमितुं नोत्सहिष्यते।

(सगर्वम्) अयं स कालः सम्प्राप्तो यदहमात्मनं विश्वविजयाय नियोजयेयम्। - प्रथम अङ्क, पृ. 3

22. आचार्य मम्मट, काव्य प्रकाश, प्रथम उल्लास

23. ब्रह्मा (अशोकं प्रति)

बहुफलं ते तपोव्रतम्। अस्माकं चिराभिलषितविश्वशान्ति संकल्पास्त्वयि उदित सिद्धयः परिणामयिष्यन्ति। - चतुर्थ अङ्क, पृ. 25

24. देवगणः

वत्साशोक! तपसा त्वं देवानां प्रियः संवृत्तः। वयं त्वां देवानां प्रियः इत्युपाधिनालंकुर्मः। त्वं जगतः प्रियदर्शोऽसि। - चतुर्थ अङ्क, पृ. 26

25. प्रियदर्शास्तया चान्ये दर्शनादेव मानवाः। - अनुशासन पर्व, 144.45

26. उद्योगपर्व 165.21, महाभारत

27. आचार्य रामजी उपाध्याय अपने इस नाटक के मूल के प्रसंग में शहबाजगढ़ी के अशोक निर्मित तेरहवें शिलालेख का उद्धृत करते हैं।

28. सूत्रधार-आ परितोषाद्विदुषां न साधु मान्ये प्रयोगविज्ञानम्। बलदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चैतः।।2।। - अभिज्ञानशकुन्तल, प्रथमअङ्क

29. पारिपार्श्वकः (प्रविश्य) श्रुतं मया भवतोऽभिनवनाटकस्याशोकविजयमस्य प्रयोग-विज्ञापनम्। भास-कालिदास-विशाखदत्त-भवभूति प्रभृतीनां सुप्रथितयशसां प्राक्तन-कविवराणां नाटकानि विहाय कस्मात् कारणाद् भवतोऽभिनवनाटके समादरः? - प्रथम अङ्क, पृ. 25

30. भास कालिदासदीनां पूर्वकवीनां नाटकेषु प्रेक्षकाणां सत्त्वसंवर्धनाय सामग्री यथेष्टं न वर्तते। वर्तमान युगे भारतं पुनरपि गौरवयितुं सामाजिकानां सत्त्वसंवर्धनात्मकं प्रयोगमभीष्टतमं मन्ये। - प्रथम अङ्क, पृ. 2

31. महा सत्त्वोऽति गम्भीरः समावानविक्त्यनः।

स्थिरो निगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढ़व्रतः।। - 412, दशरूपक

32. .... end of the ninth century. By the twelth Century the Arabs had begun to invade India and in 1206 they established the Sultanate of Delhi. With this series of invasions the Hindu Sanskrit tradition disappeared. Under Islamic rule, theatrical activities were not encouraged and the old ways of performing were no Longer maintained among educated people.

- Living Theatre : A History

17

अशोक-विजयम् में विश्वबन्धुत्व एवं अहिंसा-भावना

यशदेव आर्य

आचार्य रामजी उपाध्याय ने वैदिक सभ्यता को आधार बना कर वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, संस्कार, संस्कृत, मैत्रीभाव, त्याग-बलिदान आदि अनेक विषयों को लेकर अपने ग्रन्थों का प्रणयन किया। इन्हीं में रचनाओं में प्रसिद्ध नाटक है ''अशोक-विजयम्'', जिसमें आचार्य जी ने त्याग-बलिदान, बन्धुत्व एवं अहिंसा को दर्शाते हुए सभी को विश्वबन्धुत्व की भावना की ओर प्रेरित किया है।

अशोक-विजयम् पांच अंकों का ऐतिहासिक नाटक है। जिसमें सम्राट् अशोक की कलिंग विजय के पश्चात् उनके द्वारा अपनाई गयी अहिंसा एवं विश्वबन्धुत्व की भावना को दर्शाया गया है। इस नाटक का नायक एवं प्रमुख केन्द्र-बिन्दु सम्राट् अशोक है। इस नाटक के माध्यम से आचार्य रामजी उपाध्याय ने समाज में बढ़ रही हिंसा, ईर्ष्या द्वेष एवं शत्रुता को समाज के लिए विनाशकारी तथा अहिंसा, सत्य और सौहार्द को विश्व के लिए हितकारी बतलाया है।

सम्राट् अशोक एक महान् योद्धा अथवा कुशल शासक ही नहीं अपितु उन्होंने देश-विदेशों में भी उस समय प्रेम, शान्ति और सौहार्द का उपदेश दिया, जिस समय युद्ध को प्राथमिकता दी जाती थी। वह कलिंग युद्ध के बाद अपने सभी शस्त्र त्याग देता है और युद्ध की अपेक्षा प्रेम एवं शान्ति को महत्त्व देता है। बौद्ध धर्म अपनाने के पश्चात् वह अपना सम्पूर्ण जीवन मानव-कल्याण के लिए समर्पित कर देता है। इसी को आधार बना कर इस नाटक के माध्यम से आचार्य उपाध्याय जी ने हमें शान्ति एवं सौहार्द स्थापित करने का सन्देश दिया है।

सम्राट् अशोक अपने सबसे बडे प्रतिद्वन्द्वी अपराजेय कलिंगराज को युद्ध में पराजित कर राजराजेश्वर की उपाधि धारण करता है। सम्राट् अशोक को यह विजयश्री दिलाने वाला उसका जलसेनाध्यक्ष सुधन्वा इस युद्ध में वीरगति को प्राप्त

हो जाता है। सुधन्वा के पिता सुधर्मा एवं अन्य परिवारी जनों को सम्राट् अशोक विपुल धनराशि पारितोषिक रूप में भेजता है जिसको पिता सुधर्मा यह कहकर अस्वीकार कर देते हैं कि जिसका पुत्र मरता है वही पुत्र शोक की पीड़ा को अनुभव कर सकता है। अतः मेरे लिए अब यह संसार शून्य हो गया है। हम सभी आत्मदाह करके पुत्र से स्वर्ग में मिलने जा रहे हैं। सम्राट् इस संवाद से अत्यधिक खिन्न होता है और अविलम्ब सुधर्मा से मिलता है तथा क्षात्रधर्मोचित न होने के कारण उन्हें ऐसा करने से मना करता है। इसी समय सुधर्मा अनेक तर्कों के माध्यम से युद्ध को अनुचित बतलाता है और अहिंसा को श्रेष्ठतम बतलाता है। वह कहता है कि मृतक के मां बाप, पुत्र-पुत्री, पत्नी और अन्य सम्बन्धियों को विषाद पूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ता है। वे नर कंकाल रहकर मृतप्राय जीवन व्यतीत करते हैं। विपुल धनराशि भी उनके जीवन को सरस नहीं कर पाती। इस कलिंग युद्ध में भी लाखों प्रजाजन मृत्यु को प्राप्त हुए एवं अनेक घायल हो गये हैं तथा आपके द्वारा की जाने वाली भावी विश्वविजय में भी आप करोड़ों लोगों की जीवन लीला समाप्त करेगें। क्या आपने कभी सोचा है कि उनके परिजनों द्वारा किया गया विलाप, उनका आक्रोश एवं अभिशाप कदापि आपका भला नहीं कर सकता?[1] सुधर्मा के इन मार्मिक वचनों को सुनकर सम्राट् अशोक अत्यन्त व्यथित होता है और अपनी तलवार को दूर फेंकते हुए आजीवन निःशस्त्र रहकर युद्ध न करने का प्रण लेता है-

'चन्द्रहासं दूरं क्षिप्त्वा हस्तं उद्यम्य, आजीवनं निःशस्त्रमेव प्रजा आराधयिष्यामि।[2]

वह आजीवन मानव ही नहीं, अपितु प्राणिमात्र की मनसा, वाचा एवं कर्मणा सेवा करने का भी प्रण करता है।

विश्वस्मिन् मे प्रभवतु रतिर्दुःखधारां निरोद्धुं
वैराग्यं च प्रसरतु सदा स्वार्थसिद्धावनिन्द्यम्।
दानं शीलं वरदवचसा भास्वरं मे भवताम्
सर्वो मे स्यादहमपि समस्वान्तमार्गे स्वकीयः।।[3]

आज पूरे संसार को यही प्रण लेने की आवश्यकता है एवं सत्य एवं अहिंसा के मार्ग पर चलने की आवश्यकता है जिससे विश्व में शान्ति का उन्नयन हो और सभी सुख का अनुभव करे सके। जब तक मानव अहिंसा के रास्ते पर चलने का प्रयास नहीं करेगा तब तक विश्व में शान्ति, मैत्रीभाव एवं विश्वबन्धुत्व स्थापित नहीं हो पाएगा। वस्तुतः सभी देश जो विस्तारवाद की नीति का अनुसरण करते हैं और पड़ोसी देशों से ईर्ष्या, द्वेष अथवा वैरभाव रखते हैं उन्हें परस्पर सौख्य सम्बन्ध

स्थापित करते हुए इस प्रकार के अनेक प्रण लेने की आवश्यकता है जिससे कि आपसी विद्वेष को समाप्त किया जा सके तथा प्रेम, शान्ति एवं सौहार्द के साथ विश्व को एकसूत्र में बांधा जा सके।

सम्राट् अशोक द्वारा अहिंसा एवं शान्ति की ओर उठाया गया यह प्रथम कदम माना जा सकता है। वस्तुतः यहां सुधर्मा द्वारा सम्राट् अशोक को अहिंसा का पाठ पढ़ाया गया है तथा प्रेम, शान्ति एवं समाज कल्याण के लिए प्रेरित किया गया है जिसका अनुसरण करते हुए अशोक पुनः कभी शस्त्र धारण नहीं करता।

सम्राट् अशोक निःशस्त्र होकर मैत्रीभाव से धर्मपूर्वक विश्वविजय का स्वप्न देखता है और धर्मपूर्वक सभी कार्य करने के लिए निरंतर प्रयासरत रहता है। उनके 11वें अभिलेख में भी कहा है- ''नास्ति एतादृशं दानं यादृशं धर्मदानं धर्म-संस्तवः वा धर्म संविभागःवा धर्मसम्बन्धः वा''।[4] इसी तथ्य को आचार्य जी ने अशोक-विजयम् में निबद्ध किया है -

परमार्थतोऽसिधाराव्रतं मयाङ्गीकृतं, यन्नाम निःशस्त्रीभूय विशाल साम्राज्यस्य परिपालनं विश्वविजयं च समं साधनीयम्।

यद्यपि धर्मपूर्वक विजय कठिन कार्य है तथापि वह अपने कुलगुरु महर्षि सर्वज्ञ के मार्गदर्शन से इसको फलीभूत करता है।

जब अशोक महर्षि सर्वज्ञ के पास आश्रम में होता है तभी वहाँ शोर मचाता हुआ पक्षियों का झुण्ड आता है जो कि अत्यधिक कोलाहल करता है जिसे सुनने के लिए महर्षि सर्वज्ञ सम्राट् अशोक को पशु-पक्षियों की आवाज सुनने की दिव्य शक्ति प्रदान करते हैं। पक्षियों की आवाज सुनकर सम्राट् अशोक विचलित हो जाता है, क्योंकि पक्षी उसे ही धिक्कार रहे होते हैं। पक्षी कहते हैं कि हम नित्य तुम्हारे भोजन के लिए मार दिये जाते हैं।[6]

महर्षे, इमे मां धिग्वादेन लघूकुर्वन्ति, ते वदन्ति-नित्यं वयं लक्षाधिका भवत आदेशेन विकृत्यामहे।[7]

इस पर सर्वज्ञ कहते हैं कि जिस प्रकार तुम्हें मृत्यु और प्रहार से भय होता है वैसे ही ये पशु-पक्षी भी तुमसे आत्मरक्षा की भीख मांग रहे हैं कि ये मनुष्य ही नहीं, अपितु हम भी तुम्हारी प्रजा हैं और तुम्हारे द्वारा रक्षणीय हैं, वध्य नहीं।

पक्षी की इन भावनाओं को सुनकर सम्राट् अशोक करुणा से आप्लावित हो जाता है। उनका हृदय द्रवित हो जाता है। उसे आत्मग्लानि होती है। वह कहता है कि अब हमेशा लोक-परलोक में कल्याण के लिए चराचर की रक्षा करना मेरा

प्रथम कर्तव्य है और उसने भोज्य हेतु जीव हत्या को सर्वथा निषेध कर दिया था जिसका उल्लेख उनके शिलालेखों में मिलता है।[8] इसी तथ्य को आचार्य जी ने भी अशोक-विजयम् में उल्लिखित करते हुए विश्वबन्धुत्व को प्रदर्शित किया है – अतः परमनवरतं पशुपक्षिणामपि प्राणरक्षणमिहलोके परलोके च मे कल्याणं वितनोतु।[9]

अशोक-विजयम् नाटक के ये वाक्य संसार के सभी प्राणियों के प्रति प्रेमभाव रखने का संदेश देते हैं। वर्तमान समय में व्यक्ति इतना संवेदन हीन एवं निर्दयी हो गया है कि तड़पते जीवों को देखकर भी उसकी आँखें नम नहीं होतीं। अपनी उदरपूर्ति करने के लिए जीवों को नित्यप्रति अपना भोज्य पदार्थ बना लेते हैं, जबकि ईश्वर ने सभी के लिए विभिन्न प्रकार के अनेक खाद्य पदार्थ बनाए हैं। उनका प्रयोग न करके मानव असहाय जीवों की हत्या कर जघन्य अपराध करता है। महाभारत के वाक्य ''अहिंसा परमो धर्मः''[10] इस उक्ति का राग तो सभी अलापते हैं किन्तु इसको प्रयोग में लाने वाले विरले ही हैं। जो कि जीव हत्या निषिद्ध करके सम्राट् अशोक ने चरितार्थ किया वस्तुतः अहिंसा के अर्थ को सामान्य जन ने जीवों के न मारने एवं पीड़ा न देने तक ही सीमित कर दिया है किन्तु मनुष्य का अहंकार एवं मोह भी एक प्रकार की हिंसा है तथा किसी निरीह असहाय जिसे सहायता की अत्यधिक आवश्यकता है उसकी सहायता न करना भी एक प्रकार की हिंसा है और किसी निरपराधी को पीड़ित करना भी हिंसा ही है। इसी विषय पर महाभारत में कहा गया है - ''आनृशंस्यं क्षमा शन्तिरहिंसा सत्यमार्जवम्''।[11] अर्थात् सभी प्राणियों पर दया एवं क्षमाभाव रखना चाहिए तथा शान्ति और अहिंसा का पालन करना चाहिए। इस प्रकार यदि अहिंसा का पालन सभी मानव करते हैं तो सम्पूर्ण विश्व में शान्ति की स्थापना होगी। हिंसा से कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता। हिंसा किसी भी समस्या का हल नहीं है। हिंसा से लोगों में शत्रुता बढ़ती है, शत्रुता से मैत्रीभाव का नाश होता है और मैत्रीभाव के नाश से बन्धुत्व का नाश हो जाता है। इसके विपरीत अहिंसा से ही विश्व शान्ति संभव है। अहिंसा का अनुसरण करने वाला मनुष्य सर्वत्र सुख पूर्वक निवासकर सकता है। जहाँ अहिंसा होती है वहाँ त्याग, तपस्या, प्रेम, पवित्रता एवं सद्भावना का वास होता है। यही सन्देश अशोक-विजयम् नाटक हमें देता है, क्योंकि ब्रह्मा के माध्यम से आचार्य जी ने कहलवाया है – ''विश्वमिदं सचराचरं ब्रह्मणः प्रतिरूपमिति ते प्रतिभास्यति। न केवलं मानवाः अपितु चराचरं जगत्वामात्मसात्कृत्य त्वादृशं विश्वबान्धवार्णवे निर्मक्ष्यति''।[12]

आचार्य ने भी युद्ध विजय की अपेक्षा धर्म-विजय[13] की ओर अशोक की प्रवृत्ति को दर्शाया है। अशोक स्वयं अपने राज सैनिकों को आदेश देते हैं कि अब धर्म से समस्त विश्व पर विजय करनी है। युद्ध विजय में विजित का सर्वस्व ले लिया जाता है किन्तु धर्म विजय में राजा अपना सर्वस्व लोकार्पण कर विश्व में सुख एवं शान्ति स्थापित करता है। इसी नैतिक शक्ति के माध्यम से वह सार्वभौम साम्रज्य का स्वामी बन जाता है। धर्म विजय लोकोपकारी होती है। यह विजय सर्वत्र प्रेम, शान्ति एवं बन्धुत्व को स्थापित करती है।

यदि वास्तव में हम विश्व को श्रेष्ठ बनाना चाहते हैं तो हमें अहिंसा और विश्वबन्धुत्व को आत्मसात् करना होगा और 'वसुधैव कुटुम्बकम' के सूत्र को चरितार्थ करना होगा। जैसा कि सम्राट् अशोक करता है। वह धर्म विजय का प्रण लेने के बाद अपने अस्त्र-शस्त्रों को भी कृषियन्त्र बनवा देता है और अधिकाधिक अन्न उपजवा कर मानव ही नहीं अपितु पशु-पक्षियों का भरण पोषण भी करता है। इसीलिए सम्राट् अशोक के आदर्श समाज में साधन रूप में हिंसा का स्थान अहिंसा ले लेती है।

प्रस्तुत नाटक हमें सिखलाता है कि युद्ध खुशी नहीं अपितु दुख, करुणा, विलाप एवं अभिशाप ही देता है जबकि परस्पर सहयोग, स्नेह, सद्भाव, प्रेम, अहिंसा एवं मैत्री हमें सुख शान्ति एवं आत्म सन्तुष्टि देते हैं। वास्तव में सत्य, प्रेम और अहिंसा से ही विश्व में सद्भावना को स्थापित किया जा सकता है। सम्राट् अशोक का जीवन क्रूरता से सौम्यता, हिंसा से दया और क्षमा की ओर अग्रसर होने की गाथा है जो विश्व के सभी मानवों को युद्ध, हिंसा एवं क्रूरता को त्यागकर सर्वदा प्रेम, सौख्य एवं अहिंसा का पाठ पढ़ाती है। अतः यह निश्चित है कि बिना बन्धुत्व और अहिंसा के विश्व में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती और शान्ति के अभाव में मानव विकास संभव नहीं है। शान्ति काल में ही उत्कृष्ट कला-कौशल और श्रेष्ठ साहित्य का सृजन होता है। शान्ति समय में ही समाज भौतिक दृष्टि से उन्नत होता है। अतः यदि विश्वकल्याण की भावना रखना हो तो सम्राट् अशोक के पद चिन्हों पर चलना होगा। युद्ध का मार्ग त्यागकर अहिंसा, प्रेम और सौख्य की भावना से विश्व में शान्ति स्थापित करनी होगी।

'वसुधैव कुटुम्बकम्' एवं 'अहिंसा परमो धर्मः' के सूत्र को प्रत्येक मानव को अपने जीवन में चरितार्थ करना होगा तभी विश्व में सुख एवं शान्ति की स्थापना की जा सकती है। जयतु भारतम्, जयतु संस्कृतम्।

सन्दर्भ -

1. अशोक विजयम् पृ. 12

2. अशोक विजयम् पृ. 12

3. अशोक विजयम् पृ. 34

4. अशोक का 11 वां शिलालेख, भारतीय पुरालेखों का अध्ययन, डॉ. शिवस्वरूप सहाय, पृ. 102

5. अशोक विजयम् पृ. 14

6. अशोक विजयम् पृ.

7. अशोक विजयम् पृ. 19

8. इह न कश्चित् जीवः आलभ्य प्रहोतव्य। अशोक का प्रथम शिलालेख, भारतीय पुरालेखों का अध्ययन, डॉ. शिवस्वरूप सहाय, पृ. 102

9. अशोक विजयम् पृ. 17

10. महाभारत, वन पर्व, 207/74

11. महाभारत, शान्तिपर्व, 53/22

12. अशोक विजयम् पृ. 25

13. अशोक विजयम् पृ. 28

18

नन्दगौतमीयम् : एक विवेचन

शालिनी सक्सेना

'नन्दगौतमीयम्' नाटक की कथावस्तु अश्वघोष के सौदरानन्द महाकाव्य की कथावस्तु पर आधारित है। नाटक की प्रस्तावना में महाकवि ने लिखा है कि ऐतिहासिक महापुरुषों एवं महात्माओं से मुझे प्रेरणा मिलती है और गौतम बुद्ध की चारु चरितावली का इस दिशा में प्रतिभास कराने के लिए इस नाटक का प्रणयन किया गया। गौतम का जीवन केवल अपने ही निर्वाण के लिए प्रयास परायण नहीं रहा अपितु बोधिज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर मानवमात्र के कल्याण को समर्पित था। उन्होंने घूम-घूमकर बौद्धधर्म का उपदेश दिया और बहुत से लोगों को दीक्षित किया। महात्मा गौतम को अपने कर्त्तव्यपथ का प्रतिभास हो गया। उनके जीवन का उद्देश्य था – ''उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।'' किसी भी रूपक की समीक्षा वस्तु नेता और रस की दृष्टि से की जाती है। नाटक के प्रमुख तीनों तत्त्वों में प्रथम कथावस्तु है। भरतमुनि ने इसे नाट्य का शरीर कहा है। इस शरीर में पाँच सन्धियां या खण्ड होते हैं :–

इतिवृत्तं तु नाट्यस्य शरीरं परिकीर्तितम्।
पंचभि सन्धिभिस्तस्य विभागः संप्रकल्पितः।।[1]

नन्दगौतमीयम् नाटक की कथावस्तु महात्मा बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण के घटनाक्रम के साथ प्रारम्भ होती है। महाकवि भास का अनुकरण करते हुए उन्होंने नाटक का प्रारम्भ प्रस्तावना से किया है और उन्हीं की भाँति ''नान्धन्ते प्रविशति सूत्रधारः'' से नाटक प्रारम्भ होता है। नाटक के लक्षण के अनुसार नाटक की कथावस्तु को छह अंकों में विभक्त कर प्रस्तुत किया गया है।

इस नाटक के नायक महात्मा गौतम प्रख्यात चरित्र हैं और क्षत्रियवंशी होते हुए संन्यस्त हैं। वे मर्त्यलोक में जन्म ग्रहण किए हुए देवपुरुष हैं। बौद्ध जातक

कथाओं में उनके चरित्र का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। सूत्रधार के माध्यम से कथानक के दार्शनिकस्वरूप का संकेत किया गया है। पारिपार्श्वक उपस्थित होकर विश्वविद्यालय के छात्रों द्वारा नन्दगौतमीयम् नाटक का अभिनय किए जाने की सूचना देता है और कथावस्तु को साररूप में प्रस्तुत करते हुए कहता है :—

बुद्धो बभौ महाँल्लोकं दर्शयित्वा परं पदम्।
नन्दस्तस्या- नुजातोऽभूज्जगदैक्यविधायकः।।
महिमानन्दभद्रस्य रोचिष्णुः समवर्धत।
छायां तस्य समाश्रित्य श्रावका भावनिष्ठिताः।।
त्रयं निवृति सम्पन्नं सच्चारित्र्यप्रकाशकम्।
लोकालोकेषु सर्वत्र भूयान्मंगलकारकम्।। इति

प्रथम अंक का प्रारम्भ मगध की राजधानी राजगृह के राजप्रसाद से होता है जहाँ महाराज बिम्बसार अपने मित्र महाराज शुद्धोदन के पुत्र सिद्धार्थ के राज्य से विमुख होकर वनगमन कर जाने से चिन्तित है और सिद्धार्थ को ढूंढ़कर किसी तरह समझाकर वापिस घर लौटा ले जाने के प्रयास में संलग्न हैं। वे अपने सचिव को सिद्धार्थ को ढूढ़ने का आदेश देते हैं। सचिव उन्हें आश्वस्त करते हैं कि राजकीय गुप्तचर अवश्य ही उनका पता लगा लेंगे। वे राजा से सिद्धार्थ की पहचान पूछकर कहते हैं कि इस तरह के लक्षण वाले प्रियदर्शी महानुभाव गेरुआ वस्त्रधारी नगर में भिक्षा माँगते हुए विचरण कर रहे हैं। पुनः सचिव द्वारा सिद्धार्थ के राजगृह में होने की खबर मिलने पर बिम्बसार उनके पास मिलने जाते हैं और उन्हें पिता के पास लौटने का आग्रह करते हुए अपने राजमहल में अतिथि बनने का प्रस्ताव रखते हैं जिसे सिद्धार्थ अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि ''स्वराजप्रासादं परित्यज्य भवतो राजप्रासादे मम वास इति विडम्बना एवं मां नाधिग्रहीष्यति।''

बिम्बसार के कहने पर वे अपने पिता के लिए सन्देश देते हैं कि मैंने आत्मकल्याण के लिए संन्यास लिया है। स्वयं जन्ममरण के बन्धन से मुक्त होकर धर्म प्रचार करते हुए कपिलवस्तु आकर पिता के साथ अन्य पुरजनों को आवागमन के बन्धन से मुक्त करूँगा। बिम्बसार सिद्धार्थ से मोक्ष प्राप्ति के उपरान्त राजगृह को कृतार्थ करने की प्रार्थना करते हैं। इस प्रकार आगे के अंक की कथा के संकेत के साथ अंक की समाप्ति होती है।

प्रथम अंक के बाद विष्कम्भक के माध्यम से नन्द के राजप्रसाद में प्रतिहार एवं प्रतिहारी के संवाद के माध्यम से सिद्धार्थ के बोधिसत्व प्राप्ति की सूचना दी गई है। साथ ही कपिलवस्तु एवं राजग्रह के नागरिकों के बुद्ध की शरण में जाने का उल्लेख भी किया गया है। यहीं बुद्ध के लोकोपकारी चरित्र की प्रशंसा के साथ पिता शुद्धोदन एवं बुद्ध के इकलोते पुत्र राहुल का बुद्ध की शरण में जाने की सूचना दी गई है। द्वितीय अंक के प्रारम्भ में बुद्ध अपने कपिलवस्तु आगमन के उद्देश्य पर विचार करते हुए कहते हैं कि मेरे कपिलवस्तु आने का उद्देश्य नन्द को दीक्षा देना है लेकिन अभी तक नन्द मेरे पास नहीं आए हैं। यहाँ नाटक के मुख्य प्रयोजन का उल्लेख किया गया है। इस अंक में नन्द के विवाह प्रक्रिया की सूचना गौतम को प्राप्त होती है। वे नन्द को पत्र लिखकर अपने पास बुलाते हैं और विश्वसुन्दरी पत्नी की जगह त्रिलोकसुन्दरी को पाने का प्रलोभन देते हुए कहते हैंः-''विश्वसुन्दर्या या विलासर्द्धिर्मनसि कृताः ततः सहस्रगुणः सौभाग्योदयो मया त्रैलोक्यसुन्दर्या सह तव परिणयेन संकल्पितः।'' और योगबल से स्वर्ग में नन्दनवन ले जाने को कहते हैं जिससे नन्द अत्यन्त प्रसन्न हो जाता है। इसके साथ द्वितीय अंक समाप्त होता है।

तृतीय अंक के प्रारम्भ में बुद्ध और नन्द आकाश मार्ग से स्वर्ग जाते दिखाई देते हैं। नन्दन वन की कमनीयता देख नन्द बुद्ध से वहीं बसने की इच्छा व्यक्त करते हैं। बुद्ध परिहास करते हुए अपनी योजना को सफल बनाने के उद्देश्य से नन्द को तपस्या की ओर उन्मुख करते हुए कहते है कि अप्सराओं की संगति पाने के लिए तप करना होगा जिसे नन्द स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार बुद्ध की योजना फलीभूत होती दिखाई देती है। बुद्ध नन्द को तपस्या के लिए हिमालय की निर्मल गोद में पहुँचने की कहते हैं और नन्द के आग्रह पर उन्हें वहाँ ले जाने की कहकर रात्रि को नन्दन वन में विश्राम करने को कहते हैं। नन्द के नन्दनवन में विहार एवं देवदूत के साथ संवाद के साथ तृतीय अंक की समाप्ति होती है। इस अंक में नन्द की तपश्चर्या की भूमिका तैयार हो जाती है। चतुर्थ अंक का प्रारम्भ हिमालय पर गंगा तट पर साधुवेश में विद्यमान आनन्द के साथ होता है। यहाँ कवि ने आनन्द के स्वगत आत्मसंवाद के व्याज से हिमालय के सांस्कृतिक महत्त्व एवं प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन किया है। कवि यहाँ कहते हैंः-

साधूनां धर्मशीलानां मुनीनां पुण्यकर्मणाम्। त्वं सदा संश्रयः शैलस्वर्गमार्गाभिकांक्षिणाम्।

हिमालय की कंदराओं में देव किन्नर ऋषि मुनि तपस्या कर मोक्ष मार्ग की ओर उन्मुख होते हैं। बुद्ध द्वारा नन्द के समाचार जानने को भेजा गया आनन्द मुनियों से नन्द के बारे में जानकारी लेता है और अप्सराओं की प्राप्ति के लिए उनके द्वारा तप करने की सूचना उसे प्राप्त होती है। आनन्द नन्द के समीप जाकर बुद्ध के आदेशानुसार उसे अप्सराओं के प्रति विमुख करने का प्रयत्न करता है और उसे स्वर्ग सुख के क्षणिक स्वरूप व पुण्य क्षीण होने पर धरती की ओर लौटते प्राणियों की दशा दिखाकर शाश्वत मोक्ष मार्ग की ओर उन्मुख होने का उपदेश देता है। नन्द बुद्ध के दर्शनार्थ श्रावस्ती जाने का निश्चय करते हैं। इस प्रकार बुद्ध के नन्द को मोक्षपथ पर अग्रेसित करने का संकल्प सिद्ध होने की राह आसान होती दिखाई देती है। पंचम अंक में तापस नन्द अपनी मनोदशा का वर्णन करते हुए अस्थिर चित्त को स्थिर करने का प्रयास करते दिखाई देते हैं और मन की स्थिरता के लिए बुद्ध की शरण में जाने की इच्छा करते हैं और श्रावक उन्हें बुद्ध के पास ले जाने के लिए आ जाते हैं। बुद्ध नन्द को जाँचने के लिए उन्हें अप्सरा दिलाने के वादे की याद दिलाते हैं तो नन्द कहता है कि मैंने कल्पवृक्ष से तिनके की याचना की। आनन्द ने मेरी आँखें खोल दी। वह बुद्ध से चित्त को स्थिर करने में मदद करने का आग्रह करते हैं। तब बुद्ध उन्हें योग की अन्तर्दृष्टि प्रदान कर शरीर के नश्वर स्वरूप को दिखाते हैं। उसके बाद नन्द संन्यास का संकल्प लेने की मुद्रा में आ जाते हैं तब बुद्ध उन्हें ब्रह्मा की मानवता को निर्द्वन्द्व सुसंस्कृति प्रदान करने की योजना बताकर ब्रह्मलोक जाने का निश्चय करते हैं।

षष्ठ अंक ब्रह्मलोक में ब्रह्मभवन के लिए मेरुपर्वत पर उतरते हुए बुद्ध और नन्द के साथ शुरु होता है। ब्रह्मा जी के भवन में सात्विकता के ह्रास से सन्तप्त पृथ्वी की सहायतार्थ बुद्ध से उपाय पूछते हैं। बुद्ध भारतेतर प्रदेशों में भी सत्पथ पर चलने के उपदेश प्रसारित करने की योजना बनाते हैं। बुद्ध ब्रह्मा से योगैश्वर्य युक्त ब्राह्मणों को उत्पन्न करने का निवेदन करते हैं जो ब्राह्म संस्कृति का प्रचार कर सकें। इसके लिए ब्रह्मा बुद्ध को अध्यक्ष बनाना चाहते हैं और बुद्ध इस काम के लिए नन्द को नियुक्त करने का प्रस्ताव रखते हैं। ब्रह्मा उन्हें विश्वशान्ति के लिए ब्राह्मी योग शक्ति प्रदान करते हैं। इस प्रकार नन्द की दीक्षा के साथ नाटक सम्पन्न होता है।

नन्दगौतमीयम् नाटक के अंक नाट्यलक्षण के अनुरुप संघटित किए गए हैं। जो वृत्त अंक में प्रारम्भ होता है वह अंक की समाप्ति तक पूर्ण हो रहा है और आगामी अंक के इतिवृत्त की सूक्ष्म सूचना भी यथास्थान प्राप्त हो जाती है यथा

पंचम अंक के अन्त में अग्रिम अंक की कथावस्तु का संकेत कर दिया गया है कि अगले अंक में ब्रह्मा की सभा में उपस्थित होकर विश्वकल्याण की योजना सम्पादित की जानी है। नाटक के नायक बुद्ध का चरित्र अन्य पात्रों के कथनों से चरितार्थ होता जाता है। नाटक का प्रारम्भ प्रस्तावना से हुआ है जिसका लक्षण इस प्रकार –

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते।।

यहाँ नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार के साथ पारिपार्श्विक नाटक के अभिनय का संकेत करते हैं। द्वितीय अंक से पूर्व विष्कम्भक के द्वारा बुद्ध के बोधिज्ञान प्राप्त करने की पूर्व कथा का उल्लेख कर वर्तमान में उनके शिष्य बनने की भावी कथा की सूचना दी गई है।

नाटक में यथास्थान अवस्थाओं, अर्थप्रकृतियों एवं पंचसन्धियों का प्रयोग किया गया है। नाटकीय कथावस्तु की पहली अवस्था 'आरम्भ' होती है। इस अवस्था में नायक के मन में किसी फल अथवा वस्तु की प्राप्ति की इच्छा होती है। यह नायक का मानसिक व्यापार है और औत्सुक्य रूप होता है। द्वितीय अंक में बुद्ध अपने मन में चिन्तन करते हुए कहते हैं कि यद्यपि अनेक नगरों से लोग मेरे समीप आकर दीक्षा ग्रहण कर चुके लेकिन नन्द अभी तक राजमहल में विहार कर रहा है। उसे अपने जीवन का उद्देश्य स्मरण नहीं है, उसे अपने कार्य की सिद्धि में नियोजित करता हूँ- तुषितलोकाद् ब्रह्मणावतारितः स इह राजकुले विहरति। तमहं स्वकार्यार्थमुद्योजयिष्यामि। यहाँ 'आरम्भ' नामक अवस्था दृष्टिगत होती है। द्वितीय अवस्था 'यत्न' है जो वहीं बुद्ध द्वारा पत्र भेज कर नन्द को अपने समीप बुलाने की घटना में निहित है। अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए बुद्ध श्रावक को भेजकर नन्द को अपने पास बुलाते हैं और फिर नन्द के आत्मकल्याण का अभियान प्रारम्भ होता हैः- नन्दोऽयं यौवनोचितकामपाशाद् विमोचनीयः। इति[2] जब स्वर्ग जाकर नन्द अप्सरा प्राप्ति के बहाने तपस्या हेतु तत्पर होता है तो वहाँ प्रत्याशा नामक अवस्था होती है क्योंकि तपस्या के माध्यम से नन्द का चित्त सांसारिक तृष्णा से दूर हो जाएगा ऐसा बुद्ध का अभिप्रेत हैं। परिहासोऽपि क्वचिदपरिहार्यो भवति कार्यसाधकः। वस्तुतोऽत्र द्विधा फलति मे नीतिः। एका क्रिया अर्थद्वयकरी भविष्यतीति। ..... क्षिप्रमेव लोकातिगतेन स्वीयतपसा ताः क्रेतुं समर्थो भविष्यसीति प्रतिभूस्तिष्ठामि।[3] और नन्द तपस्या के लिए तत्पर हो जाता है। पंचम अंक के अन्त में जब नन्द आत्मकल्याण के मार्ग का अनुगामी बन जाता है तो वहाँ 'नियताप्ति'

नामक अवस्था विद्यमान दिखाई देती है। यहाँ आकर बुद्ध का प्रयोजन सिद्ध होना निश्चित हो जाता है। षष्ठ अंक में ब्रह्मा द्वारा नन्द को संसार के आत्मकल्याण की योजना का अध्यक्ष नियुक्त कर ब्राह्मी योग शक्ति देने के साथ 'फलागम' नामक अवस्था की पूर्ति होती है। बुद्ध द्वारा नन्द के आत्मकल्याण का चिन्तन कथा का बीज सिद्ध होता है। नन्द के विवाह का समाचार बिन्दु है क्योंकि बुद्ध का उद्देश्य नन्द की दीक्षा है जो विवाह के प्रसंग से विच्छिन्न होती दिखाई देती है लेकिन बुद्ध द्वारा उसे त्रिलोकसुन्दरी का प्रलोभन देकर उसे फिर से मुख्य उद्देश्य की ओर मोड़ दिया जाता है। नन्द का स्वर्ग गमन एवं हिमालय पर तपस्या के प्रसंग में पताका और प्रकरी नामक अर्थप्रकृतियों का विन्यास है जो कि नन्द के मोक्ष पथ की ओर उन्मुख होने में सहायक होते हैं। पंचम अंक की समाप्ति में नन्द का मोक्ष की ओर उन्मुख होना कार्य नामक अर्थ प्रकृति है। जहाँ नन्द कहता है:-''सर्वत्र विश्वजनस्यार्थं करिष्याम्यहमिति व्रती भगवता निर्दिष्टं सर्वं सोद्योगं साधयिष्यामीति प्रतिजाने।'' इसी प्रकार पंचविध अवस्थाओं एवं अथप्रकृतियों के संयोग से यथास्थान पंचसन्धियों का प्रयोग भी यथा स्थान दृष्टिगत होता है। कथानक इतिहास प्रसिद्ध है।

नाटक का नेता अर्थात नायक महात्मा बुद्ध हैं। यद्यपि नाटक का उद्देश्य नन्द को मोक्ष पथ पर उन्मुख करना है और नाटक के अन्त में इसकी सिद्धि भी होती है और नाटक का फल जिसे मिलता है वही नायक कहलाता है। यहाँ नन्द को मोक्षपथ पर प्रेरित करना बुद्ध का प्रयोजन है अतः बुद्ध को ही नाटक का वास्तविक फल प्राप्त होता है, अतः नाटक के नायक बुद्ध हैं। महात्मा बुद्ध का चरित्र पात्रों एवं घटनाओं के माध्यम से उभरता है। वे धीरोदात्त नायक हैं। उनमें नायक के समस्त गुण यथा औदार्य, भव्यता, कुलीनता, नागरता, सौन्दर्य, साहस एवं धर्मशीलता है। वह तेजवान् भव्य और प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी हैं। वे सम्पूर्ण जानपदों के आकर्षण का केन्द्र हैं वे अपने गुणों से सभी को अपना शिष्य अथवा अनुगामी बना लेते हैं। कामासक्त नन्द भी उनका अतिक्रमण नहीं कर पाता। बुद्ध संन्यस्त अवस्था में अपने परिजनों के आत्मकल्याण के लिए तत्पर हैं और धर्मपारायण तो हैं ही। यद्यपि नाटक का उद्देश्य नन्द का आत्मकल्याण है और बुद्ध के सारे प्रयत्न उसी के निमित्त हैं इससे फल प्राप्ति नन्द को दृष्टिगोचर होती है अतः शंका हो सकती है कि नन्द ही नाटक का नायक है लेकिन यहाँ नन्द स्वयं आत्मकल्याण की ओर उन्मुख नहीं हैं अपितु बुद्ध का लक्ष्य उन्हें आत्मकल्याण की ओर प्रेरित करना

है अतः नन्द के आत्मकल्याण से बुद्ध के लक्ष्य की पूर्ति होती है अतः वे ही नाटक के नायक सिद्ध होते हैं। नायक की समस्त सात्विक विभूतियां यथा शोभा, विलास, माधुर्य, तेज, स्थैर्य, गांभीर्य, लालित्यएवं औदार्य उनके व्यक्तित्व के गुण हैं। अन्य पात्रों में नन्द व आनन्द का चित्रण विशेष है। कुछ समय के लिए बिम्बसार, ब्रह्मा, पृथ्वी आदि पात्र भी मंच पर उपस्थित होते हैं और अपने अपने चरित्र के प्रदर्शन के साथ नाटक के उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होते हैं।

नाट्य का प्रधान तत्त्व रस है। कवि का परम लक्ष्य सामाजिकों सहृदयों को रसानुभूति कराना होता है। रूपक के समस्त उपादान वस्तु, अभिनय आदि इसी प्रयोजन की सिद्धि करते हैं। इनका रस के साथ अंगांगिभाव सम्बन्ध होता है। शान्त को रस के रूप में मान्यता सातवीं शताब्दी के आसपास प्राप्त हुई। नाट्यदर्पणकार ने संसार से भय, वैराग्य जीवाजीव, पुण्यपापादि रूप तत्त्व और मोक्ष हेतु प्रतिपादक शास्त्र के निदर्शन द्वारा शान्त का अभिनय विधेय माना है। रुद्रट के अनुसार विषय में तमस् और राग के अपगम से उत्पन्न सम्यक् ज्ञान रूप स्थायी भाव से शान्त रस की अभिव्यक्ति होती है। इसका नायक स्वभाव से सम्यग्ज्ञानी और विगतस्पृह होता है। जन्म, मरण, से त्रास, विषय में वैरस्य, सुख दुःख के प्रति अनिच्छा तथा द्वेष शान्त रस की स्थिति में होते हैं।[6] इस दृष्टि से स्पष्टतः इस नाटक का मुख्य रस शान्त है जिसका स्थायी भाव निर्वेद है। नन्द द्वारा मोक्ष की प्राप्ति एवं उसके अनुकूल प्रयास का विवेचन करते हुए दार्शनिक पदावली का विवेचन किया गया है। नन्द के मुक्त होने के साथ ही नाटक का पर्यवसान होता है। प्रथम अंक में सिद्धार्थ के कथन से ही शान्त रस का परिचय मिलता है :–

जरां व्याधिं च मृत्युं च को हि जानन् सचेतनः।
स्वस्थ्यस्तिष्ठेन्निषीदेद् वा शयेद्वा किं पुनर्हसेत्।।
अनित्यं तु जगन्मत्वा नात्र मे रमते मनः।।
अन्यत्र भी
पश्य चित्रकृतं बिम्बमरुष्कायं समुच्छ्रितम्।
परिजीर्णमिदं रूपं रोगनीड़ं प्रभंगुरम्।।
भिद्यते पूतिसन्दोहो मरणान्तं हि जीवितम्।

तृतीय अंक में वसन्त की शोभा के साथ अप्सराओं के विलास के माध्यम से अंगरूप में श्रृंगार रस का विवेचन भी किया गया है। यथा

गायन्ति ता धीरमुदात्तमन्याः पद्मानि कांश्चिल्ललितं लुनन्ति।
अन्योन्यहर्षान्नटरागशीला-श्चितांगहारा रमणायमानाः।।

नन्दगौतमीयम् नाटक की कथावस्तु सौन्दरानन्द महाकाव्य की कथावस्तु पर आधारित है जिसे नाटककार ने नाटक के अनुसार संक्षिप्त किया है। महाकाव्य में जहाँ नगर, ऋतु, प्रकृति आदि का चित्रण विस्तार से अपेक्षित होता है वहाँ नाटक में ये सब प्रसंगतः ही उपस्थित होते हैं। रामजी उपाध्याय ने अनपेक्षित विवेचनों को छोड़कर कथावस्तु को संक्षिप्त कर दिया है। लेखक अपने उद्देश्य में सफल रहे हैं। अभिनय की दृष्टि से नाटक सफल कहा जा सकता है। भाषाशैली की दृष्टि से लेखक ने सहज एवं सरल भाषा का प्रयोग किया है। भाषा भावों की अनुगामिनी होकर प्रस्तुत हुई है। नाटक में सर्वत्र प्रसाद गुण का प्रसार परिलक्षित होता है।

सन्दर्भ -

1. *नाट्यशास्त्र, 19/1*
2. *नन्दगौतमीयम्, द्वितीय अंक पृ. 14*
3. *नन्दगौतमीयम्, तृतीय अंक पृ. 17-18*
4. *नाटकलक्षणरत्नकोश, पृ. 27*
5. *काव्यानुशासन, अध्याय 7, पृ. 355*
6. *काव्यालंकार, 15/15-16*

19

नवीन उद्‌भावनाओं का अतिरंजित चित्रण और विश्वविजय नाटक

आनन्दप्रकाश त्रिपाठी

आधुनिक संस्कृत साहित्य के पुरोधा डॉ. रामजी उपाध्याय बहुमुखी प्रतिभा के धनी आचार्य थे। उन्होंने भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि पौराणिक एवं ऐतिहासिक चरित्रों तथा अपने समकालीन जीवन और समाज के विविध संदर्भों पर आधारित अनेक गद्य कृतियों की सर्जना की है। उपन्यास और नाटक, आलोचना, काव्यशास्त्र के क्षेत्र में भी उनकी सर्जना को संस्कृत के विद्वानों की भरपूर सराहना मिली है। उनके उत्कृष्ट सृजनात्मक नाट्य लेखन को आज नये सिरे से परखने की नितांत आवश्यकता है। हर सर्जक अपने समय के ज्वलंत प्रश्नों से रू-ब-रू होता है और ऐतिहासिक एवं पौराणिक कथा चरित्रों, प्रसंगों को नयी सोच, नये संदर्भ और नयी भाव चेतना के साथ सृजित करने का प्रयास करता है। परंपरा से प्राप्त ज्ञान और युग चेतना को अपने समय की कसौटी पर परखने में उसकी लेखनी सिद्ध होती है।

आचार्य रामजी उपाध्याय ने भी कुछ ऐसा ही किया जिससे उनकी नाट्य कृतियों की प्रशंसा और आलोचना दोनों ही की गयी है। अनेक विद्वान उनकी अतिरंजित कल्पनाशीलता से असहमत होते भी नजर आते हैं। उनके लेखन पर यदा-कदा प्रश्नचिह्न लगाये गये हैं। ध्यातव्य है कि हर युग का रचनाकार पुराकथाओं एवं पुराचरित्रों को अपने युग संदर्भ में प्रासंगिक बनाता है। डॉ. उपाध्याय ने संवेदना, नयी दृष्टि, नयी विचारभूमि, नयी भावना से नये अर्थ की प्रतिष्ठा कर अपनी प्रतिमा से सभी को चमत्कृत करने का प्रयास किया है। उन्होंने मिथकीय चरित्रों को अपने मनोनुकूल गढ़ने का प्रयास किया है।

एक प्रतिष्ठित और बड़े सर्जक को अपनी रचनाओं में कल्पना की अतिशय छूट मिलना कितना औचित्यपरक है कि वह शताब्दियों से लोक और साहित्य में प्रतिष्ठित मूलकथा और चरित्र के चित्रण में मनमानी करे। उसे नया अर्थ देने की छूट है। लेखकीय स्वतंत्रता में हस्तक्षेप भी तो नहीं किया जा सकता है। रामकथा की पुनर्सजना में तो शताब्दियों पूर्व से ही विभिन्न विचारधाराओं के पोषक रचनाकारों ने खूब मनमानी की है और बेहिसाब बदलाव कर रामकथा को अपने हिसाब से गढ़ा और रचा है, जिस पर बराबर सवाल उठते रहे हैं, किन्तु यह भी सच है कि रामकथा के ऐतिहासिक न होने पर स्वतः लेखकों को अपने ढंग से लिखने की छूट मिल जाती है।

यहाँ हम रामजी उपाध्याय के संस्कृत नाटकों के संदर्भ में रामकथा और इतिहास के चरित्रों के स्वरूप में की गई मौलिक कल्पनाओं पर विचार करना चाहेंगे। उपाध्याय जी की प्रथम नाट्यकृति 'सीताभ्युदयम' में सीता के जीवन से सम्बद्ध कथाओं को नवीन दृष्टि से संवलित कर लेखक ने सीता के व्यक्तित्व को अभिनव स्वरूप देने का प्रयास किया है। पहला प्रश्न यह कि सीता के निर्वासन में जिस अभुक्त मूल नक्षत्र में पुत्र प्रसवजन्य महाविपत्तियों की आशंका से बचने के लिए वशिष्ठ के निर्देशानुसार राजाप्रसाद से दूर सीता को दीर्घ अवधि तक वाल्मीकि के आश्रम में रहना पड़ता है। राम का अपने पुत्रों का दर्शन निषिद्ध है। राम महर्षि बाल्मीकि से मिलकर सीता के रहने की उचित व्यवस्था करते हैं। इसका पूर्व काव्य-परंपरा में कोई साक्ष्य नहीं मिलता है। इसे नाटककार की अपनी मौलिक नूतन कथा कल्पना कहा जायेगा। दूसरा प्रसंग यह है कि वाल्मीकि का विश्वविद्यालय सीता की मातृभूमि पाताल लोक में स्थापित किया गया है। यह पृथ्वीदेवी की योजना का एक हिस्सा है। इस विद्यापीठ में संसार के सभी द्वीपों के छात्र अन्तेवासी बनकर शिक्षा प्राप्त करेंगे। यह महिला विद्यापीठ है जिसमें छात्रों व आचार्यों के साथ सीता भी भूमण्डल का पर्यटन करते हुए धराधाम से पाताल लोक में जाकर भगवान राम के आदर्शों की शिक्षा देती हैं, पूर्वी द्वीप समूह अमेरिका और आस्ट्रेलिया महाद्वीप तक रामकथा के माध्यम से भारतीय संस्कृति का प्रचार किया। यह कल्पना आधुनिक संदर्भ में भले ही किसी को उचित प्रतीत हो सकती है, किन्तु रामकथा और सीता के उत्तरार्ध जीवन के प्रसंगों में यह परिवर्तन कितना स्वीकार्य होगा? विद्वानों के समक्ष विचारणीय प्रश्न है? यह बात भी अटपटी सी मालूम होती

है कि पृथ्वी पर धार्मिक प्रवृत्ति को बढ़ावा देने के लिए राम ने सीता को सम्पूर्ण भारतवर्ष और विश्व में अपने सांस्कृतिक सामाजिक कार्यों के निमित्त से बाल्मीकि आश्रम में भेजा था। नाटक के प्रथम अंक में 'भृगुशाप' कवि की मौलिक कल्पना है। जबकि बाल्मीकि रामायण में ऐसा प्रसंग नहीं वर्णित है। लक्षमण के स्थान पर स्वयं राम सीता को वाल्मीकि के आश्रय में छोड़ने जाते हैं।

कैकयी रामकथा का प्रमुख स्त्री चरित्र है। 'कैकेयी विजयम्' नाटक में उपाध्याय जी ने कैकेयी के पूर्व प्रचलित चरित्र से सर्वथा भिन्न महनीय वीरांगना, राजनीति-निपुणा और मानवहित के लिए समर्पित नारी की छवि से अलंकृत किया है। उन्होंने वाल्मीकि रामायण में वर्णित कैकेयी से जुड़े घटनाक्रम को एकदम उलट-पुलट दिया है। उन्होंने रामवनगमन के मूल में कैकेयी की लोकहित भावना को साकार करना चाहा है और कैकेयी को रघुकुल की पताका को कभी न झुकाने वाली माना है। कैकेयी विजयम् में रामकथा के किसी पात्र के जीवन में राम वनवास को लेकर कोई द्वन्द्व और अन्तःसंघर्ष नहीं दिखायी देता है। कैकेयी का राम को दण्डकारण्य भेजकर ऋषियों को राक्षसों के आतंक से बचाने का प्रयास, सीता को बचाने के लिए कैकेयी का अयोध्या की चतुंरगिणी सेना भेजना तथा कैकेयी का राम को पत्र द्वारा सूचित करना कि वन का उद्देश्य पूरा हो गया, अतः अयोध्या लौट आना चाहिए; जैसे अनेक प्रसंग नाटककार की अभिनव कल्पना है। लोक और महाकाव्यों में प्रचलित रामकथा में वर्णित कैकेयी के व्यक्तित्व को बिल्कुल नयी भावभूमि पर खड़ा करने का साहस उपाध्याय जी ने किया है जो सर्वमान्य नहीं कहा जायेगा। फिर भी, सर्जक की कल्पनाशीलता पर रोक कैसे लगायी जा सकती है। जो भी हो, 'कैकेयी विजयम्' की कैकेयी की सर्वथा नूतन छवि गढ़ी गयी है जो उसे महान नायिका सिद्ध करती है।

शम्बूक भी रामकथा से जुड़ा पात्र है, भले ही उसके जीवन से जुड़े घटनाक्रम को हमने राम के मर्यादा पुरुषोत्तम व्यक्तित्व से अलग करने की कोशिश की हो। लेकिन शम्बूक का नाम लेते ही राम के महान् व्यक्तित्व का सिंहासन उगमगा उठता है। रामजी उपाध्याय ने 'शम्बूकाभिषेकम्' नाटक में शम्बूक के चरित्र और जीवन घटनाक्रम को नया अर्थ प्रदान किया है। शम्बूक के असाधारण तपस्वी व्यक्तित्व होने से इन्कार नहीं किया जा सकता है। शम्बूक का चरित्रांकन कालिदास, भवभूति ने भी अपने महाकाव्यों में किया है। रामजी उपाध्याय ने

शम्बूक वध के कलंक से राम को मुक्त करने का प्रयास किया है। राम शम्बूक का राज्याभिषेक करते हैं। यह प्रसंग भी मनगढ़न्त कहे जायेंगे। मिथकों को गढ़ने-सिरजने का प्रयास लेखकीय मंशा और विचार दृष्टि और युगीन संदर्भ पर ही निर्भर होना कहा जायेगा।

सीता, कैकेयी और शम्बूक के बहाने श्रीराम के व्यक्तित्व, रामकथा के धूमिल चिह्नों को मिटाने की भरसक कोशिश डॉ. उपाध्याय ने अपने नाटकों में की है। पर लोकचित्त का परिमार्जन करना उनके बूते का नहीं था। हजारों वर्षों से भारतीय व विश्व मानस और भारतीय काव्य परंपरा में प्रचलित राम कथा में निराधार परिवर्तन लेखक के अपने युग-संदर्भ में सर्वथा स्वीकार्य नहीं हो सकता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य उपाध्याय ने रामवनवास के प्रसंग में कैकेयी, सीता परित्याग और शम्बूक वध के प्रसंग में राम के व्यक्तित्व को निष्कलंक साबित करने का बीड़ा उठा रखा है। वैसे तो अपने सभी नाटकों में उन्होंने अपनी सकारात्मक दृष्टि को चरित्रांकन में प्रक्षेपित करने का प्रयास किया है। यह उनकी सांस्कृतिक व सामाजिक चिंता का विषय है। उनकी आस्थावादी दृष्टि का पौराणिक व ऐतिहासिक चरित्रों के व्यक्तित्व पुनः सृजन में अप्रतिम योगदान है। लोकमंगल की प्रबल भावना के चलते नाटककार की महनीय विश्वविश्रुत नायकों राम, सीता, बुद्ध आदि की चारित्रिक दुर्बलताओं का निरसन कर लोकमानस में मूल्यों का जीवंत प्रतिमान बनाकर प्रस्तुत किया है। ऐसी ही अनेक सकारात्मक बातें पाठकीय आस्था को संबल प्रदान करती है, परन्तु कथा और चरित्र के अतिरंजित वर्णन को प्रबुद्ध जनों द्वारा एकमत स्वीकार किया जाना संभव नहीं हुआ है।

सम्राट् अशोक की ऐतिहासिक विजयगाथा को उपाध्याय जी ने 'अशोकविजयम्' नाटक की कथा का आधार बनाया है। यह नाटक अशोक को विश्वशांति और मानवता के कल्याण का अग्रदूत सिद्ध करता है। ऐतिहासिक तथ्य-सत्य को तोड़-मरोड़ कर पेश करना अनुचित माना गया है। पर रचनाकार अपनी उर्वर कल्पनाशीलता का रंग भरे बिना किसी कृति की सर्जना नहीं कर सकता है। इसलिए डॉ. उपाध्याय ने भी इस नाटक में कल्पना का भरपूर उपयोग किया है। किन्तु, उनकी अतिशय कल्पनाशीलता खटकने लगती है। इस नाटक में ब्रह्मा, विष्णु और महेश का अशोक का दर्शन और उसके उपदेश के लिए इहलोक

में अवतरण, ब्रह्मा का अहिंसा रूपी अशोक में महातप का बखान, त्रिदेवों का देवता मधुपर्क विधि से अशोक को तिलकित करना आदि कथा प्रसंग कपोल कल्पित हैं। ऐतिहासिक कथा चरित्र के संदर्भ में त्रिदेव दर्शन प्रसंग सर्वथा अनौचित्यपूर्ण है। इसी प्रकार 'नन्दगौतमीयम्' नाटक में ब्रह्मलोक, ब्रह्मा और बुद्ध का संवाद, ब्रह्मा की दृष्टि में ब्राह्मी का सांस्कृतिक उपक्रमों में नियोजन, पृथिवी देवी का भार उतारने में बुद्ध का सहयोग, बुद्ध द्वारा ब्रह्मा के प्रस्ताव को अस्वीकार कर नन्द को पृथ्वीलोक के कल्याण का दायित्व देना, ब्रह्मा की स्तुति द्वारा विश्वशांति की कामना नाटक के तृतीय अंक के प्रारम्भ में बुद्ध और नन्द का आकाश मार्ग से स्वर्ग जाते हुए दिखाई देना, नन्दनवन में नन्द की बसने की इच्छा, अप्सराओं की संगति, षष्ठ अंक में ब्रह्मलोक में ब्रह्मभवन के लिए मेरूपर्वत पर नन्द और बुद्ध की उपस्थिति, विश्वशान्ति के लिए ब्रह्मा द्वारा ब्राह्मी योग शक्ति प्रदान करना, गौतम बुद्ध के द्वारा ब्रह्मा की प्रशंसा, बुद्ध का ब्रह्मा और पृथिवी देवी से मिलन आदि प्रसंग ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा असंगत व अनौचित्यपूर्ण हैं। इस प्रकार के प्रसंगों की अवतारणा पर विद्वानों की नाटककार से असहमति की गुंजाइश सदैव बनी रहती है।

इसके बावजूद आचार्य रामजी उपाध्याय ने अपने नाट्य कृतित्व से संस्कृत की समृद्ध नाट्य लेखन परंपरा में एक हस्तक्षेप अवश्य किया है। अपने अभिनव चिंतन से कथा के पारंपरिक ढांचों में थोड़ी बहुत तोड़-फोड़ अवश्य की है। कई सार्थक बातें भी की हैं, अभिनव कल्पनाशीलता के दबाव और भारतीय सांस्कृतिक चेतना के आस्थावान संवाहक के बतौर जो चीजें उन्होंने अपने नाटकों में प्रस्तुत की हैं उनकी मीमांसा करने पर हमें एक नाटककार की सामर्थ्य और उसकी सोच का परिचय मिलता है। किन्तु, लोकव्यापी कथा और चरित्र की निर्मित में उन्होंने अपनी जिस स्वच्छंद कल्पना की रंगत देना चाहा है उसकी सार्वजनीन स्वीकृति मिलना असंभव प्रतीत होती है।

'विश्वविजय' मानवता और विश्वशांति का संदेश

आचार्य रामजी उपाध्याय ने संस्कृत के अतिरिक्त हिन्दी में भी दो नाटक लिखे हैं, जिनके नाम हैं- पूर्वपथ और 'विश्वविजय'। 'पूर्वपथ' अनुपलब्ध है। ऐसा उल्लेख है कि यह नाटक महात्मा बुद्ध के जीवन चरित्र पर आधृत है। संभवतः गौतम बुद्ध की विश्वविजय यात्रा के पूर्व का कथावृत्त 'पूर्वपथ' नाटक में वर्णित हुआ है। गृहत्याग और राज्य वैभव के परित्याग के उपरान्त बुद्ध के जीवन का पूर्वपथ उल्लेखनीय है।

'विश्वविजय' नाटक भी गौतम बुद्ध के जीवन से संबंधित है। इसका प्रकाशन चौखम्बा, सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी से हुआ है। इस ऐतिहासिक नाटक में विश्वमानवता के उद्धार के लिए चिंतित गौतम बुद्ध के औदात्यपरक व्यक्तित्व का चित्रण है। इस नाटक में गौतम बुद्ध के सांस्कृतिक चिंतन और वैश्वीकरण से हम परिचित होते हैं। सत्यानुसंधान, प्राणियों की कल्याण भावना के प्रति सजग बुद्ध शिष्यों को सभी द्वीपों, महाद्वीपों में भेजते हैं। छह अंकों के इस नाटक में राजकुमार सिद्धार्थ के गृहत्याग कर संन्यासी बनने से कथा की शुरूआत हुई है। उन्हें लगता है कि सांसरिक जीवन में पारमार्थिक सुख का स्वप्न नहीं देखा जा सकता है। दुःखमय आवागमन के बंधन से बचने का उपाय ढूंढ़ने गौतम पर्यटन हेतु मगध राज्य में राजगृह के समीप प्रदेश में पहुँचते हैं। इधर पिता महाराज शुद्धोदन के कहने पर मगध नरेश बिम्वसार सिद्धार्थ को घर लौटाने में असफल होते हैं। बोधिप्राप्त बुद्ध नन्द के मन से विश्वसुंदरी के स्थान पर त्रैलोक्य सुंदरी की संगति की योजना क्रियान्वित करना चाहते हैं। नन्द के साथ बुद्ध भी आकाश यात्रा पर निकल पड़ते हैं। आरंभिक दो अंकों की कथा बुद्ध और नन्द के गृह त्याग की है।

तृतीय अंक में अप्सरा लोक में गौतम नन्द के साथ पहुंचते हैं। अप्सराओं की संगति के लिए नन्द को तप करने की आवश्यकता है। वे दोनों हिमालय पहुँचते हैं। चतुर्थ अंक में अप्सराओं की प्राप्ति के लिए नन्द के तप करने पर आनन्द की कटु आलोचना झेलनी पड़ती है। नन्द और आनन्द का संवाद होता है। नन्द की दुर्दशा होती है और अप्सराओं की संगति की कामना छोड़कर बुद्ध से मिलने के लिए श्रावास्ती प्रस्थान करते हैं। पंचम अंक में श्रावास्ती में नन्द और बुद्ध से मिलना होता है। नन्द स्वर्ग का सारा घटनाक्रम शिक्षक आनंद की बातों से बुद्ध को अवगत कराते हैं। नन्द को असक्तिभाव से मुक्ति मिल जाती है। गौतम बुद्ध की प्रेरणा से नन्द विश्वहित के लिए नयी योजना से जुड़ जाते हैं। अंतिम छठें अंक में गौतम बुद्ध नन्द के साथ ब्रह्मलोक पहुँचते हैं। पृथिवी देवी से भेंट होती है। पृथिवी देवी ब्रह्म से आसुरी शक्तियों से लड़ने के लिए प्रेरित करती हैं। ब्रह्मा पृथिवी के कष्ट को दूर करने के लिए पृथिवी पर शान्ति और सदाचार की प्रतिष्ठा की बात कहते हैं। विविध सम्प्रदाय के लोगों को संश्लिष्ट करके परस्पर एकतासूत्र में आबद्ध करने का दायित्व बुद्ध द्वारा ब्रह्मा को दिया जाता है। स्वयं बुद्ध भारत के उत्थान के लिए सक्रिय होते हैं। नन्द इस कार्य में प्रतिनिधि के तौर पर सहयोग करते हैं।

इस नाटक का आद्य उपजीव्य सुत्तनिपात का पवज्ज्बा सुत और प्रथम उपजीव्य अश्वघोष कृत सौन्दरनन्द महाकाव्य है। नाटककार ने अपनी सुविधानुसार 'सौन्दरनन्द' महाकाव्य का उपयोग कथा चयन आदि में किया है। उन्होंने उपजीव्य कथा का अपनी दृष्टि के अनुसार संशोधन किया है। नायकों की अतिमानुषी प्रवृत्तियों की रेखाएँ बहुत गहरी हैं। इस नाटक में आघन्त सम्प्रियता का परिवेश विद्यमान है। देश-प्रदेश की संस्कृतियों और विविध प्रवृत्ति के अनुयायियों का परस्पर प्रीतिभाव आद्वितीय है। मानवों और अतिमानवों की एकीभूत वैश्वीकरण की योजना स्वभावतः प्रतिफलित होना चाहिए। नाटक रंगमंचीय दृष्टि से भी उपयुक्त कहा जायेगा। आधुनिक रंगमंच का उन्मेष कहीं-कहीं दिखाई पड़ता है।

'विश्वविजय' नाटक के आरंभ में 18 पृष्ठों की भूमिका महत्त्वपूर्ण है जिसमें लेखक ने इस नाटक के संदर्भ की अनेक बातें विस्तार से स्वतः स्पष्ट कह दी है। पचपन पृष्ठ का यह नाटक आचार्य रामजी उपाध्याय का नाट्यप्रतिभा से हमें परिचित करा देता है।

20

नन्दगौतमीयम् में अलंकार-योजना

सन्दीप कुमार यादव

भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में आचार्य भामह ने अलंकार सम्प्रदाय की स्थापना की है। इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने अलंकार को ही काव्य का सर्वस्व स्वीकार किया है। इनका मत है कि जिस प्रकार उष्णता अग्नि का प्राण है, उसी प्रकार अलंकार काव्य का जीवनाधार है। यदि उष्णता के अभाव में अग्नि, अग्नि नहीं समझी जा सकती, तो अलंकारविहीन काव्य को काव्य भी कैसे समझा जा सकता है। किन्तु सामान्यतः अलंकार का अर्थ 'आभूषण' है। जिस प्रकार एक रमणी के सौन्दर्यवर्धन के लिये अलंकारों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार काव्य के सौन्दर्यवर्धन के लिये अलंकारों की आवश्यकता होती है। अतः कहा जा सकता है कि अलंकार काव्य के आभूषण है। 'अलंकरोतीति अलंकार' से यही तात्पर्य है। शब्द के परिवर्तनासहत्व और परिवर्तनसहत्व की दृष्टि से अलंकार दो प्रकार का होता है- शब्दालंकार और अर्थालंकार। अर्थात् जहाँ शब्द का परिवर्तन करके उसका पर्यायवाचक दूसरा शब्द रख देने पर अलंकार नहीं रहता, वहाँ शब्दालंकार तथा जहाँ शब्द का परिवर्तन करके दूसरा पर्यायवाचक शब्द रख देने पर भी उस अलंकार की सत्ता बनी रहती है, वहाँ अर्थालंकार होता है।[1] प्रो. रामजी उपाध्याय ने अपने नाटक नन्दगौतमीयम् में अनुप्रास, उपमा, रूपक, विभावना, उत्प्रेक्षा, उदात्त आदि अनेक अलंकारों का प्रयोग किया है।

अनुप्रास अलंकार - 'वर्णसाम्यमनुप्रासः' अर्थात् वर्णों की समानता (आवृत्ति का नाम) अनुप्रास है।[2] नन्दगौतमीयम् नाटक में अनेकों श्लोकों में अनुप्रास अलंकार दर्शनीय है। उदाहरण के रूप में षष्ठ अंक श्लोक में दृष्टव्य है —

जय जय जलाधारे जलशीले जलप्रदे। सर्वाधारे च सर्वज्ञे सर्वशक्ति-समन्विते।।
सर्वकामप्रदे देवि सर्वेष्टं देहि शम्भवे। पुण्यस्वरूपे पुण्यानां बीजरूपे सनातनि।।[3]

प्रस्तुत श्लोक के प्रथम चरण में 'ज' वर्ण की पाँच बार, द्वितीय चरण में 'स' वर्ण की चार बार, चतुर्थ चरण में 'प' वर्ण की दो बार आवृत्ति होने से अनुप्रास अलंकार है।

उपमा अलंकार - 'साधर्म्यमुपमा भेदे' अर्थात् उपमान तथा उपमेय का भेद होने पर उनके साधर्म्य का वर्णन उपमा अलंकार कहलाता है।[4] नन्द-गौतमीयम् नाटक के तृतीय अंक में महात्मा बुद्ध और नन्द वायुमार्ग से यात्रा करते है। उस समय नन्द पृथिवीलोक को देखते हुये कहता है कि बड़े-बड़े पर्वत हाथी के बच्चे के समान, समुद्र तालाब जैसा, वृक्ष शैलाव सदृश, और पृथिवी तल स्थल के एक टुकड़े के समान दिखायी पड़ रहा है -

शैलेन्द्राः कलभोपमा जलधराः क्रीडाताडागोपमाः।
वृक्षाः शैवाल-सन्निभाः क्षितितलं प्रच्छन्ननिम्नस्थलम्।।[5]

यहाँ वाचक शब्द के रूप में 'उपमा' का प्रयोग होने से उपमा अलंकार है। इसी प्रकार चतुर्थ अंक में 'इव' वाचक शब्द का प्रयोग होने से उपमा अलंकार है -

त्वगस्थिशेषो निःशेषैर्मेदः पिशितशोणितैः।
क्षीणोऽप्यक्षीणगाम्भीर्यः समुद्र इव राजसे।।[6]

उत्प्रेक्षा अलंकार - 'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्; अर्थात् प्रकृत अर्थात् वर्ण्य उपमेय की सम (उपमान) के साथ सम्भावना उत्प्रेक्षा अलंकार कहलाती है।[7] तृतीय अंक में नन्द पृथिवी तल को देखते हुये कहता है कि नदियाँ मेड़ जैसी, ऊँचे महल बिन्दु के समान और समस्त संसार संक्षिप्त पिण्डीकृत टेढ़ा-मेढ़ा-सा दृष्टिगोचर हो रहा है-

सीमन्ता इव निम्नगाः सुविपुलाः सौधाश्च बिन्दूपमाः।
दृष्टं वक्रमिवाभिभाति सकलं संक्षिप्तरूपं जगत्।।[8]

यहाँ 'वक्रमिवभिभाति' में 'इव' का प्रयोग सम्भावना अर्थ में प्रयोग किया है, अतः यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है।

रूपक अलंकार - 'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः' अर्थात् उपमान और उपमेय का जो अभेद वर्णन है, वह रूपक अलंकार है।[9] नन्द-गौतमीयम् नाटक के चतुर्थ अंक में आनन्द हिमालय का वर्णन करते हुए कहता है-

शुभ्रो धर्मध्वजो मातुः किं वा राशीकृतं यशः।
रौप्यं वा मुकुटं दिव्यं वन्देऽहं तं हिमालयम्।।[10]

विभावना अलंकार - 'क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना' अर्थात् कारण का अभाव या निषेध होने पर भी फल की उत्पत्ति का वर्णन होने पर विभावना अलंकार होता है।[11] तृतीय अंक में महात्मा बुद्ध कहते हैं कि ये मनोहर वन और अप्सरायें अपने शुभ कर्मों से ही भोग्य बनायी जा सकती है। यदि अप्सराओं की संगति चाहते हो, तो तुम्हें नियमपूर्वक तप करना ही पड़ेगा। किन्तु ये सभी तुम्हें बिना माँगे अथवा प्रयत्न के बिना ही प्राप्त हो जायेगा –

लोके यद्यदवाप्यमस्ति तपसा यत्नेन वा भूयसा
रूपं यच्चन दृश्यते भुवि मनोमुग्धं विधातुं तव।
यस्मिन्नास्ति तवानुरागलसितासक्तिर्हृदो बन्धिनी
तत्सर्वं दिवि लप्स्यतेऽनुज विना याचं प्रयत्नेन वा।।[12]

यहाँ नन्द को सम्पूर्ण भोगों की प्राप्ति बिना कारण के प्राप्ति होने के कारण विभावना नामक अलंकार है।

उदात्त अलंकार - 'उदात्तं वस्तुनः सम्पत्' अर्थात् वस्तु की समृद्धि का वर्णन उदात्त अलंकार कहलाता है।[13] नाटक के षष्ठ अंक में यह अलंकार दृष्टिगोचर होता है- ''अपनी स्वर्णिम उज्ज्वल चोटियों से सूर्य की प्रभा को प्रतिफलित करते हुए यह जाज्वल्यमान मेरु पर्वत पूंजीभूत तेजस्विता की राशि प्रतीत हो रही है। अपनी उच्चता से स्वर्गलोक में व्याप्त होकर मानो राजपद पर विराजमान है और स्वर्णमय शुभ्र लोकों से घिरा हुआ है। देवताओं, गन्धर्वों और अप्सराओं के गण गिरिराज मेरु की देख-रेख में सुरक्षित रहते हैं। उत्तर में महामेरु ब्रह्मविदों के शिवशरण हैं। यहाँ ब्रह्मसभा सभी देवर्षियों का आश्रय है-

ज्वलन्तमचलं मेरुं तेजोराशिमनुत्तमम्।
अत्र देवगणाः सर्वे गन्धर्वोरगराक्षसाः।।
शैलराजैः प्रदृश्यन्ते शुभाश्चाप्सरसाङ्गणाः।
अहो ब्रह्मसभा रम्या ब्रह्मर्षिगणसेविता।।
ब्रह्मा ब्रह्मविदां श्रेष्ठो वरिष्ठस्त्रिदिवौकसाम्।।[14]

इसके अतिरिक्त पंचम अंक में भी इस अलंकार का प्रयोग किया गया है-
युक्तरूपमिदं चैव शुद्धसत्त्वस्य चेतसः। संजाता नैष्ठिके सूक्ष्मे श्रेयसि श्रद्दधानता।।[15]

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि प्रो. रामजी उपाध्याय ने अपने नाटक नन्दगौतमीयम् में प्रचलित अलंकारों का प्रयोग किया है। उपाध्याय जी ने नाटक में कथानक के अनुरूप अलंकारों का प्रयोग किया है, जिसमें उन्हें पूर्णतः सफलता प्राप्त हुयी है।

सन्दर्भ -

1. *महाकवि कलशेखर वर्मन् और उनकी कृतियाँ, डॉ. बलवान सिंह यादव, पृ. 217-18*
2. *काव्यप्रकाश- 9/79, सूत्र-103, पृ. 404*
3. *नन्दगौतमीयम्-पृ. 35*
4. *काव्यप्रकाश-10/87, सूत्र-124, पृ. 443*
5. *नन्दगौतमीयम्- पृ. 16*
6. *वही, पृ. 22*
7. *काव्यप्रकाश-10/92, सूत्र-136, पृ. 460*
8. *नन्दगौतमीयम्-पृ.16*
9. *काव्यप्रकाश-10/93, सूत्र-138, पृ. 463*
10. *नन्दगौतमीयम्-पृ. 21*
11. *काव्यप्रकाश-10/107, सूत्र-161, पृ. 498*
12. *नन्दगौतमीयम्-पृ. 18*
13. *काव्यप्रकाश-10/114, सूत्र-175, पृ. 514*
14. *नन्दगौतमीयम्-पृ. 33*
15. *वही, पृ. 33*

21

मानवीय उत्थान में मालवीय जी की भूमिका : आचार्य रामजी उपाध्याय की दृष्टि में

किरण आर्या

'संसरति इति संसारः' कालचक्र बिना चक्कों के तीव्र गति से पथ को नापता रहता है, उस कालचक्र में तत्समय की सभ्यतायें, संस्कृति, संस्कार आते रहते हैं और उनमें परिवर्तन होता रहता है। नभचर, जलचर, थलचर आदि अनेक जीव जगत् में जन्म लेते हैं और चले जाते हैं। किन्तु इन विभिन्न जीवों में मनुष्य ही एक ऐसा मस्तिष्क वाला प्राणी है जो अपने इतिहास पर विचार करता है, वर्तमान को सहेजता है और भविष्य का चिन्तन करता है। उस चिन्तन की अनेक दिशायें होती हैं कभी वह गलत दिशा को पकड़ लेता है और कभी सही दिशा के पथ पर चलकर शरीर से न सही किन्तु नाम से अमरत्व को, कीर्ति से अमरत्व को प्राप्त हो जाता है। उसी कीर्ति के अमरत्व को प्राप्त करने वालों में एक हैं पं. मदन मोहन मालवीय जी। जिन्होंने शैशवावस्था से ही राष्ट्रचिन्तन को अपने हृदय में उतारा। दृढ़कर्त्तव्यता को सुदृढ़ करने का संकल्प लिया, मानव सेवा के लिये अपने को समर्पित किया, निश्चित रूप से कहीं न कहीं महामना मालवीय जी को अध्ययन काल में महात्मा बुद्ध, स्वामी विवेकानंद आदि की जीवनी से विशेष प्रेरणा प्राप्त हुई है। पं. मदन मोहन मालवीय जी के शरीर का रंग उतना साफ नहीं था जितनी उनकी कीर्ति धवलता को प्राप्त थी। उन्होंने कभी कोई कार्य करने में संकोच नहीं किया, लज्जा का अनुभव नहीं किया, मन में कभी हीन भावना उत्पन्न नहीं होने दी और अपनी संकल्पना से कभी समझौता नहीं किया। आचार्य रामजी उपाध्याय अपने नाटक मदनमोहनमालवी कीर्तिमंजरी में लिखते हैं कि, वे निजाम जैसे लोगों के यहाँ भी भिक्षा मांगने का साहस रखते थे। मेरे देश के लोग शिक्षित हों, विचारयुक्त हों तथा आत्मनिर्भर हों, यह मन्थन अहर्निश मालवीय जी के मस्तिष्क

में चलता रहता था। यही कारण है कि महात्मा गांधी जी ने स्वयं यह बात कही कि, ''मैं मालवीय जी से बड़ा देशभक्त किसी और को नहीं मानता, मैं सदैव उनकी पूजा करता हूँ। संसार में मालवीय जी से बढ़कर कोई भिक्षुक नहीं हुआ। हमेशा मांगा करते हैं। वे जहां जाते हैं, उन्हें पैसे मिल जाते हैं उनका भिक्षा पात्र सदा खाली रहता है। उनके लिए भिक्षा लेने और देने के लिए सबसे द्वार खुले रहते हैं। वे सादा जीवन उच्च चिन्तन के सजीव उदाहरण हैं।''[1] गांधी जी के अनुसार मालवीय जी प्रातः स्मरणीय हैं, महर्षि हैं।

भारत ही नहीं, देश विदेश घूमने वाले, राष्ट्र चिन्तन के परम उपासक, गीता से अपनी दैनन्दिनी प्रारम्भ करने वाले राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जैसा महान् व्यक्ति अगर मालवीय जी के लिए उक्त उद्गार अपने हृदय में रखता है तो निश्चित रूप से महामना पं. मदनमोहन मालवीय जी में कुछ विशेषत्व तो होगा ही। मालवीय जी की कार्यशैली का ही प्रभाव था कि संस्कृत के उद्भट विद्वान् को मालवीय जी के लिए मदनमोहनमालवी कीर्तिमंजरी जैसे नाटक को लिखने की प्रेरणा हुई।

पं. मदन मोहन मालवीय जी ने अपनी कर्मभूमि तथा कार्यशैली की शुरुआत प्रयाग से प्रारम्भ की, चूंकि प्रयाग में न केवल नदियों का संगम है अपितु भारतीय संस्कृति और संस्कारों का मिला जुला संगम दृष्टिगत होता है। पं. मदन मोहन मालवीय जी शरीर से जितने परिश्रमी व मजबूत दिखाई देते थे उतने ही हृदय से विह्वल, भावुक तथा कोमल थे। धर्मज्ञानोपदेश की पाठशाला में पं. मदन मोहन मालवीय जी ने अनेक प्रकार की शिक्षा दीक्षा को ग्रहण किया। एक बार एक कुत्ते के बच्चे का कान कटा देखकर मालवीय जी बहुत दुःखी हुये और विचार किया कि कैसे भी हो मैं इस कुत्ते का कान ठीक करूंगा, तथा वे बाजार से गुड़ दवा आदि क्रय करके लाते हैं और उस कुत्ते के बच्चे के साथ दौड़कर उससे ऐसे कहते हैं मानो वह इनकी पूरी बात समझ रहा हो- अरे माणिक! धन्योऽस्मि अकस्मात्तवात्र संगमनेन। त्वामद्य यथापूर्वं सम्यगुपचरितुं प्रत्यूषकालादेव मृगयमाण आसम्। उपचारवार्त्तां श्रुत्वैव त्वं पलायितुं त्वरसे व्रणविरोपणं तु करणीयमेव। वैद्यनिर्देशानुसारेणौषधं शृङ्गकं चानीतवानस्मि। तव जठराग्निशान्तये गुडो मया क्रीतः। तस्यास्वादेनोपचारयन्त्रणामवधूय त्वं तारं न भविष्यसि। गृहाणैतद्गुडगोलकम्।[2] वे कुत्ते के बच्चे से कहते हैं- तुम गुड़ खाओ और मैं तुम्हारे लिये जो दवा लाया हूँ वह लगाने दो ताकि तुम्हारे कान का घाव ठीक हो जाये। यह प्रसंग आचार्य रामजी ने

नाटक के प्रथम अंक में उद्धृत किया है। शिक्षा का वास्तविक मूल्य, वास्तविक लक्ष्य यही होना चाहिये कि दूसरों के कष्ट का हरण करें, दूसरों के दुःखों को दूर करें, न्यूनता की पूर्ति करें। शास्त्राध्ययन, अनुसंधान के प्रयोग तभी सफलता को प्राप्त कर सकते हैं जब वे मानवीय उत्थान के लिये। कुछ अलग से कर दिखाने के लिये अपने को प्रथम पंक्ति में रखे।

पं. मदन मोहन मालवीय जी ने अपने गुरुओं से, आचार्यों से जो भी सीखा उसका पूर्णतया अपने जीवन में पालन किया। वे कभी भी वक्तृत्व और कृतित्व में अन्तर नहीं करते थे। मित्रमण्डली के साथ उनका जो व्यवहार था वह आपस में भी नूतन प्रयोगों का आभास दिलाता रहता था। पाठशाला में अध्ययनकाल के समय मालवीय जी अपने इष्ट मित्रों के साथ पुष्प चुनने के लिये वाटिका में जाते थे। संगम की नगरी में यदि सन्ध्या के बिना शिक्षा प्राप्त की जाये, यह आचार्यगण उचित नहीं मानते थे अतः पूजादि के लिये पुष्पों की आवश्यकता होती थी जिस हेतु मालवीय जी अपनी टोली के साथ पुष्पवाटिका पहुंचते हैं। बाल्यपन की अवस्था में स्वभावतः मित्रमण्डली के कुछ साथी पेड़ पर चढ़ जाते हैं, कोई दण्डे से पुष्पों को प्राप्त करना चाहता है, तो कोई टहनियों को हठात् झुकाकर पुष्पों को एकत्रित करना चाहता है किन्तु मदन मोहन को यह सब अच्छा नहीं लगता और वे अपने मित्रें को सदुपदेश देते हैं- किं न त्वं विनीतोऽसि यद् वृक्षलतादयः स्वीयसर्वोत्तमकुसुमानि स्वमातुः पृथिवीदेव्याः पूजार्थं तस्याः क्रोडे विकिरन्ति... न खलु पुष्पाय वृक्षरोहणमावश्यकम्। आगच्छत पुष्पावचयात् प्राग्वृक्षदेवतां स्तोतुम्। अयं वृद्धाचारः।[3] अर्थात् जितने भी पेड़ पौधे हैं ये सब हम आपके लिये ही पुष्प देने के लिए हैं अतः हमें इनको बिना कष्ट दिये, उनकी स्तुति करके ही पुष्प प्राप्त करना चाहिए। पुनः वे एक मित्र से कहते हैं कि तुम उस टहनी के पास जाओ तुम्हें वहां पुष्प मिल जायेंगे। यह संयोग की ही बात थी कि मित्र वहाँ पहुंचता है और तीव्र वायु के कारण वह शाखा हिली और पुष्प नीचे आ गिरे। पं. मालवीय जी वहां इस बात को प्रमाणित करते हैं कि वृक्ष भी सबसे पहले अपनी धरती मां की पूजा करते हैं और जो उन्होंने गुरुमुख से पढ़ा था- माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः यह चरितार्थ होता है। ‘मातृदेवो भव’ की अलख उस समय उन विद्यार्थियों को जागृत करने का कार्य करती है। बात-बात में पं. मदन मोहन मालवीय जी अपने मित्र राकेश से संवाद में कह जाते हैं जो जीवन के विषय में सोचने के लिये, मानवता को ग्रहण करने के लिए मजबूर करती है। वे शब्द थे- हे

मित्र! पहले पुष्पों से शिक्षा लो कि यह दुनियां चलाचली का मेला है, रात में कली, सबेरे खिला पुष्प और दुपहरे मुरझाये।

मदन मोहन जी की इन पंक्तियों से ऐसा लगता है कि जीवन की तीन अवस्थाओं को उन्होंने केन्द्रित करते हुये ये दार्शनिक शब्द कहे होंगे- जब पुष्प अपने अस्तित्व पर होता है अर्थात् यौवनावस्था पर होता है तो उसके महत्त्व की कोई सीमा नहीं होती वो कभी किसी महामानव के गले का हार, किसी देवता के मस्तिष्क की शोभा, किसी मृत शहीद के शव को सुगन्धित करता हुआ पाया जाता है किन्तु वही पुष्प जब मुरझा जाता है, सूख जाता है किसी कार्य के लायक नहीं रहता तब वो एक कचरे के अतिरिक्त, अप्रयोग के अतिरिक्त कुछ नहीं होता, केवल वह कूड़े के साथ अग्नि को बढ़ाने का कार्य करता है, कभी जला दिया जाता है या फेंक दिया जाता है। ऐसा ही मनुष्य का जीवन है यदि शैशवावस्था से प्रारम्भ से धीरे-धीरे संभलते रहे तो यह जीवन किसी खिले हुए पुष्प से कम नहीं होगा किन्तु इसे संवारा न गया, सहेजा न गया तो अपनी शाखा से टूटकर महत्त्वहीन ही पाया जायेगा। अतः जीवन को सहेजना, गुणों का समावेश होना, स्वधर्म के अनुरूप कर्त्तव्यनिष्ठता को धारण करना, यह मानवीयता के प्रमुख लक्षणों में से कुछ लक्षण हैं जो पं. मदन मोहन मालवीय जी में शैशवावस्था से दृष्टिगत होते हैं। इस प्रकार मालवीय जी न केवल पढ़ते थे अपितु किये हुये अध्ययन का प्रयोग भी अपने साथियों के साथ करते थे। यही कारण था कि जिस बालक को खेलकूद के आंगन में होना चाहिए था। वह संसार की अशिक्षा, करुणा, दीनता, गरीबी आदि को हृदय में रखकर मानसिक चिन्तन में निमग्न रहता था।

मालवीय जी केवल एक अच्छे सम्पादक ही नहीं थे अपितु उनके सम्पादन में पत्र 'हिन्दुस्तान' अपनी लोकप्रियता के शिखर पर था। मालवीय जी सम्पादकीय लिखते समय राष्ट्रभावना को मन में संजोकर बैठते थे। यही कारण था कि न चाहते हुये भी देशप्रेम की गाथायें उनके पत्र में स्वतः रेखांकित हो जाती थीं क्योंकि परतन्त्रता को मालवीय जी ने बहुत निकटता से देखा था। अतः यह कहने में संकोच नहीं होता कि मालवीय जी ने देश सेवा करने की असीम योग्यता थी और उतनी ही लगनशीलता भी। आचार्य रामजी उपाध्याय ने मदनमोहनमालवीय कीर्तिमंजरी में लिखा है कि - हिन्दुस्तान पत्र में मालवीय जी के राष्ट्रभक्ति विषयक विचार प्राप्त होते रहते थे जिससे वे अखिल भारतीय स्तर पर अपनी पहचान बनाने में सफल हुये।[4]

शास्त्रों से लेकर लोक-प्रसिद्धि तक विनम्रता के महत्त्व को दर्शाया गया है और वह विनम्रता यदि वाणी में स्थान बना ले तो शायद वाग्देवी की असीम कृपा समझी जाती है। पं. मदन मोहन मालवीय जी में यह विशेषता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। वे अत्यधिक विनयशील थे, उनकी वाणी में माधुर्य गुण दिखाई देता था, किसी भी परिस्थिति में उन्होंने माधुर्यता की चादर को छोड़ा नहीं। अत एव आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहा करते थे कि स्नेह और ममता मालवीय जी के हृदय में कितनी थी इसकी थाह कोई भी नहीं पा सकता। प्रभावशाली व्यक्तित्व और उनकी अद्‌भुत मोहक वाणी सर्वार्थसिद्धि परक सामर्थ्यदायिनी थी। ऐसा लगता था कि वाणी में साक्षात् सरस्वती का निवास हो उनका जीवन आत्मनिवेदन का सर्वोच्च उदाहरण था।[5] इसी प्रसंग में आचार्य रामजी उपाध्याय लिखते हैं कि कालाकांकर में महाराज के यहाँ उनके संरक्षण में पं. मालवीय जी कार्य कर रहे थे तभी महाराज रामपाल सिंह मालवीय जी के पास आते हैं और उनसे बताते है कि मैंने दो दिन से अन्न जल ग्रहण नहीं किया है और पं. मोतीलाल नेहरू का सन्देश अपनी आंखों से झर-झर आंसू बहाते हुये सुनाते हैं- जिस पर वो कहते हैं कि शायद मदन मोहन को पाकर मैं यह समझ बैठा था कि मैं जग जीत गया हूँ किन्तु आज ऐसा लगता है कि मुझे आपका स्नेह अब यहीं से प्राप्त होना बन्द हो जायेगा क्योंकि मैं अपने निजी स्नेह और हित के कारण राष्ट्र की उस धरोहर को हमेशा के लिये अपने पास नहीं रख सकता। मुझसे स्पष्ट शब्दों में नेहरू जी ने कहा है कि भारत को मदन मोहन मालवीय जी की आवश्यकता है। उनका स्थान केवल कालाकांकर नहीं, उनका स्थान व्यापक है और तत्क्षण कालाकांकर से मालवीय जी की विदाई की तैयारियां वहाँ के महाराज रामपाल सिंह बड़े दुःखी मन से करने लगते हैं, तथा इसको वे धर्मसंकट भी मानते हैं अर्थात् मालवीय जी से एक नरेश के स्नेह के तन्तु इतने मजबूत हैं कि वे एक दूसरे के विषय में अनुशंसा प्रशंसा करते नहीं थकते, इससे यह प्रमाणित होता है कि मृदुभाषिता किसी सामान्य व्यक्ति में भी हो तो वह विराटता को अपने स्नेह के पाश में बांधने में समर्थ हो सकता है।[6]

महामना मदन मोहन मालवीय जी न केवल आध्यात्मिक आर्थिक रसात्मक प्रवृत्तियों के विकास के साथ थे अपितु वे यह मानते थे कि शारीरिक सौष्ठव की उत्तमता भी जीवन में बहुत कुछ प्राप्त करने में सक्षम है जैसा कि कहा गया है- ''शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्'' इन विचारों से ओतप्रोत होकर वे भावी पीढ़ी को शारीरिक रूप से मजबूत देखना चाहते थे। एक बार जब वे अपने

विश्वविद्यालय में टहल रहे थे तब उन्होंने यह आदेश दिया था कि छात्रावास के निकट एक अखाड़ा जरूर होना चाहिए और उस समय के लक्ष्मणदास जो कि इंजीनियर थे उन्होंने यह बात मालवीय जी से स्वतः कही थी कि अखाड़े बन गये। छात्रवास के विद्यार्थी इस समय कुश्ती लड़ते देखे जा सकते हैं।[7] मालवीय जी अखाड़े पर पहुँच जाते हैं उस समय एक हारे हुये विद्यार्थी से मालवीय जी संवाद करते हैं और कहते हैं कि तुम कल से प्रतिदिन एक सेर दूध पिया करो और मुझसे द्रव्य लेकर ग्वाले को दे देना। मैं 1 महीने बाद पुनः तुम्हारी कुश्ती देखूंगा।[8] इस प्रोत्साहन और नियत स्थान पर जाकर विद्यार्थियों का मनोबल बढ़ाना एक कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्तित्व का परिचय है।

मालवीय जी ने शिक्षा के लिए जिस तरह का अथक परिश्रम, लज्जा को छोड़कर किसी के भी सामने हाथ फैला देना जैसे अनुपमेय कार्य किये हैं कि आने वाली पीढ़ी युगों तक उन पर गर्व का अनुभव करेगी। गंगा के तट पर जिस सुरम्य स्थान का पं. मालवीय जी ने चुनाव किया उससे न केवल मानवीय उत्थान, शिक्षा के परम उत्कर्ष को प्राप्त करने का ध्येय था अपितु आत्मोत्थान की भावना भी कहीं न कहीं पं. मालवीय जी के मन में समाई हुई थी, उसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण है कि जो उस समय लक्ष्मणदास नाम का इंजीनियर थे वे एक रुपया अपने वेतन से लेते थे बाकी रकम लक्ष्मणदास जी अतिथि गृह के लिए समर्पित कर देते थे।[9] पं. मदन मोहन मालवीय जी को उस समय हैदराबादी निजाम अच्छी तरह से जानता था उनकी प्रतिभा, उनकी संकल्पना से परिचित था किन्तु मालवीय जी ने अपने उस बड़प्पन को, उस स्वाभिमान को (कि मैं इतना नामी व्यक्ति हूँ) किनारे करते हुये भिक्षा लेने वालों की लाइन में खड़े हो जाना उचित समझा, क्योंकि उन्हें मंजिल प्राप्त करनी थी, पथ में कंकड़ों की गणना नहीं। वे किसी भी तरह से अपने लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते थे, किन्तु महापुरुष और महान् व्यक्तित्व किसी परिचय का मोहताज नहीं होता, उन मांगने वालों की लाइन में भी मालवीय जी वामन भगवान् की तरह दृष्टिगोचर हो जाते हैं और निजाम उनसे मिलने के लिये सर्वप्रथम आदेश देता है। तथा परिचय प्राप्त होने के बाद भी निजाम से पं. जी वही मांगते हैं जो उन्होंने पहले से निश्चित कर रखा था।[10]

निजाम को यह अहसास हुआ कि पं. मालवीय जी के पास स्वतः का एक विराट् व्यक्तित्व के अतिरिक्त धनादि कुछ भी नहीं है, फिर भी मानवता के उद्धार

के लिये, शिक्षा के लिये इतना कुछ कर रहे हैं। हमारे पास सब कुछ होते हुये भी हम कुछ अधिक नहीं कर पा रहे। मालवीय जी इस सत्य घटना में प्रसंगवश निजाम के ये भाव आचार्य रामजी ने अपने नाटक में उद्धृत किये हैं।[11]

इस प्रकार मालवीय जी एक महान् विचारक, प्रज्ञावान् युग पुरुष थे। वासुदेव शरण जी के अनुसार- ''सहस्रों वर्षों के अनन्तर ऐसा प्रज्ञाशील नेता सनातन धर्म के क्षेत्र में उत्पन्न हुआ था जो भीतर बाहर एक समान, मानवता की सेवा में अहर्निश तन, मन, धन से अपने आप को लीन कर देने वाले स्वयम्भू महामानव थे।'' वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना से ओतप्रोत थे। मालवीय जी का नाम आज भी हर सहृदयी व्यक्ति के हृदय में अमिट छाप छोड़ता है। यही कारण है कि पं. मदनमोहन मालवीय जी की छवि आचार्य राम जी उपाध्याय के मन मस्तिष्क में समा गयी और लेखनी उनके विषय में कीर्तिमंजरी नाटक लिखने के लिये उद्वेलित हो उठी। मानवता की उस प्रर्तिमूर्ति को न केवल संस्कृत के विद्यार्थी होने के नाते हम प्रणमांजलि समर्पित करते हैं अपितु उस समय शिक्षा के क्षेत्र में एक नयी अलख जगाने के लिए आतुर उस आत्मा को सम्पूर्ण मानव जाति प्रणमांजलि समर्पित करती है।

सन्दर्भ -

1. मदनमोहनमालवीय कीर्तिमंजरी-अवतरणिका, पृ.1
2. वही-प्रथमोऽङ्कः, पृ.3
3. वही-प्रथमोऽङ्कः, पृ.5-6
4. वही-अंक-2, पृ.12
5. वही-अवतरणिका, पृ.10
6. वही-अंक-2, पृ.14
7. वही-अंक-3, पृ.22
8. वही-अंक-3, पृ.23
9. वही-अंक-3, पृ.22
10. वही-अंक-4, पृ.37-38
11. वही-अंक-4, पृ.39

22

आचार्य रामजी उपाध्याय के नाटकों में जीवन दृष्टि

अर्चना जोशी

आचार्य रामजी उपाध्याय की समग्र नाट्यसृष्टि में उनकी जो रचनाप्रक्रिया और दृष्टि स्पष्ट होती है उसकी मुख्य विशेषता है रूढिगत दोषयुक्त मान्यता के परिष्कार द्वारा कथा में संशोधन, परिवर्तन, मूल रस में परिवर्तन कर वक्रोक्ति द्वारा अभिनव प्रबंधसर्जन। महनीय चरितों की अभिनयात्मक प्रस्तुति, भारतीय सनातन आर्ष संस्कृति के उदात्त तत्त्वों का उपस्थापन, लोकहित, सर्वोदय कवि को सर्वाधिक अभीष्ट है। प्राचीन कृतियों में क्षेपककारों द्वारा जोड़े गए कुछ प्रसंगों से उदात्त चरित्रों में भी दोष समाविष्ट दिखाई देता है। उसके निवारण, निराकरण के मुख्य उद्देश्य के साथ रामजी उपाध्याय अपनी नाट्यकृतियों में मूल स्रोत से जैसा अनूठा परिवर्तन प्रदर्शित करते हैं यह उनकी मौलिक प्रतिभा का प्रतिफल है। आचार्य रामजी उपाध्याय ने रामायण-पात्राश्रित तीन नाट्य रचनाएँ की हैं तीनों ही अभिनव प्रबंधसर्जन की श्रेष्ठ निदर्शन हैं। मूल स्रोत में आ गए दोषयुक्त प्रक्षिप्त अंशों से स्वयं को मुक्त रखकर कथानकसृष्टि से ही नाट्यकार पात्रों के अनुरूप नाट्योचित स्वारस्य को सुरक्षित रख सकता है, यह उनका मंतव्य रहा है।[1] सीताभ्युदयम् में कवि ने मारिष के माध्यम से कहा है कि ''सीता का चरित वस्तुतः कर्मयोगयुक्त तेजस्वी चरित है इस रूप में उसका अंकन विरल रूप में है। यदि सीताचरित पौराणिक प्रक्षिप्तांशों के आधार पर निरूपित होगा तो प्रेक्षकों को रसास्वादन संदिग्ध ही होगा।'' इस विचार से कवि ने औचित्यानुबद्ध वक्रोक्ति के प्रयोग द्वारा उस प्रकार के प्रक्षिप्त अंशों का परिमार्जन किया है और इसके लिए अभिनव कथांशों के आगम आदेश विधि से रचना में सौष्ठव का सन्निधान किया है।[2] पूर्ववर्ती कवियों द्वारा वर्णित सीता विषयक विसंगतियों का परिष्कार करते हुए

'सीताभ्युदयम्' में कवि सीता को राम द्वारा निर्वासिता वर्णित नहीं करते अपितु महाविपत्तियों के निवारण के लिए महर्षि वशिष्ठ के निर्देशानुसार महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में सीता के निवास का प्रसंग उपस्थापित करते हैं।

सीता द्वारा महर्षि वाल्मीकि को रामचरितलेखन में सहयोग, सीता के पाताल प्रवेश और वहाँ विश्वविद्यापीठ की स्थापना से रामचरित के प्रसार के द्वारा सांस्कृतिक उत्थान के प्रकल्प में कवि की प्रातिभ मौलिकता सुस्पष्ट है।[3] साथ ही इस समूचे परिकल्पन में निहित कवि की दृष्टि का मुख्य बिन्दु है नारी गरिमा। स्त्री की महत्ता, सामर्थ्य, तेजस्विता, रचनात्मकता, लोकहितकारी कार्यों में भूमिका को वे सीता के पात्र से निरूपित करते हैं।

रामायणाश्रित नायिकाप्रधान नाट्यों की पूर्व परंपरा में वर्णित सीता की तुलना में 'सीताभ्युदयम्' में सीता का चरित अधिक स्वाभाविक, जीवंत और प्रभावी बन पड़ा है। प्रायः अधिकांश काव्यों में सीतानिर्वासनप्रसंग समाज के पुरुषप्रधान संकीर्ण सोच और नारी की विवशता का प्रतीक बन आया है, जबकि आचार्य रामजी उपाध्याय के 'सीताभ्युदयम्' की सीता का वनवास विवशताजन्य नहीं अपितु विशेष प्रयोजन की सिद्धि हेतु है। सीता की अनुपम गौरव गाथा से कवि ने भारतीय नारी की गरिमा का निरूपण किया है। श्रेष्ठ समाज निर्माण में स्त्री की महनीय भूमिका सीता के माध्यम से संकेतित है : सीता (आत्मगतम्) ''दैनन्दिनकार्यवैपुल्ये मे मनः सततं रमते। ब्राह्मे मुहुर्ते रामायणप्रणयन्वेलायां महर्षि-कुटीर उपस्थिताहं रामचरितस्य प्रास्ताविक-घटनानां प्रत्यक्षदृष्टानि विवरणानि मुनये वर्णयामि। तदनंतरं मुनिबालकानां कौमारभृत्यनियोग आत्मानं समर्पयामि। आश्रमीयशिशुनामाचार-विचाराः, स्वच्छता, स्वास्थ्यं, ज्ञान-विज्ञाननिधिश्च वर्द्धन्तामिति विनयाधानस्य क्रमो मया नित्यं ध्रियते। तदनु लता-वृक्ष-क्षुपाणां संवर्धनमारोग्यं च निभाल्यतेऽस्माभिः।''[4] सीता की ऋषिचर्या विश्वलोक को पवित्र बनाने का व्रत लोक को सन्मार्ग पर प्रवर्तित करने के लिए है : ''विश्वलोकं पावयितुं व्रतं मया धृतम्। एतदर्थं मुनेर्दीक्षां गृहीत्वा काषायवासिनी संवृत्ताहम्।''[5]

सीता चराचर के लिए सुखप्रदात्री विश्वमूर्ति और सर्वलोकमयी बन गई हैं।[6] सच्चरित्रता से वे मानव जीवन के आदर्शों को प्रकाशित करने वाली हैं।[7] सीता पर्यावरण के प्रति भी अत्यंत संवेदनशील हैं। पर्यावरण का संरक्षण जीवन के

संरक्षण के लिए उपादेय है, यह संदेश और प्रकृति के प्रति गहरे लगाव की अभिव्यक्ति रामजी उपाध्याय की नाट्यकृतियों का एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है जो 'सीताभ्युदयम्' के साथ सभी नाट्यकृतियों में उपलब्ध है।

पर्यावरण संरक्षण के लिए जागरूकता का पक्ष 'शंबूकाभिषेकम्' में विशेष रूप से चिह्नित हुआ है।" आज वन्यसंस्कृति का सर्वोदयी ब्राह्मस्वरूप शनैः शनैः क्षीण होता जा रहा है"[8] यह कवि की पर्यावरण के प्रति गहन चिंता है। वनवासियों के वनसंरक्षण के प्रयत्न को वे आदर भाव से देखते हैं। नगर और वन के निवासियों में संघर्ष का मूल कारण नगरवासियों से वन संपदा का संरक्षण ही है, इसे कवि शम्बूकाभिषेकम् में स्पष्ट करते हैं। रामजी उपाध्याय कृत यह नाटक रामायण उत्तरकाण्ड के शंबूक विषयक प्रक्षिप्तांश का अनुसरण नहीं करता क्योंकि कवि की दृष्टि में यह दुराग्रह है। शूद्र की तपस्या को अधर्माचरण कह कर दंडित किया जाना उन्हें स्वीकार्य नहीं है। डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी ने अपने एक व्याख्यान में कहा है कि ''रामायण उत्तरकाण्ड का शंबूक-वध प्रसंग प्रक्षिप्त है। इसका स्थान रामकथा में नहीं होना चाहिए। वाल्मीकि रामायण में वर्णों के आधार पर भेदभाव की चर्चा नहीं है।''[9] 'शंबूकाभिषेकम्' में कवि ने राम जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम के हाथों तपस्वी के वध के दोष का परिमार्जन वक्रोक्ति द्वारा कर इतिवृत्त का परिवर्तन किया है। राम शंबूक को मुक्त कर उसका अभिषेक करते हैं। शंबूक रामराज्य के आदर्श का विस्तार शबरदेश में करता है।

इस नाटक का महत्त्वपूर्ण संदेश कवि दृष्टि का महनीय बिन्दु है - शांति। शांति स्थापनार्थ ऋषि-संस्कृति की महनीयता और उपादेयता को यह नाटक रेखांकित करता है। शबरों की हिंसा प्रवृत्ति को त्याग ऋषियों की संस्कृति को स्वीकार करने से ही समाज में शांति स्थापना संभव है, शंबूक की स्वीकारोक्ति के माध्यम से शांति-संदेश सम्प्रेषित हुआ है।[10] शांतिस्थापना का संदेश 'कैकेयीविजयम्' में भी मुखरित है। ब्रह्मा का विश्वशांति के लिए संकल्प ही मूल में है जिसकी युक्तिपूर्वक क्रियान्विति में वे कैकेयी के अवदान को अभिनंदनीय कहते हैं।[11]

उपजीव्यकाव्य रामायण और परवर्ती कवियों भास, कालिदास, भवभूति, मुरारि, राजशेखर के रामकथाश्रित काव्यों के कैकेयी विषयक वृत्त से परिवर्तन रामजी उपाध्याय ने 'कैकेयीविजयम्' नाटक में किया है। भरत को राज्य मिले यह

लोभ नहीं अपितु ब्रह्मा की प्रेरणा जो उन्होने मंथरा को माध्यम बनाकर दी थी, उसके अनुसार राम का वनवास कैकेयी को अभीष्ट था। पंचम अंक में ब्रह्मा और वशिष्ठ के संवाद से यह स्पष्ट है। विश्वशांति के लिए ब्रह्मा के संकल्पित उपक्रम को देशहित और जनहित में युक्तिपूर्वक क्रियान्वित करने में कैकेयी ने सफलता प्राप्त की। इस अवदान को ब्रह्मा ने स्वयं के अवदान से बढ़कर कहा : ''विश्वजनाभीष्टसिद्धये वस्तुतः कैकेय्या अवदानं ममावदानत् बलवत्तरं श्रेयः'' और अभिनंदनपूर्वक यह आशीः भी प्रदान की : ''अतः परं त्वदीयं राशीकृतमपयशोऽपहरामि। भविष्ये आदिकविर्वाल्मीकि रामस्य यशोगाथां रचयिष्यति तत्र सोऽत्रभवतीं यशस्विनीति कीर्तयिष्यति।'' 'नन्दगौतमीयम्' में विश्वशान्ति का सन्देश देने वाली, समानता और अविरोध की ब्राह्मीसंस्कृति को विश्वव्यापी बनाने की कामना व्यक्त है।[12] विश्वशांति-सन्देश 'अशोकविजयम्' में भी मुखरित है। अशोक द्वारा सौहार्द और सर्वहित का सद्विचार-सौरभ प्रसार ही उनकी विश्वविजय है, जो विश्वशान्ति का मूल है।[13]

आचार्य रामजी उपाध्याय ने इतिहास प्रसिद्ध महापुरुषों को नाट्यरचनाओं का नायक बनाया है, जिन पर अभी तक चरितनायक रूप में पर्याप्त नहीं लिखा गया था। अशोक की प्रसिद्धि अद्वितीय पराक्रमी मौर्य सम्राट् के रूप में रही है, इससे अधिक उसके व्यक्तित्व के महनीय बिन्दु हैं जो उसे महामानव की कोटि में स्थापित करते हैं वे हैं -धर्म चिंतक और धर्मसमन्वयक के रूप में उसके विचार, युद्ध, हिंसा की वृत्ति का परित्याग और शान्ति, अहिंसा की स्थापना के प्रयास। मनोवृत्तियों में क्रमिक परिवर्तन से अशोक के ''चारित्रिक महाप्रयाण'' को लेखक ने 'अशोकविजयम्' में निबद्ध किया है। इस नाटक में अशोक के हिमालय पर तप करने का संविधानक सर्वथा अभिनव है। तपः साधना पूर्ण कर अशोक ने राजर्षि मार्ग स्वीकार कर लिया। अर्थात् अब वे प्रजापरमेश्वर नहीं रहे अपितु प्रजा उनकी परमेश्वर हो गई। उन्होने प्रजासेवा परमधर्म मान लिया।[14]

शासक के आदर्श, राजनीति के आदर्श रूप के चिंतन में कवि लोकव्यवस्था, लोकपालन, विश्वहित को महत्त्वपूर्ण कहते हैं। शासक के आदर्श रूप राम के बारे में ब्रह्मा का कथन है : ''अनिशं लोकव्यवस्थां चारुतरं विदधानः स श्रांतिं न प्रत्येति।''[15] श्रीराम का प्रजाराधन का धर्मव्रत विश्वहित के लिए पल्लवित है। स्वयं राम का कथन है- ''प्रजाराधनसौधर्म्यं सिद्धं विश्वहितात्मकम्।''[16]

'सीताभ्युदयम्' के अभिनव संविधानक में लोकहित के लिए भृगुशाप ब्रह्मा ने प्रवर्तित किया है।[17] 'नन्दगौतमीयम्' विश्वकल्याण के लिए संकल्पित, निर्वाणपथ पर अग्रसर महात्मा बुद्ध के उदात्त चरित की प्रस्तुति है – ''बुद्धस्तु विश्वजनस्य लौकिकं परलौकिकं चोभयविधं मङ्गलं विधातुं कृतसंकल्पोऽनिशं यतते।''[18] भक्ति, ज्ञान, तप, शान्ति और आनंद का संदेश है 'नंदगौतमीयम्'। भोगविलास के त्याग और प्रवज्या का मार्ग बुद्ध ने दिखलाया है। बुद्ध की समदर्शिता को कवि ने उनका श्रेष्ठ आध्यात्मिक यज्ञ कहा है। प्रतिहार का कथन है : ''गौतमोयं प्राणिमात्रेऽतिमात्रचेताः स्वाराज्यं साम्राज्यादपि वरीयो मन्यते। तत्रभवांस्तु-सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। समं पष्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति।।[19]

आचार्य रामजी उपाध्याय समन्वयवादी हैं। सर्वधर्मसमभाव संदेश 'नन्दगौतमीयम्' में सन्निहित है : ''सर्वे धर्मास्तेषामनुनायिनश्च सहयोगेन वर्धन्तामिति सनातनब्राह्मीसंस्कृतिः''[20] विश्व के सभी धर्म सहयोग से बढ़ते रहें यही ब्राह्मी संस्कृति है। कवि गुणकर्म को महत्त्व देते हैं, वर्णों के आधार पर ऊँचनीच या भेदभाव को नहीं। कवि की यह उदार दृष्टि 'शम्बूकाभिषेकम्' से भी स्पष्ट है। 'नन्दगौतमीयम्' में नन्द को बुद्ध की शिक्षा है अविवेक से कामोपभोगवृत्ति होती है। योग से विवेकदृष्टि और मनविजय का पथ प्रशस्त होता है, इसे कवि ने नन्द की चंचलता, अस्थिरता, लालसा और बुद्ध से नन्द द्वारा विमुक्ति-याचना के प्रसंगों में संग्रथित किया है।

कवि का मानना है कि लोकाराधन का साधन नाट्य अपने मुख्य प्रयोजन रसास्वादन की सिद्धि के साथ सांस्कृतिक उन्नयन के लिए मार्गदर्शन भी करता है। संस्कृति के ह्रास के प्रति कवि चिंतित हैं। आशान्वित भी होते हैं साहित्य की शक्ति और सामर्थ्य के विचार से। साहित्यकार, कलाकार को स्वयं के दायित्व का स्मरण करवाते हैं कि महनीय चरितों की अभिनयात्मक प्रस्तुति से सांस्कृतिक उद्धार संभव हैः ''लोकानां चारित्रिकोद्धाराय सार्वलौकिको योजनाबद्धो विक्रमोपेक्षितः। तत्र कलाविदामपि भरोऽन्यून एव।''[21] मदनमोहन मालवीयजी को नाटक का नायक बनाने में कवि की यही विचारधारा और प्रेरणा निहित रही है। 'मदनमोहनमालवीयकीर्तिमंजरी' में स्वातंत्र्यान्दोलन में जनजागरण के प्रमुख उन्नायक दिव्यविभूति महामना मालवीय जी के आत्मगुणों की अभिनयात्मक

अभिव्यक्ति की गई है। मूर्तिमान सनातन धर्म मालवीयजी के राष्ट्रभावना, सारस्वतसाधना, वाग्वैदग्ध्य, कर्मण्यता, लोकसेवा, जनजागरण, तर्कबुद्धि, वाक्शक्ति, सब जीवों में ईश्वर भाव रखने के गुणों की नाट्य रूप प्रस्तुति की है। दिव्य आंतरिक गुणों के विकास का, राष्ट्रसेवा का संदेश समाजिकों को संप्रेषित होता है।

कला जीवन के लिए है इस दृष्टि को रखते हुए ही आचार्य रामजी उपाध्याय की नाट्यरचनाओं से संदेश संप्रेषित है कि विश्वकल्याण साहित्यकारों का लक्ष्य होना चाहिए : ''लोकहितैषिणो वृंदारकविद्वांसः स्वदेशवासिनां चारित्रिकभ्रंशेन निर्विण्णाः सामाजिकेभ्योतीतगौरवपथं स्मारयितुं सद्वस्तु नाटकानि प्रणयन्त आसते।''[22] नाट्य के मुख्य प्रयोजन रसास्वादन के अतिरिक्त वे एक प्रयोजन ''सामाजिक और वैयक्तिक संव्यवहार का उदात्तीकरण'' मानते हैं।[23] लेखक के दायित्व और पाठक के कर्तव्य की चर्चा भी कवि करते हैं। समाज सुधार, प्रगतिवाद और राष्ट्रवाद का स्वर रचनाओं में मुखरित है। आधुनिक विचार, युग चेतना संपृक्त रामजी उपाध्याय का नाट्यसाहित्य सार्वकालिक और प्रासंगिक है। प्राचीन भारतीय चिन्तनधारा के आस्तिक अद्वैतवेदान्त में कवि की निष्ठा है तो नास्तिकदर्शन बौद्धदर्शन के उपदेशों में भी। आधुनिक राष्ट्रचिन्तकों में महात्मा गांधी, महामना मदन मोहन मालवीय और आचार्य विनोबा के विचार इन कृतियों में प्रतिबिम्बित हैं।

पराभ्युदय या सर्वोदय की कामना कवि करते हैं। उनकी नाट्य कृतियों में सर्वोदय, सर्वोदयवृत्ति, पराभ्युदय, पराभ्युदययोग शब्द और विचार अनेक बार आया है। सबमें समदृष्टि, अद्वैत-दृष्टि रखने का विचार है सर्वोदय। अद्वैतभाव के प्रति आस्था से ही नाट्यकार रामजी उपाध्याय विश्वहित के सर्वोदयविचार को महत्त्वपूर्ण कहते हैं। 'सीताभ्युदयम्' में महर्षि वशिष्ठ का कथन है : ''सीता आश्रम में सर्वोदयवृत्ति को पूर्ण करें'' - ''स महर्षिर्ब्रह्मादि महादेवानां लब्धप्रसादः सीतापितुः सुहृत् स्वीयतपः प्रभावेण त्रिलोकीं सनाथीकर्तुं समर्थः। तस्याश्रमसन्निवेशे सीता ऋषिपत्नीनां सङ्गमे यथापूर्वं स्वीय सर्वोदयवृत्तिं साधयतु।''[24] विश्वहित ही सर्वोदय है जिसके लिए राम प्रजाराधन धर्मव्रत धारण करते हैं : ''प्रजाराधनसौधर्म्यं सिद्धं विश्वहितात्मकम्।''[25] 'कैकेयीविजयम' में मुनियों के लिए राम का सर्वोदयात्मक संदेश शुभंकर द्वारा — ''आम्। सर्वोदयात्मकः सन्देशोऽस्त्येव'' सर्वोदय के लिए

ब्रह्मतेज से तमोवृत्तिविलय, सब जीवों में ईश्वर भाव, अभय और शान्ति की स्थापना आवश्यक है, इसी से सर्वोदय सम्भव है।[26] पराभ्युदय-कामना राम के माध्यम से -"मानवा भूतिमन्तः स्युः सौहार्दं स्यात् परस्परम्। पराभ्युदययोगस्तु प्रकृतिः सर्वदेहिनाम्।।"[27] आचार्य की दृष्टि में जीवन की पूर्णता सबके अभ्युदय अर्थात् सर्वोदय में और ईश्वर भक्ति में हैः "सर्वः सर्वशुभंकरः प्रभवतात् सर्वोदयो दृश्यताम्। सीतारामम‌यं जगत् प्रणयतात् सर्वस्य सर्वोत्तमम्।"[28] सर्वोदय एक विशिष्ट दर्शन के रूप में प्रवर्तित विचारधारा है। "एक साथ समान रूप से सबका उदय हो"।[29] यही सर्वोदयदर्शन का उद्देश्य है। आर्षकाव्यों पर आधारित नाट्यकृतियों में सर्वोदय शब्द का प्रयोग कवि की अद्वैतनिष्ठा का ही परिचायक है, तथापि यह भी संकेत मिलता है कि कवि अद्वैतवाद आधारित आचार्य विनोबा की सर्वोदय की विचारधारा से परिचित और प्रभावित अवश्य रहे हैं। कवि द्वारा सनातन ब्राह्मी संस्कृति के प्रसार की कामना में राजाराम मोहनराय के ब्रह्मसमाज विचार का प्रभाव है, जिसमें अविरोध के धर्म ब्राह्मधर्म की विश्वधर्म के रूप में संकल्पना की गई है। कर्म, भक्ति, ज्ञान, योग, ऋषिचर्या, पर्यावरण संरक्षण, अहिंसा, समदर्शिता, नारी गौरव, लोक-सेवा, लोकव्यवस्था, सर्वोदय, विश्वशांति के नाट्यसंदर्भों से सनातन भारतीय संस्कृति की उदार जीवन दृष्टि अभिव्यंजित है।

सन्दर्भ -

1. *सीताभ्युदयम्-प्रस्तावना मारिष*
2. *वही-सूत्रधार*
3. *वही*
4. *वही-चतुर्थ अंक-सीता-आत्मगत*
5. *वही*
6. *वही-षष्ठ अंक*
7. *वही*
8. *शंबूकाभिषेकम्-आमुख*
9. *https://www-youtube-com/watch\v=qpmx4rysHF0&feature= youtu.be*
10. *शंबूकाभिषेक - चतुर्थ अंक*
11. *कैकेयीविजयम् - पृ. 32*

12. *नन्दगौतमीयम् - षष्ठ अंक*

13. *अशोकविजयम् - पंचम अंक*

14. *वही- अशोक-स्वगत कथन*

15. *सीताभ्युदयम्-प्रथम अंक*

16. *वही-द्वितीय अंक-श्लोक 3*

17. *वही- प्रथम अंक*

18. *नन्दगौतमीयम्-प्रथम अंक, द्वितीय अंक-विष्कम्भक*

19. *वही-द्वितीय अंक-विष्कम्भक*

20. *वही - षष्ठ अंक*

21. *मदनमोहनमालवीयकीर्तिमंजरी-प्रस्तावना*

22. *वही - प्रस्तावना*

23. *शम्बूकाभिषेकम्-भूमिका*

24. *सीताभ्युदयम् - द्वितीय अंक*

25. *वही*

26. *कैकेयीविजयम् – पंचम अंक – विष्कम्भक*

27. *सीताभ्युदयम्-षष्ठ अंक*

28. *कैकेयीविजयम् -पंचम अंक*

29. *सर्वोदयदर्शन- दादा धर्माधिकारी*

23

आचार्य रामजी उपाध्याय के नाटकों में मानव-मूल्य

रामाश्रय राजभर

उपाध्याय जी का साहित्य लोकमंगल, समानता एवं विश्वबन्धुत्व की भावना पर ही केन्द्रित है। आधुनिक संस्कृत साहित्यकारों में अग्रगण्य वे भारतीय समाज और संस्कृति के जहाँ एक ओर उन्नायक हैं वहीं दूसरी ओर सुधारक भी हैं। तत्कालीन समाज में व्याप्त विसंगतियों, कुरीतियों, छुआछूत एवं जाति-पाति के भेदभाव को दूर करके उपाध्याय जी ने एक स्वस्थ समाज की कल्पना की है। समाज में फैली विसंगतियाँ, विकृतियाँ और नैतिक विडम्बनाएँ; जैसे- कर्मकाण्ड और पाखण्ड की जड़ता से सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक संबन्धों का पतन हो रहा था। इन परिस्थितियों का उपाध्याय जी ने डटकर सामना किया है और अपनी कृतियों को समाज का दर्पण बनाया है। उपाध्याय जी परम्परा से चली आ रही भारतीय सामाजिक व्यवस्था के हितों को केन्द्र में रखते हुए एक आदर्श और स्वस्थ समाज की स्थापना करना चाहते हैं, जिसमें मानवीयता हो, आपसी भाईचारा हो और समाज का यह परिवर्तन क्षणिक न होकर चिर स्थायी हो।

उपाध्याय जी ने पिता-पुत्र, माता-पुत्र, पति-पत्नी, सास-बहू, आदि के परस्पर स्नेह और संबन्ध का सात्विक चित्रण किया है। दशरथ का पुत्र प्रेम तो अपनी पराकाष्ठा को छू जाता है।[3] राम का पुत्र प्रेम अत्यन्त स्नेहिल है जो समस्त विपत्ति को सहने की प्रेरणा देता है[4] –

भवतः प्रसादेन विपत्तिमहार्णवोत्तरणेपि वयं न हतोत्साहाः।
पुत्राशाया सर्वं सहामहे सहर्षमिति संकल्प उदीरयत्यस्मान्।।

उपाध्याय जी ने स्त्री के पातिव्रत्य को समाज में उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित किया है। सीताभ्युदयम् की नायिका सीता हो या कैकेयीविजयम् की कैकेयी अथवा अन्य स्त्री पात्र। वह स्वयं के पुरुषार्थ पर समाज में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान स्थापित

करती है। पति-पत्नी का संबन्ध अविच्छेद होता है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने स्वयं कहा है कि सुख-दुःख, भोग-विलास, तथा वैभव-अभाव में जिस प्रकार पत्नी पति की सहभागिनी होती है, उसी प्रकार धार्मिक कृत्यों में भी पुरूष को मोक्ष दिलाने की माध्यम होती है।[5] पूर्ववर्ती कवियों के राम सीता के पातिव्रत्य की बारम्बार परीक्षा करते हुए गर्भवती सीता का अयोध्या से परित्याग कर देते हैं, लेकिन सीता परित्याग रूपी मर्मस्पर्शी क्षेपक को नाटककार ने वक्रोक्ति प्रपन्न मार्ग से राम के चरित्र पर लगे सीता परित्याग रूपी कलंक को प्रच्क्षालित करने का सफलतम प्रयास किया है। जिसकी परवर्ती कवियों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। नाटककार ने सीता के युगलपुत्र की उत्पत्ति ब्रह्मा के द्वारा अभुक्तमूल नक्षत्र में व्यवस्थित दिखाया है। इस नक्षत्र में पुत्र का मुख दर्शन पिता तथा परिजन आदि के लिए अशुभ तथा विनाशक है। मूल नक्षत्र के दुष्प्रभाव से बचने के लिए राम वशिष्ठ के परामर्श से सीता के निवास की उत्तम व्यवस्था वाल्मीकि आश्रम में करते हैं।[6]

पूर्ववर्ती कवियों के काव्यों में कैकेयी के पातिव्रत्य का उत्कर्ष नहीं दिखता, जो कवि को सामाजिक दृष्टिकोण से सह्य नहीं है। यहाँ कैकेयी पति के सुख-दुःख में अनुसरण करने वाली है। दशरथ को कैकेयी के पातिव्रत्य पर पूर्ण विश्वास है, तभी तो कैकेयी को दशरथ अपने प्राणों का रक्षक मानते हैं।[7] कैकेयी पति के धार्मिक कृत्य की सहभागिनी है। दशरथ कैकेयी की प्रशंसा करते नहीं थकते हैं। कैकेयी का चित्रण आदर्श रूप में समादरणीय है तथा मानव-मूल्यों की स्थापना में एक मील का पत्थर है।[8] उपाध्याय जी मर्यादावादी कवि हैं। उनका विचार था कि समाज संचालन में नारी के लिए पतिव्रता होना अनिवार्य है। उन्होंने सामाजिक उत्थान हेतु एक आदर्श नारी की कल्पना की है।

उपाध्याय जी ने दशरथ, कैकेयी और सीता के आपसी संबन्धों का जो निदर्शन अपने नाटक में किया है वह निःसंदेह सामाजिक दृष्टिकोण से अनुकरणीय है। कैकेयी की श्वसुर कुल के प्रति अगाध निष्ठा है। एक तरफ दशरथ की प्रतिज्ञा है कि ‘‘मैं ही नहीं, मेरे पुत्र-पौत्र भी ऋषियों को पीड़ित करने वाले राक्षसों का निग्रह करेंगे।” दूसरी तरफ दशरथ की वत्सलता, जो कैकेयी को दोलायमान की स्थिति में खड़ी कर देती है। कैकेयी यदि दशरथ की प्रतिज्ञा पूरी नहीं करती है तो रघुकुल कलंकित होगा, यदि प्रतिज्ञा पूर्ण करती है तो वह स्वयं कलंकित होने से नही बच पायेगी। इस स्थिति में कैकेयी स्वयं कलंकित होकर श्वसुर कुल के मान की रक्षा के लिए दशरथ से वरों का भुगतान कराती है।[9]

उपाध्याय जी के सभी पात्रों का जीवन त्यागमय आदर्शों से भरा हुआ है, उनके जीवन में त्याग व अपने वचन पालन के लिए कठोरतम कष्ट सहन करने की शक्ति विहित है। आज भारत को ऐसे ही रामराज्य की आवश्यकता है, जिसमें सभी प्राणी उच्च आदर्शों का पालन करते हुए अपना जीवन व्यतीत करें। दण्डकारण्य मण्डल के ऋषियों की याचना पर राक्षसों के संहार हेतु दशरथ का प्रिय पुत्रों को वन भेजना त्याग एवं कर्त्तव्य निष्ठा का ही परिचायक है। राम के द्वारा सिंहासन के स्थान पर वनवास को सहर्ष स्वीकार करना त्याग का अनुपम प्रतीक है। राम के वन से लौटने तक भरत के द्वारा राम के चरण-पादुकाओं का ही राज्याभिषेक करके अयोध्या का प्रतिनिधित्व करना और चौदह वर्षों के उपरान्त राम को अयोध्या सहर्ष समर्पित कर देना त्याग का उज्ज्वल तथा अत्यन्त दुर्लभ निदर्शन है।[10] शबरराज हिरण्यकेश का पुत्र राजकुमार शम्बूक शबरोचित व्यवहार को तिलांजलि देकर राजभवन का ही त्याग कर देता है, तथा हिंसात्मक वृत्ति से दूर होकर महर्षि सत्यानन्द के आश्रम में लोक कल्याण के लिए आर्य संस्कृति का अनुयायी बन जाता है।[11]

भौतिक सुख-सुविधाओं का लोलुप समाज आज के सन्दर्भ में कोई भी अनैतिक कार्य को करने से पीछे नही हट रहा है। उपाध्याय जी ने सम्राट अशोक के व्यक्तित्व का चित्रण कर समाज के लिए नयी चेतना को विकसित करने का कार्य किया है। विश्वविजयी अशोक राजसुख का परित्याग कर अहर्निश प्रजा की रक्षा के लिए तत्पर रहता है।[12] उपाध्याय जी द्वारा महान विभूतियों को अपने काव्य का विषय बनाने का एकमात्र उद्देश्य यह है कि इनके त्यागमयी एवं संघर्ष पूर्ण जीवन से प्रेरणा पाकर समाज का हर एक व्यक्ति मानव-मूल्य की अपने जीवन में स्थापना कर सके। नाटककार सामाजिक सौहार्द के लिए महामना के आदर्शों को अनुकरण करने की बात करते हैं। हिन्दू समाज और भारत की प्राचीन सभ्यता की रक्षा के लिए सर्वस्व त्याग कर सच्चे कर्मयोगी की भॉति मालवीय जी आजीवन लगे रहे।[13]

प्राचीन काल से ही भारतीय समाज में नारी सम्मान की पात्र रही है, तथा इन्हें देवी के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। जैसा कि मनुस्मृति में कहा गया है-''यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।" उपाध्याय जी रामायणकालीन समाज को भी अपने प्रातिभ चक्षु से देखने का प्रयास किया है। इन्होंने मानवीय समाज में नारी के दो वर्गो का उल्लेख किया है- 1 राजवर्ग की स्त्री, 2 सामान्यवर्ग की स्त्री। नाटक में वर्णित सामान्य वर्ग की स्त्री सुभद्रा, अनुपमा आदि एवं राजपरिवार की

स्त्री कैकेयी, सीता आदि में विशेष अन्तर नही है। सभी नारी पात्रों में सहयोग पूर्ण भावना का विकास देखने को मिलता है। आपके साहित्य में नारी के सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व मिला है। सभी स्त्री पात्रों के व्यक्तित्व सामाजिक दृष्टिकोण से मुखरित और स्वतन्त्र हैं, जो हमारे समाज के लिए गौरव है। उपाध्याय जी रंगमंच पर किसी भी पात्र को जो सामाजिक दृष्टिकोण से अशोभनीय है उसको विष्कम्भक एवं प्रवेशक के माध्यम से कथन मात्र कर दिया है।

राम काव्यों में नारी को सदा पुरुषों पर आश्रित माना गया है। वाल्मीकि के अनुसार वह कन्या के रूप में पिता, पत्नी के रूप में पति, तथा माता के रूप में पुत्र द्वारा रक्षित मानी गयी है।[14] परन्तु नाटककार ने इस मिथक को तोड़ा है। चाहे सीताभ्युदयम् की नायिका सीता हो अथवा कैकेयीविजयम् की नायिका कैकेयी या अन्य स्त्री पात्र; सभी राम कथा की भॉति अन्तःपुर की शोभा को ही प्रकाशित नहीं करतीं वरन् वे राजकीय शासन की देखरेख तथा समाज के उत्थान एवं निराश्रितों को आश्रय देने वाली भी हैं। आज के सन्दर्भ में हम अपने इस कवि की प्रातिभ दृष्टि का आदर कर, न केवल अपना व्यक्तिगत जीवन अपितु समाज तथा देश का स्वरूप भी बदल सकते हैं।

शिक्षक एवं शिक्षार्थी के मूल्यों का आकलन करते हुए नाटककार का दृष्टिकोण अनुकरणीय एवं सराहनीय है। उपाध्याय जी नारी शिक्षा के प्रबल समर्थक हैं। नाटककार ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति का विकास करने के पक्ष में हैं, जिससे संस्कृति के प्रति आस्था बढ़े और संपूर्ण मानव में एकता एवं अन्तरराष्ट्रीय सद्भाव उत्पन्न हो। नाटककार ने देशकाल के अनुसार शिक्षा की परम्परागत व्यवस्था की चर्चा की है, जो धर्म से अनुप्राणित है। जनक एवं वाल्मीकि के विद्यापीठ में सीता शिक्षा ग्रहण कर सम्पूर्ण बृहत्तर भारत में रामचरित के माध्यम से भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार में नियुक्त होती हैं।[15] नाटककार द्वारा शम्बूक को शबरोचित्त हिंसात्मक परिवेश का त्याग कर धार्मिक शिक्षा में पारंगत दिखाया गया है, जो महर्षि सत्यानन्द के आश्रम में शिक्षा ग्रहण करता है।[16] राजकीय शासन में परामर्श एवं सहयोग के लिए राजनीति विज्ञान की शिक्षा को आवश्यक माना गया है। कैकेयी कूटनीति के माध्यम से अयोध्या की सम्पूर्ण समस्याओं का समाधान करती है। कैकेयी ने राजनीति की शिक्षा के साथ-साथ धनुर्वेद एवं रथ संचालन में विशेष दक्षता अर्जित की है।[17] अशोकविजयम् में अशोक अपने आरम्भिक जीवन में हिंसा का प्रतीक है। लेकिन कलिंग विजय में हुए नरसंहार को देखकर उसकी

मानसिक प्रवृत्ति अचानक परिवर्तित हो जाती है, और वह असाधारण व्यक्तित्व से सम्पन्न धार्मिक शिक्षा की ओर उन्मुख हो जाता है।[18]

नाटककार ने अपने ग्रन्थों में वरूण विद्यापीठ, जनक विद्यापीठ, वाल्मीकि विद्यापीठ एवं सत्यानन्द विद्यापीठ का उल्लेख किया है। जिसके माध्यम से इन्होंने प्राचीन शिक्षा की वकालत की है तथा साथ ही आधुनिक शिक्षा का प्राचीन शिक्षा से तादात्म्य स्थापित करने पर प्रयास किया है।

नाटककार ने सीताभ्युदयम् एवं शम्बूकाभिषेकम् नाटक की सृष्टि प्रकृति की गोद में ही की है। सीता और शम्बूक द्वारा आश्रम में निवास करते हुए वृक्षों का रोपण, संवर्धन, वन्य-जीवों का रक्षण, वनस्पतियों का सिंचन आदि कार्य नियमित किया जाता है। नाटककार के ग्रन्थों के अवलोकन से व्यक्ति सचेत होकर प्रकृति के रक्षण का उपाय कर सकता है।

भारतीय संस्कृति धर्म प्रधान संस्कृति है। उपाध्याय जी ने अपने कृतियों के माध्यम से धर्म को 'अहिंसा परमो धर्मः' एवं 'आचारः परमो धर्मः' के रूप में व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के साथ-साथ एक धार्मिक प्राणी भी है। ए. आर. महापात्रा का मानना है – ''एक समाज और अधिक सभ्य और बौद्धिक हो सकता है, यदि वह धार्मिक और नैतिक मान्यताओं पर आधारित हो। परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ समय-समय पर धार्मिक और नैतिक मूल्यों में भी परिवर्तन हुआ है। समाज में महान और आदर्श चरित्र निर्माण के क्रम में हम धार्मिक मूल्यों की स्थापना करते हैं। धर्म का मूल्य मानव-मूल्यों जैसे- सत्य, अहिंसा, उचित व्यवहार, चरित्र और प्रेम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।''[19]

हमारे नैतिक मूल्य आसुरी प्रवृतियों द्वारा आक्रान्त होकर क्षरित होते जा रहे हैं। उपाध्याय जी की कृतियों में पातालवासी और शबरराज इसी प्रवृत्ति के अधीन हैं। आसुरी प्रवृत्ति को दूर करने तथा आर्य संस्कृति को अपनाने के लिए नाटककार ने सीता एवं शम्बूक को समाज कल्याण में नियुक्त किया है जो वास्तव में मानव-मूल्य का उदाहरण है। सामाजिक संरचना एवं उसका संचालन धर्म की धुरी पर होता आया है। जब-जब इसमें विश्रृंखलन उत्पन्न हुआ है तब-तब कोई समाज का सजग प्रहरी धर्म की अलख जगाने के लिए प्रतिबद्ध हुआ है। उपाध्याय जी की कृतियों में धर्म का स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट है। धर्म की रक्षा करने वाला अन्ततः धर्म से रक्षित होता है। इस धर्म के ही अंग करूणा, दया, मैत्री आदि भाव मानवीय

मूल्यों का आकलन करते है। आजकल नैतिक मूल्यों के संरक्षण के लिए महाभारतकार की धर्म दृष्टि का ज्ञान आवश्यक है[20]—

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः। यः स्यात् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः। कर्णपर्व 69/58

भारतीय संस्कृति में राज्य व्यवस्था के सुदृढ़ होने में साम, दाम, भेद एवं दण्ड को आवश्यक माना गया है जिसमें दण्ड को अन्तिम सोपान की प्रतिष्ठा भी मिली है। राजनीति के उचित आदर्शों का अनुपालन न कर प्रजा में भय एवं आतंक पैदा करने वालों के लिए दण्डनीति का ही सहारा लेना पड़ता है। राज्य की शासन व्यवस्था एवं प्रजा के नियमन के लिए राजा जब अपने अंगों को दृढ़ रखता है तब वह जाकर राज्य संचालन में समर्थ होता है।

उपाध्याय जी ने कैकेयीविजयम् में राजनीतिक पहलुओं का समाधान किया है। दण्डकारण्य में जब राक्षसों से आतंकित ऋषि मण्डल ने अपनी समस्याओं को अयोध्या की शासिका कैकेयी से कह सुनाया तो कैकेयी ने राम को दण्डकारण्य भेजकर राक्षसों एवं उनके आतंक का दमन करवाया।[21] नाटककार ने अशोकविजयम् में साम, दाम, भेद एवं दण्ड नीति का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया है। अशोक विश्व का अद्वितीय राजा हुआ। उसने अपने पराक्रम एवं नीति से देश-विदेश के सभी राजाओं को एकमत किया।[22] राजा का सर्वप्रथम कर्त्तव्य प्रजा की रक्षा करना है तथा उसे दुष्टों का दमन, शत्रुओं से राज्य की रक्षा, एवं मित्र राष्ट की सुरक्षा भी करनी है। देवासुर संग्राम में दशरथ एवं कैकेयी इसी नीति से इन्द्र की सहायता करते हैं।[23]

राजा आन्तरिक व्यवस्था के साथ-साथ विदेश नीति में साम, दाम, भेद एवं दण्ड नीति का पालन करता है। यदि इस नीति पर राजा विशेष ध्यान नहीं देगा, तो राज्य की सुरक्षा, प्रजा एवं सम्पत्ति की रक्षा के गंभीर संकट पैदा हो जायेगा। राम अन्तर्राष्ट्रीय नीति के माध्यम से सुग्रीव एवं विभीषण से सन्धि करते हैं। परराष्ट्र नीति क्षण-प्रतिक्षण कपटपूर्ण एवं स्वार्थ से युक्त होती है। आज के संदर्भ में देख सकते हैं कि आये दिन चीन, अमेरिका, पाकिस्तान आदि से भारत के संबन्ध बिगड़ते रहते हैं। परन्तु उपाध्याय जी ने स्वार्थ रहित राष्ट्र नीति का वर्णन किया है। राम धर्म की रक्षा और अधर्म के नाश के लिए विदेशी राजाओं (सुग्रीव, विभीषण) से सन्धि करते हैं, तत्पश्चात् बालि और रावण का अंत कर सुग्रीव और विभीषण को राजा घोषित करते हैं। भारतीय राजनीति व्यवस्था में महिलाओं की भूमिका

महत्त्वपूर्ण रही है। वे भले ही सत्ता की बागडोर न सम्भाली हों, लेकिन उन्होंने राजनीति को निश्चित रूप से प्रभावित किया है। आधुनिक काल के नाटककार उपाध्याय जी ने महिला को राजसत्ता की बागडोर सौंप दी है। दशरथ के देवलोकवासी होने एवं राम के वन चले जाने पर कैकेयी ने चौदह वर्ष तक कर्त्तव्यनिष्ठा से अयोध्या की सेवा की।[24] राष्ट्रनिर्माण में महिलाओं का योगदान किसी भी दृष्टि से कम नहीं रहा है। परिवार, समाज और राष्ट्र की समग्र चेतना एवं स्वरूप को प्रभावित करने वाली नारी की भूमिका का आभास समाज में उसके स्थान एवं राष्ट्रनिर्माण के कार्य में उसकी सक्रिय सहभागिता पर निर्भर करता है।

उपाध्याय जी ने दशरथ, राम, अशोक आदि नायकों में पुरुषत्त्व के आदर्शों को उपनिबद्ध किया है। इनके नायक पवित्र तथा महनीय प्रेम के अनन्तर जीवन के उच्चतम कर्त्तव्यों के सम्पादन में समर्थ ही नहीं, अपितु ऋषियों एवं देवताओं के साहचर्य तथा संसार पर शासन करने वाले चक्रवर्ती राजा के रूप में वर्णित है। आचार्य रामजी उपाध्याय भारतीय संस्कृति के अमर उद्‍गाता हैं तथा उन्हें सर्वत्र इसी संस्कृति का पोषण अभिप्रेत है। फलतः राजनीति को अपने ही अनुसार देखने का प्रयास किया है। राजनीति जब नैतिकता को आधार बनाकर चलती है तभी प्रजा के हृदय को जीत पाती है। अशोकविजयम् में अशोक का नैतिक धर्म के कारण ही उन्हें प्रियदर्शी की उपाधि से सम्मानित किया गया है। कैकेयी के प्रति नाटककार का दृष्टिकोण उसको सर्वश्रेष्ठ वीरांगना घोषित कर देता है। पूर्ववर्ती कवियों के कैकेयी विषयक दोषारोपण को तार्किकता से समाप्त कर उपाध्याय जी ने अपने समाज दर्शन का लोहा मनवाया है।

उपाध्याय जी अपने समय के अव्यवस्थित समाज को व्यवस्थित करना चाहते थे। इसीलिए समाज के हर क्षेत्र में फैले वैमनस्य को दूर करने हेतु अपने साहित्य में जीवन-मूल्यों की स्थापना की; जो प्रत्येक वर्ग एवं जाति को प्रेरित कर सके। इनकी रचना का मूल उद्देश्य लोकमंगल की भावना है।

मानवीय-मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में इस अध्ययन के द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि उपाध्याय जी वस्तुतः मर्यादावादी साहित्यकार हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में जो मानवीय गुणों का आदर्श प्रस्तुत किया है वह सदा अनुकरणीय है। इनके पात्र अधिकांशतः परार्थ सिद्धि को अधिक महत्व देते हुए दिखते हैं। वास्तव में यही सच्ची मानवता की परख का मानदण्ड भी है; क्योंकि अपने स्वार्थ की सिद्धि कर लेना कोई महत्त्व की बात नहीं है। आज भी हमारा समाज जिस प्रकार अपनी

संकुचित मानसिकता से घिरा हुआ है उसे देखते हुए हम कह सकते हैं कि उपाध्याय जी के पात्र, उनके आदर्श एवं सामाजिक जीवन-मूल्य युगों- युगों तक जनमानस के हृदय में विद्यामान रहेंगे और समय-समय पर उन्हें प्रभावित करते रहेंगे।

सन्दर्भ -

1. *श्रीमद् भगवद् गीता(यथा रूप)- व्याख्याकार - श्री श्रीमद् ए. सी. भक्ति वेदान्त स्वामी प्रभुपाद, प्रकाशक- भक्ति वेदान्त बुक ट्रस्ट मुंबई।*
2. *सागरिका (त्रैमासिक शोध-पत्रिका), पृष्ठ 18*
3. *कैकेयीविजयम् - तृतीय अंक, पृष्ठ 17*
4. *सीताभ्युदयम् - द्वितीय अंक, पृष्ठ 12*
5. *वही - षष्ठ अंक*
6. *वही - द्वितीय अंक*
7. *कैकेयीविजयम् - तृतीय अंक*
8. *वही - चतुर्थ अंक*
9. *वही - चतुर्थ अंक*
10. *वही*
11. *शम्बूकाभिषेकम् - प्रथम, तृतीय अंक*
12. *अशोकविजयम् - पंचम अंक*
13. *मदनमोहनमालवीय कीर्ति-मंजरी*
14. *वाल्मीकि रामायण (प्रथम खण्ड), प्रकाशक- गीताप्रेस गोरखपुर*
15. *सीताभ्युदयम्,*
16. *शम्बूकाभिषेकम्,*
17. *कैकेयीविजयम्*
18. *अशोकविजयम्,*
19. *फिलासफी ऑफ रिलीजन - ए. आर. महापात्र*
20. *महाभारत - श्रीमन्महर्षिवेदव्यास प्रणीत, प्रकाशक- गीताप्रेस गोरखपुर।*
21. *कैकेयीविजयम् - पंचम अंक,*
22. *अशोकविजयम्*
23. *कैकेयीविजयम्*
24. *कैकेयीविजयम् - पंचम अंक*

24

रामजी उपाध्याय के नाटकों में लोकहित की प्रतिष्ठा

नौनिहाल गौतम

'लोक' संस्कृत साहित्य में अत्यंत प्रचलित शब्द है। लोक की अवधारणा के विषय में अभिनवकाव्यालङ्कार सूत्र में विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। नाट्यशास्त्र में भी सुख-दुःख से समन्वित स्वभाव वाला लोक माना गया है।[1] अभिनवगुप्त के मत में लोक से आशय जनपदवासी जन से है। उनका मत भी द्रष्टव्य है- 'लोको नाम जनपदवासी जनः। जनपदश्च देश एव।'[2] मम्मटाचार्य स्थावरजङ्गमात्मक लोक के व्यवहार को लोक के रूप में स्वीकार करते हैं। यथा- 'लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य लोकवृत्तस्य'[3]। लोक की विविध व्याख्याएं विद्यमान हैं किन्तु यहाँ लोक को मुख्य रूप से मानव सहित सभी प्राणियों के जीवन से सम्बन्धित अर्थ में लिया गया है। लोक हित को साधने के लिए ही अवतार हुआ करते हैं- 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुश्कृताम्'[4] भारतीय संस्कृति और प्राच्य साहित्य परंपरा के पोषक आचार्य रामजी उपाध्याय की नाट्य कृतियों में लोकहित की साधना की प्रतिष्ठा दिखाई देती है जिसका निरूपण यहाँ प्रस्तुत है।

'कैकेयीविजयम्' यह रामजी उपाध्याय की सर्वाधिक चर्चित नाट्यकृति है। इस ग्रन्थ की भूमिका की प्रथम पंक्ति में ही वे लिखते हैं - 'कैकेयी ने अपने युग में सात्त्विक राजनीति और लोकहित की साधना के लिये चारित्रिक आदर्श प्रतिष्ठित किये।[5] आमुख में कैकेयी का व्यक्तित्व निरूपित करते हुए वे कहते हैं- 'सबका विश्वास पात्र होने पर भी उसे अपने प्रेष्ठ राम और प्रियतम दशरथ से पृथक् होते एक क्षण की भी देर न लगी, जब उसके सामने राक्षसों के चङ्गुल से दण्डकारण्य के ऋषियों की सुरक्षा का प्रश्न आया। केवल राम की ही नहीं, भरत की भी आकांक्षाओं की पूर्ति के पथ में वह कण्टक बनी, क्योंकि उसे लोकहित करना था, विश्वहित करना था' (आमुख पृ. 11)। वे प्रस्तावना में यह निर्दिष्ट करते हैं कि

ब्रह्मा रावण आदि राक्षसों से त्रस्त देवर्षियों की रक्षा के लिए राम को दण्डकारण्य भेजने के इच्छुक थे - 'अथ दण्डकारण्ये पुरा रावणादि-राक्षसैरुद्वेजितानां देवर्षीणां परित्राणाय ब्रह्मा विष्णुभूतं रामं तत्र प्रेषितुकामो बभूव (प्रस्तावना पृ. 1), साथ ही स्पष्ट किया है कि कैकेयी की योग्यता से प्रभावित होकर ब्रह्मा ने उसे अपनी लोकहित-योजना को कार्यान्वित करने का भार दिया था-'देशहितं लोकहितं चावेक्ष्यात्रभवती मम कार्यभरं युक्तियुक्तं निर्वहतु। नान्योऽपरः कश्चित् प्रकरणेऽस्मिन् समर्थ इति (प्रस्तावना, पृ. 1)। लोकहित साधने के लिए सभी को मिलकर प्रयास करने चाहिए। यह आर्षनीति हमारा संकल्प होना चाहिए- 'उत्तरभारतस्यापि लोका ऋषयो राजानश्च सम्भूय सामदानभेददण्डादिभी राक्षसान् निगृह्णीयुरिति आर्षनीतिरस्माकं संकल्पः' (पृ. 13)। शासकों का भी प्रण होना चाहिए कि वे हर हाल में सज्जनों की रक्षा और दुष्टों का विनाश करें- 'सततं रघुवंशीया राजानः पुत्रपौत्रपरम्परया दुष्कृतां रक्षसां प्रणाशाय प्राणपणेन प्रवर्तिष्यन्त इति' (पृ.14)। सज्जनों की विपत्तियों को शासकों द्वारा यथाशीघ्र दूर कर दिया जाना चाहिए-'ऋषीणां विपत्तयो यथशीघ्रं निवारणीयाः सन्ति' (पृ.15)। राक्षसों से त्रस्त जनों की रक्षा करने वाले राम को आचार्य उपाध्याय मूर्तिमान् लोकहित की संज्ञा देते हैं- 'रामोऽयं मूर्तिमान् लोकहितमिति जनभावना विलसति स्म' (पृ.27)। लोकहित साधने के लिए राम के सन्देश के माध्यम से प्रो. उपाध्याय सुझाव देते हैं कि राक्षसी तमोवृत्ति को दूर करना चाहिए, जैसे राम ने राक्षसी तत्त्वों को दूर करके दण्डकारण्य को अभयारण्य बना दिया उसी तरह तमोवृत्ति को दूर करके सात्त्विक वृत्ति का प्रसार करके लोक को शान्तिपूर्ण और निर्भय बनाया जा सकता है- 'भवतां ब्रह्मतेजसा राक्षसी तमोवृत्तिरपसारणीया। यथा दण्डकारण्यं मयाभयारण्यं कृतं, तथैव पर्यटन्तो भवन्तस्त्रैलोक्यं प्राान्तनिर्भयात्मनीनं विदधतु' (पृ. 28)। ब्रह्मा के उपक्रम भी विश्वशान्ति के लिए संकल्पित बताए गये हैं- 'प्रागेव मया विश्वशान्तये उपक्रमाः संकल्पिता आसन्' (पृ. 29)। लोकहित के कार्य को प्रो. उपाध्याय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। ब्रह्मा लोकहित के कार्य में उन्हीं को नियुक्त करते हैं जिन पर उनकी सर्वाधिक कृपा होती है - 'ये भवन्ति मे प्रसादपात्रं तानेव लोकहितलतिकापशोनानुबध्नामि' (पृ. 32) इस प्रकार कैकेयीविजयम् नाटक में लोकहित के कार्यों को महत्त्वपूर्ण निरूपित किया गया है। लोकहित को साधने का अवसर ईश्वर की कृपा से प्राप्त होता है।

'सीताभ्युदयम्' में सीता के जीवन के उत्तरार्ध की घटनाओं को नये रूप में प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थ के आमुख (पृ. 5) में ही रामजी उपाध्याय निर्दिष्ट

करते हैं कि सीता ने अनसूया के सान्निध्य में आत्मसात् किया था कि तपस्या के द्वारा मानवता का कल्याण किस प्रकार किया जा सकता है। इस प्रकार कवि तपस्या के द्वारा अर्जित पुण्य का सदुपयोग लोकहित में मानते हैं। कवि का दृढ निश्चय है कि सीता ने वनवास में तपश्चर्या करते हुए लोकहित करने की अप्रतिम शक्ति अर्जित कर ली थी (आमुख पृ. 5)। राम स्वयं लोकव्यवस्था का श्रेष्ठ संचालन करते हुए विश्राम भी नहीं लेते हैं (सीताभ्युदयम्, पृ. 4)। राम के आजीवन कठिन संघर्ष पर स्पष्टीकरण देते हुए ब्रह्मा बताते हैं कि यह सब लोक हित के लिए प्रवर्तित था (सीताभ्युदयम्, पृ. 5)। ब्रह्मा सीता के राम से वियोग को भी मानवलोक के हित में और रसातल वासियों के कल्याण के लिए बतलाते हैं (सीताभ्युदयम्, पृ. 7)। सीता-राम की सन्तति के जन्म को वशिष्ठ राघवों के साथ साथ लोक के समृद्ध सौभाग्य के लिए बतलाते हैं (सीताभ्युदयम्, पृ. 8)। वशिष्ठ राम को आशीर्वाद देते हैं कि प्रजा के उत्थान से तुम्हारा भला हो अर्थात् प्रजा की भलाई में ही शासक की भलाई होती है (सीताभ्युदयम्, पृ. 10)। राजा राम प्रजा की आराधना को अपना श्रेष्ठ धर्म मानते हैं। उनका प्रजा आराधन सबके हित के लिए है- 'प्रजाराधनसौधर्म्यं सिद्धं विश्वहितात्मकम्'।[6] वशिष्ठ भी राम की मंगलमयी प्रवृत्तियों में सभी के सुख की सम्भावना देखते हैं। प्रजा के हित चाहने वाले रघुवंश की वृद्धि को वशिष्ठ लोक के हित में मानते हैं- 'किमतः परं लोकहितं देशहितं च रघुवंशस्य वर्धनात्' (सीताभ्युदयम्, पृ. 11)। राम महर्षि वाल्मीकि को निवेदन करते हैं कि आप जैसे महात्माओं के प्रभाव से ही निमित्त मात्र होकर में लोक आराधन के कार्यों में लगा रहता हूँ (सीताभ्युदयम्, पृ. 15)। महर्षि वाल्मीकि ने भी लोक के चरित्र को उत्कृष्ट बनाने के लिए आदिकाव्य की रचना की है (सीताभ्युदयम्, पृ. 25)। राम कहते हैं कि मैंने लोगों का हित करने के लिए विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी अपने जीवन को समर्पित किया है (सीताभ्युदयम्, पृ. 29)। सीताभ्युदयम् के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि लोकहित करने में ही चारित्रिक उदात्तता और तपस्या की सफलता है।

'शम्बूकाभिषेकम्' राम के राज्याभिषेक के पश्चात् की घटनाओं पर केन्द्रित नाटक है। राजा बनने के बाद राम ने राजद्वार पर एक घण्टी लगवा दी कि जिसे भी कोई समस्या हो वह इस घण्टी को बजा दे, राम स्वयं उसकी समस्या का समाधान करेंगे(शम्बूकाभिषेकम्, पृ. 16)। गुप्तचर बताता है कि आन्ध्र प्रदेश में महर्षि सत्यानन्द के आश्रम में रहने वाले तापस और ब्रह्मचारी लोकहित साधने के लिए चिंतन किया करते थे (शम्बूकाभिषेकम्, पृ. 18)। कार्याधिप कहता है कि राम

के द्वारा किये जाने वाले लोकहित के कार्यों से शबरप्रदेश में भी समाज वृद्धि को प्राप्त हो रहा है (शम्बूकाभिषेकम्, पृ. 28)। राम शम्बूक का राज्याभिषेक कर देते हैं साथ ही उसे निर्देश देते हैं कि राजा को राष्ट्र की रक्षा करनी चाहिए। राम प्रजा को भी संबोधित करते हुए कहते हैं कि आप सब के कार्य भी लोकहित साधने वाले होने चाहिए- 'भवतां कार्यजातं लोकहित-परायणं प्रभवेत्'[7] एकलव्यविजयम्- यह महाभारत के प्रसिद्ध पात्र एकलव्य पर आधारित नाटक है।

नन्दगौतमीयम् - कवि का मानना है कि बुद्ध ने लोकहित के लिए राजमहल के भोग-ऐश्वर्य का त्याग कर दिया था।[8] बुद्ध नन्द से कहते हैं कि मैं लोकहित का जो कार्य करता आया हूँ, वह अभी बचा हुआ है। तुम्हें निरंतर वह कार्य पूर्ण करना है, यही मेरे लिए तुम्हारी गुरुदक्षिणा होगी (नन्दगौतमीयम्, पृ. 31)।

अशोकविजयम्- विश्व प्रसिद्ध महान् सम्राट् अशोक के कलिंग विजय के पश्चात् हुए हृदय परिवर्तन और विश्व कल्याण के कार्यों का वर्णन इस नाटक में हैं। महर्षि सर्वज्ञ विश्वजनवत्सल अशोक को विश्व के उद्धार के लिए परमेश्वर के द्वारा सृष्ट बतलाते हैं (अशोकविजयम्, पृ. 17)। अशोक की आकांक्षा सदैव लोकमंगल की हो गयी है- 'विभो सदैव लोकमङ्गलं तवास्ति वाञ्छितम्' (अशोकविजयम्, पृ. 22)। अशोक ने संकल्प लिया कि वह अपनी सभी अलौकिक विभूतियों का उपयोग मानवता के लिए करेंगे। उनकी धर्मचर्या लोकहित के करने में समर्थ होगी (अशोकविजयम्, पृ. 24)। अशोक की मनोकामना है कि सभी राष्ट्राधिप स्पर्धा छोड़कर मैत्रीभाव से भर जायँ और लोकहित की कामना से कार्य करें (अशोकविजयम्, पृ. 27)। लोकहित की कामना रखने वाले सम्राट् अशोक को सभी देवता शुभाशीष देते हैं। अशोक ने युद्ध न करने का निर्णय कर लिया और लोक को शान्ति प्रदान करने वाले, अपना सर्वस्व समर्पण कर किये जाने वाले धर्मविजय को करने की घोषणा कर दी (अशोकविजयम्, पृ. 29)। अशोक प्रजा को ही परमेश्वर मानते हैं और उसकी आराधना अपने लिए करणीय मानते हैं (अशोकविजयम्, पृ. 31)। इसी नाटक में एक अन्य स्थान पर अशोक न केवल अपने साम्राज्य की अपितु विश्व की प्रजा को अपनी सन्तान की तरह पालन करने योग्य बतलाते हैं (अशोकविजयम्, पृ. 33)। अशोक विदेशीय राजाओं को भी यही सन्देश देते हैं कि हमारे कार्य लोकहित के लिए होने चाहिए- 'यदस्माभिः क्रियते, तत्सर्वं लोकहिताय प्रभवेद्।'[9]

मदनमोहनमालवीय कीर्तिमञ्जरी - प्राचीन प्रख्यात कथाओं को नये स्वरूप में ढालकर समाज का मार्गदर्शन करने वाले विद्वानों को कवि लोक हितैषी

मानते हैं। महामना मदन मोहन मालवीय का चरित ऐसा ही उदात्त चरित है। कवि महामना को लोक अनुग्रह का प्रवर्तक मानते हैं- 'मालवीयस्तु लोकानुग्रहप्रवर्तकः'।[10]

आचार्य रामजी उपाध्याय के रूपकों का प्रमुख उद्देश्य भारतीय जनमानस को उदात्त भावों से भर देना है। लोकहित करना भी ऐसा ही भाव है। उनके नाटकों के प्रमुख पात्र लोकहित के लिए कृतसंकल्प दिखाई देते हैं। कवि भारतीय संस्कृति के समुपासक रहे थे।

सन्दर्भ -

1. *योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः। सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते।। नाट्यशास्त्र 1.119*
2. *नाट्यशास्त्र 13.69 अभिनवभारती*
3. *काव्यप्रकाश 1.3 वृत्ति*
4. *श्रीमद्भगवद्गीता 4.8*
5. *कैकेयीविजयम्, भूमिका पृ. 1*
6. *सीताभ्युदयम्, पृ. 11*
7. *शम्बूकाभिषेकम्, पृ. 34*
8. *नन्दगौतमीयम्, पृ. 8*
9. *अशोकविजयम्, पृ. 34*
10. *मदनमोहनमालवीय कीर्तिमञ्जरी, पृ. 9*

सन्दर्भ ग्रन्थ -

1. *कैकेयीविजयम्, रामजी उपाध्याय, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1999 ई., मूल्य रू. 50*
2. *सीताभ्युदयम्, रामजी उपाध्याय, भारतीय संस्कृति संस्थान, वाराणसी, 1998 ई., मूल्य रू. 50*
3. *अशोकविजयम्, रामजी उपाध्याय, भारतीय संस्कृति संस्थान, वाराणसी, 2057 वि., मूल्य रू. 50*
4. *मदनमोहनमालवीय कीर्तिमञ्जरी, रामजी उपाध्याय, भारतीय संस्कृति संस्थान, वाराणसी, मूल्य रू. 50*
5. *नन्दगौतमीयम्, रामजी उपाध्याय, भारतीय संस्कृति संस्थान, वाराणसी, 2060 वि., मूल्य रू. 40*
6. *शम्बूकाभिषेकम्, रामजी उपाध्याय, भारतीय संस्कृति संस्थान, वाराणसी, 2001 ई., मूल्य रू. 50*

25

रामजी उपाध्याय के नाटकों में लोकहित चिन्तन

प्रभातकुमार सिंह

आचार्य रामजी उपाध्याय संस्कृत जगत के अग्रगण्य मनीषी हैं। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन संस्कृत के पठन,पाठन एवं लेखन में समर्पित कर दिया। उन्होंने अपनी नाट्य कथाओं के माध्यम से लोकहित को ही सर्वोपरि रखा है। यह विचारणीय है कि उनके नाटकों की कथावस्तु लोकहित के उद्‌देश्य को पूर्ण करती है या जो पात्र नाटकों में प्रयुक्त हैं वे अपने चरित्र चित्रण द्वारा किस प्रकार से लोकहित का सन्देश देते हैं जिससे सामाजिक नाटक का अनुक्षण आनन्द लेते हुए लोक कल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो सकें। वह स्वयं तो हम लोक कल्याण का आदर्श स्थापित करे ही साथ ही साथ दूसरे लोगों को भी प्रेरित करे। या संवादों की शैली है वह किस प्रकार से लोकहित में सन्नद्ध होने के लिए प्रेरित करती है। उसके माध्यम से संसार कल्याणकारी दृष्टि के साथ जीवनपथ पर सतत् प्रवृत्त हो सकता है। इन्हीं बिन्दुओं पर विचार करना ही प्रस्तुत शोधपत्र मूल उद्‌देश्य है।

सीताभ्युदयम् नाटक में नाटककार भगवान राम के चरित्र के प्रति जनमानस में आयी सीता परित्याग विषयक कलुषता को धवलित करने की परिकल्पना की है, किन्तु राम के चारु चरितावली को उज्ज्वल बनाने के साथ ही लोकहित के महान उद्‌देश्य को भी प्रमुखता से स्पष्ट किया गया है। नाटककार ने प्रथम अंक के आरम्भ में ही वशिष्ठ और ब्रह्मा के संवाद से लोकहित के उद्‌देश्य का कथन कराते हैं –

भगुशापो मया लोकहितार्थं विहितं आसीत्। न केवलं मानवलोकस्याभ्युदयार्थमपितु रसातलवासिनामपि कल्याणमुद्दिष्य लक्ष्मीरुपधरा सीता अवशिष्टं कार्यभरं सम्पादयितुं प्रवर्तिष्यते। प्रथमं सा रामचरिताख्यानात्मक-मादिकाव्यं रामायणं कर्तुकामस्य वाल्मीकेः सहायिनी भविष्यति। पश्चात् सा

पाताललोकं गता रामचरितादर्शं विश्वे प्रसारयितुमृशिचर्या चरन्ती विश्वलोकानाराधयिश्यति।[1]

प्रस्तुत संवाद में नाटककार ने लोकहित के उद्देश्य को स्पष्ट किया है। यहाँ पर न केवल मानव लोक के कल्याण की बात कही गयी है बल्कि मानव लोक के अतिरिक्त पाताल एवं नागलोक के कल्याण की भी योजना बनायी गयी है। यद्यपि नाटककार ने 'सीताभ्युदयम्' के भूमिका में स्पष्ट कर दिया है कि पाताल लोक का तात्पर्य पृथिवी के नीचे का लोक नहीं, बल्कि आज का दक्षिण अमेरिका देश है। अर्थात् सीताभ्युदयम् के कथानक के आरम्भ से ही विश्व कल्याण के विषय में चिन्तन किया जा रहा है। इसी लोकहित के उद्देश्य से ब्रह्मा ने राम सीता के पुत्रों का जन्म अभुक्त मूल नक्षत्र में कराने की योजना बनाई[2]; जिससे राम अनिवार्य रूप से सीता को दीर्घकाल तक स्वयं से दूर लोकहित के लिए समर्पित कर दें; और अन्त में वशिष्ठ आदि के प्रयास से वही हुआ भी। सीता को राम स्वयं वाल्मीकि के आश्रम में छोड़ आतें है। सीता वाल्मीकि आश्रम में 16 वर्ष पर्यन्त सदैव लोक कल्याण में ही सन्नद्ध रहती हैं। इसीलिए वाल्मीकि सीता को विश्वकल्याण परायण देवी कहकर सम्बोधित करते हैं - ऐह्येही मम कार्यार्थं साधिके।[3] आगे पुनः चतुर्थ अंक में नाटककार आकाशवाणी के माध्यम से यह स्पष्ट कर देता है कि हे परोपकार परायणे सीते तुम्हारा जन्म ही लोक कल्याण के लिए हुआ है। इसीलिए तुम सर्वदा लोकहित में तत्पर रहोगी –

तव व्रत परिपालनमिष्टं चराचरस्य परार्थिनि।
धरणीपुत्री जाता नूनं देवि धारणाय धर्मकामानाम्।[4]

इसी भावना को सीताभ्युदयम् के तृतीय अंक में राम कहते हैं कि आश्रम में शान्ति का मार्ग होता है और यही शान्ति सम्पूर्ण विश्व के हित में प्रसारित की जाती है – 'अहो शान्ति मार्ग आश्रमस्य।'

यज्ञवेदिपरिभावितदेवाः सामगानधृतरागविशेषाः
सोमपान परितृप्तविबुधाः सौम्यतां जगति संविभजन्ति।[5]

सीता के इसी लोकहित व्यवहार के लिए सीताभ्युदयम् के पाँचवें अंक में महर्षि नारद से सीता की माता पृथिवी के द्वारा व्यंगपूर्वक जब यह कहा जाता है कि हे देवर्षि सीता के द्वारा देवताओं की (लोककल्याण विषयक) कार्यसिद्धि तो भले हुई, किन्तु उसने मेरे शासन भार को तो कण भर भी हल्का नहीं किया – देवर्षे, अस्ति खलु सीतया कार्यसिद्धिदेवानामेव। मम कार्यभारस्तया न तनूकृतः।[6]

तब महर्षि नारद पृथिवी देवी को सीता के इस लोक कल्याण विषयक कृत्य के लिए बधाई देते हुए (वर्धस्व स्वपुत्रया अनुपम गौरवशालीकीर्तिभिः) कहते हैं कि सीता अपने उदात्त चरित्र से पातालवासियों को ही नहीं अपितु अपनी महान शक्ति से सभी लोकों को सर्वोदय पथ पर बढा चुकी हैं, बढा रही हैं और बढायेंगी। यह बताने के लिए ही ब्रह्मा ने मुझे आपके पास भेजा है।[7] इस प्रकार यह देखते हैं कि सीताभ्युदयम् में सीता को ब्रह्मा ने लोकहित के लिए ही मानवलोक में भेजा है। उस लोकहित के उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए सीता सम्पूर्ण जीवन पर्यन्त अनगिनत कष्टों को सहन करती हैं। कभी राम के साथ वनों में भ्रमण करती हैं तो कभी राक्षसों के बीच निवास करके उनकी प्रताड़ना को झेलती है तो कभी राजमहल के सुख का परित्याग करके वाल्मीकि आश्रम में कन्द मूल फल खाकर संन्यासी जीवन को अंगीकार करती हैं। नाटक का अन्त भी लोक अभ्युदय की संकल्पना के साथ ही होता है। राम कहते हैं कि सभी मानव वैभव सम्पन्न हों ,लोगों में परस्पर सौहार्द बढ़े। सभी प्राणी दूसरों के अभ्युदय में योगदान करें –

मानवाः भूतिमन्ताः स्युः सौहार्दं स्यात् परस्परम्।
पराभ्युदययोगस्तु प्रकृतिः सर्वदेहिनाम्।[8]

नन्दगौतमीयम् नाटक में महात्मा बुद्ध के सम्पूर्ण मानवता के कल्याण की भावना को व्यक्त किया है। यद्यपि कथावस्तु की दृष्टि से तो मात्र यह प्रतीत है कि महात्मा बुद्ध मात्र अपने अनुज नन्द को भोगविलास से विरक्त करके लोकहित में लगाना चाहते हैं और नन्द की इच्छाओं की पूर्ति के लिए उसके मनोनुकूल मार्ग पर ही ले जाकर त्रैलोक्य सुन्दरी की प्राप्ति कराने के लिए कहते हैं और स्वर्ग में ले जाते हैं तथा हिमालय पर तपश्चर्या का सुझाव भी देते हैं।[9] किन्तु जब सूक्ष्म दृष्टि से चिन्तन करते हैं तो यह स्पष्ट होता है कि नन्द मात्र एक माध्यम है वह तो सम्पूर्ण मानव जाति के लोकाभ्युदय में संलग्न होने के लिए ही नन्द को ऐसा सुझाव देते हैं। जिसे कि चतुर्थ अंक में गौतम का प्रमुख शिष्य आनन्द नन्द को प्रज्ञानस्थली (क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति) का दर्शन कराके नन्द की इच्छाओं का वास्तविक ज्ञान करा कर उसे बुद्ध के इस सुझाव से विमुख कर देता है।[10] तब नन्द स्वयं तपश्चर्या के मार्ग का परित्याग करके पुनः बुद्ध के पास आत्मकल्याण हेतु पहुँचता है। तदनन्तर कहता है -

ओम् सत्यमिदम्। भवत उच्चाटनेन कामस्तु सर्वथा भग्नोद्यमो मम विषये। आज्ञापयतु भगवन् किं मयात्रभवते प्रतिकर्तव्यम्।[11]

अर्थात् अब मैं कामवासनसा से मुक्त आपके आदेशानुसार क्या करूँ। तब बुद्ध उससे कहते हैं कि विश्वहित करने के लिए जो काम मै करता चला रहा हूँ वह अधूरा ही है। उसे तुम्हें पूरा करना है। यही मेरे लिए गुरु दक्षिणा तुम्हें देनी है। इसी प्रयोजन से तुम्हे तषित लोक से यहाँ उतारा गया है[12]– विश्वजन हिताय यत्कार्यं ये अवशिष्यते तत्वया सातत्येन सम्पादनीयमिति।

इसी लोकहित के उद्‌देश्य की पूर्ति हेतु बुद्ध छठे अंक में ब्रह्मा पृथ्वी के संवाद के अनन्तर पृथ्वी पर लोक कल्याण की भावना को सर्वत्र प्रसारित करने हेतु ब्रह्मा से निवेदन करते हैं कि आप शक्तिपात द्वारा नन्द को विश्व में शान्ति और सुसंस्कृति प्रतिष्ठापित करने की योग्यता प्रदान करें। जिससे कि पृथ्वी पर सर्वत्र लोक कल्याण एवं मंगलमय वातावरण निर्मित किया जा सके।[13] इस प्रकार नाटककार ने नन्दगौतमीयम् नाटक में नन्द पात्र के चरित्र चित्रण के माध्यम से सम्पूर्ण समाज को लोकहित का सन्देश देता है कि आप केवल निजी स्वार्थों तक सीमित न रहें अथवा निजी भोग विलासों में मदोन्नमत्त न रहें। क्योंकि अन्ततः ये दुःख देने वाले हैं। स्थायी सुख प्राप्ति के लिए स्वयं प्रयास करें तथा सम्पूर्ण मानव को भी प्रेरित करें। सर्वदा लोकहित के लिए सन्नद्ध रहें। महात्मा गौतम बुद्ध तो न केवल भारत को बल्कि विश्व के मानव मात्र को प्रशान्ति सौरभ से सुवासित करने की योजना बनाई और उसे स्वयं कार्यान्वित करने के लिए जीवन के 45 वर्षों तक (मरने के अन्तिम क्षण तक) निरन्तर भ्रमण करते हुए प्रयत्न करते रहे। इतने से ही सन्तुष्ट न होकर गौतम ने महान भिक्षु सैन्य का निर्माण किया।[14] यही लोकहित की भावना नन्दगौतमीयम नाटक के पात्रों के संवादों में भी मुखर रूप से दृष्टिगत होती हैं वह चाहे आनन्द हों, बुद्ध हों, पृथ्वी हो अथवा ब्रह्मा।

जब अशोकविजयम् नाटक में प्रियदर्शी अशोक के लोकहित विषयक लोकोपकारी चरित्र से हम अवगत होते हैं। नाटक की भूमिका में उपाध्याय जी ने लिखा है कि सम्राट अशोक लिए लोकहित सर्वोपरि था। उसने अपना जीवन क्षणशः विश्व मानवता के इहलौकिक व पारलौकिक कल्याण करने में बिताया। वह संसार के मानव मात्र को अपना पुत्र मानकर सबकी सुख सुविधा और व्यक्तित्व विकास के लिए प्रयासरत रहा। उसने घोषणा की कि आधी रात के समय भी मैं जहाँ कहीं रहूँ, मुझे प्रजा का काम तत्काल बताया जाय, मैं उसे अविलम्ब सम्पन्न करुँगा। इतना काम करने पर भी मुझे सन्तोष नहीं होता है कि मैं पूर्णरूप से लोकहित कर पा रहा हूँ।[15] उसने कहा कि मैं प्रजा के ऋण से उऋण होना चाहता हूँ और इसके लिए प्रयास करता हूँ –

कर्तव्यं हि मे सर्वलोकहितम् नास्ति हि कर्मान्तरं, सर्वलोकहितात्। यच्च किन्चित पराक्रमोऽहं किमिति भूतानामनृण्यमेपायम्। अर्थात् मुझे लोकहित करना है। लोकहित करने से बढकर मेरा कोई काम नहीं है। जो कुछ उद्योग मैं करता हूँ वह इसीलिए।[16] उदात्त समादृत दृष्टि को समाज के सम्मुख स्थापित एवं अनुकरण करने हेतु ही 'अशोकविजयम्' नाटक की रचना की है। लोकहित विषयक चिन्तन की अवधारणा को परिपुष्ट करने हेतु ही लेखक ने अशोकविजयम् के चतुर्थ अंक में जब रंगमंच पर ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देवता मधुपर्क विधि से अशोक को तिलकित करके आशीर्वाद देते हैं कि हम सभी देवताओं के द्वारा प्रदत्त शक्ति से अशोक तुम सम्पूर्ण विश्व के हित में तत्पर हो जाओ। तुम देवों के प्रिय हो इसलिए आज से तुम्हारा प्रियदर्शी नाम सार्थक होगा। अतएव देवानां प्रिय की अद्वितीय उपाधि से हम तुम्हें अलंकृत करते हैं —

वत्साशोक! तपसा त्वं देवानां प्रियः संवृतः। वयं त्वां देवानां प्रियः इत्युपाधिनालंकुर्मः। त्वं जगतः प्रियदर्शोऽसि। अनेनातिशयेन तव प्रियदर्शी नाम सार्थकं रोचयिश्यते।[17]

तब अभिनन्दन की मुद्रा में सभी देवों के प्रति अशोक का यह कहना कि

विश्वस्मिन् मे प्रभवतु तर्तिदुःयाधारां निरोद्धुं
वैराग्यं च प्रसरतु सदा स्वार्थसिद्धावनिन्द्यम्।
दानं शीलं वरदवचसा भासवरं मे भवेताम्
सर्वो मे स्यादहमपि समस्वान्तमार्गे स्वकीयः।[18]

अर्थात् आप सबके आशीर्वाद से और वरदान से मैं प्रोत्साहित हूँ। आजीवन मै विश्वमानवता का कल्याण करने का व्रत पालन करूँगा। प्राणिमात्र की सेवा करते हुए मैं अपने को सबके हित में नियुक्त कर रहा हूँ। मेरे पराक्रम से और आपके वरदान सें मुझे सफलता मिले। शील, दया और दान के महासागर में निष्णात होकर मैं विश्वमानवता को अपनें में और अपने को विश्वमानवता में देखूँ। अशोक का मानना था कि सर्वलोकहित से बढ़कर अच्छा कोई काम नहीं है-यद् भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम।[19] यह लोकहित की सर्वोत्कृष्ट दृढ इच्छा शक्ति का प्रतीक है। इसी लोकहित की भावना को प्रत्येक मानव में स्थापित करने के लिए ही लेखक ने अशोक के इस मनोभाव को कथोपकथन के माध्यम से नाटक मे उद्धृत किया है जिससे कि नाटक के दर्शक और पाठक प्रेरित होकर व्यष्टि से आगे बढ़कर समष्टि की ओर अग्रसर हो सकें तथा लोकहित में अपना महत्वपूर्ण योगदान कर सकें।

इसी प्रकार रामजी उपाध्याय ने पाँच अंकों से युक्त मदनमोहन मालवीय कीर्तिमञ्जरी नाटक में भी पं. महामना मदन मोहन मालवीय जी के महत्वपूर्ण लोकोपकारी कार्यों को यथा- काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना एवं देश की स्वाधीनता तथा देशसेवा हेतु अपने सर्वश्रेष्ठ वकालत के व्यवसाय का पूर्णतः परित्याग कर देना और समर्थ धनवान लोगों एवं राजाओं के सम्मुख काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के उत्तरोत्तर विकास (निर्माण आदि) हेतु भिक्षा माँगना आदि का वर्णन करके नाटक के पाठक एवं दर्शक को लोकहित में तत्पर होने के लिए प्रेरित करते हैं। इस नाटक की कथावस्तु को पढ़कर निश्चय ही पाठक के मन में लोकहित के प्रति रुचि जागृत होगी, जिससे वह स्वयं तो समाज के कल्याण में सन्नद्ध होगा ही साथ ही साथ अन्य लोगों को भी प्रेरित करेगा।

इस प्रकार यह देखते हैं कि रामजी उपाध्याय के नाटकों में लोकहित चिन्तन को प्रमुखता से स्थान दिया गया है। इस लोकहित की भावना के द्वारा ही मानव समाज में परस्पर प्रेम, सद्भाव, मैत्री तथा एकता को स्थापित किया जा सकता है। तभी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' एवं 'यत्रविश्वंभवत्येकनीडम् की उदात्त वैदिक संकल्पना को मूर्तरूप दिया जा सकता है।

सन्दर्भ -

1. *सीताभ्युदयम्, प्रथम अंक*
2. *यथाधिकारं मया पुत्र प्रसूतिकालेभुक्तमूले विहितः। अभुकतमूले जातस्य शिर्शोमुखं द्वादश वर्षाणि पित्रादिकुटुम्बजनैंन द्रष्टव्यं महाविपत्ति जननादिति भवान् रामं सन्दिशतु। सीताभ्युदयम्,प्रथम अंक।*
3. *वही, 3.8*
4. *वही, 4.3*
5. *वही, 3.4*
6. *वही, अंक , 6*
7. *वही, अंक, 5*
8. *वही,अंक, 6*
9. *नन्दगौतमीयम् , अंक, 3*
10. *वही, अंक, 4*
11. *वही, अंक, 5*
12. *वही, अंक, 5*
13. *वही, अंक, 6*
14. *वहीं, भूमिका, पृष्ठ, 5*
15. *अशोकविजयम् ,भूमिका पृष्ठ, 1*
16. *अशोक का षष्ठ शिलालेख*
17. *अशोकविजयम् ,चतुर्थ अंक*
18. *वही*
19. *अशोक का षष्ठ शिलालेख*

26

रामजी उपाध्याय के नाटकों की दार्शनिक समीक्षा

रवीन्द्र कुमार पंथ

रामजी उपाध्याय के नाटकों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे भारतीय संस्कृति के अनन्य साधक थे। उन्होंने भारतीय संस्कृति के प्रचलन में जो विचार थे उनमें समन्वय लाने के लिए अथक प्रयास नाटकों के माध्यम से किया है। उनके नाटक 'कैकेयीविजयम्' की एक पात्र कैकेयी जिसकी रामायण और अन्य उपजीव्य ग्रंथों में जो अवहेलना हुई। कवि को कतई पसन्द नहीं कि भारतीय संस्कृति में ऐसी कोई घटना सम्मिलित होनी चाहिए। इसलिए उन्होंने कथावस्तु में परिवर्तन कर अपने नाटक के माध्यम से कैकेयी का सम्मान समाज में पुनर्स्थापित किया है। यही कवि का समन्वयवादी दर्शन है। वे समाज के प्रत्येक व्यक्ति में समन्वय देखना चाहते हैं। 'सीताभ्युदयम्' नाटक में रावणवध के बाद जब राम सीता को लंका नगरी से वापस लेकर आते है तो सीता के चरित्र के विषय में लोगों को शंकाए होती हैं और इस मिथ्या प्रवाह के कारण राम गर्भवती सीता को वन में छुड़वा देते हैं। यह कथा रामायण की है जो राम को सीता विषयक वन-गमन के कारण आधुनिक समय में एक निंदनीय घटना के रूप में देखी जा सकती थी। किन्तु रामजी उपाध्याय ने अपने इस 'सीताभ्युदयम्' नाटक के माध्यम से इस दोषारोपण को नाटक में निरस्त किया है। इस तरह समाज और राम के गुणों का समन्वय करने के लिए इस कथावस्तु में परिवर्तन किया गया।

'एकलव्यविजयम्' में एकलव्य के माध्यम से और शम्बूकाभिषेकम् में राम ने शम्बूक के अभिषेक के द्वारा एक राजा और शूद्र तपस्वी का समन्वय प्रस्तुत कर यह नया दृष्टिकोण सहृदयों के सामने रखा है। रामायण का शम्बूकवध जो राम के कर्मों में सम्मिलित होने के कारण सामाजिक टकराव की स्थिति पैदा करता है।

उपाध्याय जी वध को अभिषेक[3] में परिवर्तित कर समाज को एक समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रदान करते हैं।

उपाध्याय जी के नाटकों में दो विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं का समन्वय देखने को मिलता है। इसका अच्छा उदाहरण 'अशोकविजयम्' और 'नन्दगौतमीयम्' नाटक हैं। अशोक एक हिन्दू राजा है, लेकिन उन पर बौद्ध धर्म का प्रभाव दिखाया गया है। यद्यपि ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर कहा जाता है कि अशोक ने बौद्ध धर्म स्वीकारा था, किन्तु यह बात प्रस्तुत नाटक में उजागर नहीं है। सर्वज्ञ मुनि से शंका निवारण के लिए जाना तथा मुनि का आर्यसत्य और अष्टांगिक मार्गों की चर्चा करना, बौद्ध दर्शन के तत्त्वों को उजागर करता है। ऐसा प्रतीत होता है सर्वज्ञ बौद्ध साधु ही है, किन्तु नाटक में ऐसा कही कहा नहीं गया। ऐतिहासिक दृष्टि से अशोक ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया था। किन्तु इस नाटक में तप के बाद पौराणिक और वैदिक देवता उसे वर प्रदान कर रहे हैं। यही बौद्धधर्म और पौराणिक हिन्दू धर्म का समन्वय प्रस्तुत करता है। जबकि इन दोनों मान्यताओं में बहुत अन्तर देखने को मिलता है। यह कवि की नयी विचारधारा समन्वयात्मक रूप से भारतीय संस्कृति और दर्शन को प्रस्तुत करती है।

इसी प्रकार बौद्ध दर्शन और पौराणिक हिन्दू दर्शन का समन्वय हम नाटक 'नन्दगौतमीयम्' में देख सकते है। गौतम बुद्ध का दर्शन पौराणिक दर्शन से बिल्कुल भिन्न है। वे अवतारवाद, ब्रह्मवाद आदि सिद्धांतों को स्वीकार नहीं करते हैं, किन्तु इस नाटक के षष्ठ अंक में बुद्ध का ब्रह्मा और पृथ्वी देवी से मिलना, ब्रह्मा का जीव कल्याण हेतु गौतम बुद्ध को आग्रह, गौतम बुद्ध के द्वारा ब्रह्मा की प्रशंसा आदि वर्णन प्राप्त होते हैं।[4] इन सभी दृष्टांतों से ज्ञात होता है कि कवि ने बौद्ध दर्शन और पौराणिक दर्शन को भिन्न न मानकर उनका समन्वय प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। यह समन्वयवादी विचारधारा और अन्य नाटकों में भी देखने को मिलती है।

आचार्य रामजी उपाध्याय के नाटकों में कई नाटक ऐसे प्रतीत होते हैं कि इनका प्रतिपाद्य दार्शनिक पक्ष को लेकर विकसित हुआ है। संसार की असारता, मायात्मक जगत् का तात्त्विक स्वरूप, ब्रह्म की सत्यता, लोक को ब्रह्मस्वरूप देखने की मान्यता, लोककल्याण की भावना आदि दार्शनिक विषयों को इनके नाटकों में देखा जा सकता है। भारतीय दर्शन में वेदान्त, बौद्ध, मीमांसा, योग आदि दर्शनों का प्रभाव या समावेशन इन्होंने अपने नाटकों में भलीभांति किया है।

संसार की असारता -

'नन्दगौतमीयम्' नाटक का आरम्भ ही संसार की असारता से होता है, जिसका सीधा सम्बन्ध बिम्बिसार के उस वाक्य से है जिसमें महाराज शुद्धोधन के पत्र पर आत्मसंवाद है कि सिद्धार्थ गृह-परिवार, संसार से विरक्त हो गए - शुद्धोधनस्य यन् मम पुत्रः सिद्धार्थोऽस्माभिरनुज्ञातो राजाद् विमुखीभूय प्राव्राजीत्।[5]

उपर्युक्त कथन संसार की अनित्यता या असारता को प्रकट करता है क्योंकि असारता के कारण ही सिद्धार्थ उसे भोग्य योग्य न समझते हुए संन्यासी हुए। सिद्धार्थ प्रथम अंक में ही बिम्बिसार को बता रहे हैं कि संसार में किस तरह दुःख व्याप्त है। जीवन, जरा-मरण, रोग आदि के कारण दुःखमय है। दुर्बल हो या बली जन्म, जरा और मृत्यु इनको नहीं छोड़ते हैं। सभी को अवश्य ही जरा अर्थात् बुढ़ापे का दुःख तथा इसके बाद मृत्यु के दुःख को भोगना होता है। उनके अनुसार संसार का मोह भले ही मन को मोहने वाला है, किन्तु उसमें नश्वरता व्याप्त है और यह जगत् का मायात्मक रूप है जो दुःखों का कारण बनता है - ''जरां व्याधिं च मृत्युं च को हि जानन् सचेतनः स्वस्थास्तिष्ठेनिशीदेद्? वा शयेद्वाकिं पुनर्हसेत् अनित्यं तु जगन्मत्वा नात्र मे रमते मनः कथं न भवतापि कतिपयदिवसान्ता यौवन श्रीर्मायामयीत्यधिगम्यते।''[6]

प्रथम प्रवेशक में प्रतिहार प्रतिहारी को संसार की असारता तथा 84 लाख योनियों में भटकने से बचने के लिए बुद्ध की शरण की बात कहता है।[7]

इन्द्रिय सुख, कामवासनाओं से विरक्ति -

अशोकविजयम् और नन्दविजयम् में स्पष्ट रूप से शांत रस प्रधान है। इन दोनों में इन्द्रिय सुख व कामनाओं और वासनाओं को अधम माना है और इनसे विरत रहने का उपदेश प्रायः देखा जाता है। 'नन्दगौतमीयम्' नाटक की कथावस्तु नन्द के इन्द्रिय सुख-वासनाओं का अंत और आध्यात्मिक मार्ग के उदय का उद्देश्य लेकर विकास करती हुई नजर आती है। नन्द की विश्वसुन्दरी की सगाई होने को है[8] लेकिन भोग-विलास से विरत करने के लिए सिद्धार्थ नन्द को तपस्या का मार्ग बताते है तथा कामवासना से विरत होने के लिए कुछ अन्य ही स्वर्ग की अप्सरा-मिलन युक्ति से तपस्या का मार्ग को स्वीकार कराते है[9] और बाद में नन्द इनको स्वर्ग की अप्सराओं की आसक्ति से मोह को भंग करते हैं।[10] इस प्रकार नन्द कामविकार से मुक्त हो जाते है। प्रवेशक में प्रतिहारी और प्रतिहार में वासनाजन्य

प्रेम है किन्तु बौद्ध के प्रभाव से प्रतिहार भी वासना छोड़ धर्माचरण करने वाला भिक्षु बनने को उद्यत है। इस नाटक के अंत में नन्द को बौद्ध कामुकता के जंजाल से निकाल लेते हैं। वे कहते है कि कामभोगों की उत्पत्ति अविवेक से होती है और शरीर कामक्रीड़ा का केन्द्र है- अविवेकाज्जायते कामभोगाः। शरीरमेव कामक्रीड़ा केन्द्रम्।[11] इस प्रकार वे नन्द को कामभोगों से मुक्त करते हैं। इससे नन्द का चित्त शुद्ध, वासनाशून्य और सात्विक हो जाता है।

'अशोकविजयम्' में भी अशोक अपने युद्ध से सभी को जीतने की कामनाओं को समाप्त कर तप से धर्म का मार्ग प्रशस्त व पालन करते है यह भी कामनाओं का अन्त करने का अच्छा उदाहरण है।[12] इस प्रकार हम कह सकते है कि वासनाओं का अन्त करने के प्रसंग इन नाटकों में समाहित है।

ब्रह्म-वर्णन, निर्वाण, मानव कल्याण के विचार -

आचार्य रामजी उपाध्याय ने अपने नाटकों में ब्रह्म-विचार, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की भावना, निर्वाण या मोक्ष, मानव कल्याण की भावना आदि विषयों का समावेश किया है। 'नन्दगौतमीयम्' नाटक तो सम्पूर्ण ही मोक्ष, निर्वाण का उद्देश्य लेकर अग्रसर होता है। इसके तीसरे अंक में नन्द को स्वर्ग में अप्सराओं के पास ले जाया जाता है किन्तु गौतम बुद्ध ब्रह्म- विहार करने के लिए चले जाते है।[13] यह ब्रह्म-विहार केवल ध्यान-साधना के माध्यम से किया जा सकता है। इस प्रकार इस घटना में यह इंगित होता है कि अप्सराओं के सुख से भी बढ़कर ब्रह्म-विहार है अर्थात् ब्रह्म का चिन्तन मनन और प्राप्ति सभी सुखों को देने वाली होती है। इसी के चतुर्थ अंक में नन्द का अप्सराओं से मोहभंग होना तथा निर्वाण की तरफ उन्मुख होना भी निर्वाण पद की उत्कर्षता की वृद्धि करता है। मानव कल्याण का विचार तो इस नाटक का मुख्य उद्देश्य है। प्रथम अंक से षष्ठम् अंक तक बुद्ध केवल लोगों के निर्वाण के लिए उद्यत हैं और अन्त में ब्रह्मा के द्वारा मानव कल्याण के उद्देश्य से गौतम बुद्ध को चुना जाना[14] तथा उनके द्वारा यह कार्य नन्द को सौपने की सलाह देना[15], यह सब घटना क्रम में मुख्य रूप से मानव मात्र के कल्याण की भावना है।

अशोक विजयम् नाटक में मुनि सर्वज्ञ अशोक को वह रास्ता बताते है जिससे ईशित्व व वशित्व प्राप्त होता है।[16] ईशित्व के द्वारा परमेश्वरीय शक्ति प्राप्त होती है और वशित्व शत्रुओं को भी वश में कर सकता है। इस साध्य के लिए अशोक हिमालय में तप करने के लिए उद्यत होते हैं। तपस्या पूर्ण होने पर सभी

देवता वरदान देते हैं। सर्वप्रथम ब्रह्मा 'परमार्थ' को देने की बात कहते हैं और यह 'परमार्थ' ही विश्व में सकल चराचर ब्रह्म का प्रतिरूप है।[17] ब्रह्मा उपदेश देते हैं कि वही ब्रह्म तुम ही हो और संसार में ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। तपस्या के बाद पांचवे अंक में पाटलिपुत्र के सभागार में अशोक आत्मचिंतन करता है कि सारी प्रजा मेरे लिए परमेश्वर है- मयाराध्या प्रजा एव परमेश्वरः।[18] यह भावना वेदांत के महावाक्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के समान भावना को प्रदर्शित करती है जो ब्रह्म की व्यापकता पर केन्द्रित है। मानव कल्याण की बात तो इस नाटक का परमध्येय है। अशोक तप के बाद उनके जीवन का केवल एक ही उद्देश्य है जीव-कल्याण। वे जीवन के अन्त तक इसी भावना के साथ प्रजा का पालन करते हैं। 'मालवीयकीर्तिमञ्जरी' नाटक में मालवीय जी का भी सम्पूर्ण व्यक्तित्व नर सेवा नारायण सेवा के आधार बिन्दु पर स्थित है। मालवीय जी सच्ची ईश्वर सेवा, दुःखी जीवों की सहायता में मानते हैं।[19] जनकल्याण की भावना बड़ी ही प्रबल दिखाई देती है। सम्पूर्ण नाटक में वे केवल लोगों की सहायता करते हुए नजर आते हैं। इस तरह हम कह सकते हैं कि इस नाटक में मानव कल्याण ही प्रमुख ध्येय है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आचार्य रामजी उपाध्याय समन्वयादी दार्शनिक सिद्धांतो से सम्बन्ध है। वे अपने नाटकों में विभिन्न नवीन कथावस्तुओं को प्रस्तुत कर सामाजिक विचारधाराओं में समन्वय स्थापित करते हुए दृष्टिगत होते हैं। 'कैकेयीविजयम्' से लेकर 'एकलव्यविजयम्' तक उपाध्याय जी उन पात्रों को अपने नाटक का नायक व नायिका बनाते हैं जो प्राचीन साहित्य में, व्यक्तित्व में कुछ कमियों के रहते प्रासंगिक नहीं हो पाए या सामाजिक आदर्श बनाने में समर्थ नहीं थे। उन्होंने कथावस्तु में कुछ परिवर्तन कर उनका चरित्र एक आदर्श के साथ पुनःस्थापित किया है। उनके नाटकों से पता चलता है कि कवि समाज तथा संस्कृति में सभी की एक आदर्श स्थिति देखना चाहते हैं। राम और शम्बूक, कैकयी और दशरथ, सीता और राम, गौतम और नन्द आदि नायक-नायिकाओं के माध्यम से अपनी समाजिक समन्वयता की भावना को उद्घाटित करते है। वह किसी पात्र को निकृष्ट या समाजेतर नहीं देखना पसन्द करते हैं और यही भावना कवि का समन्वयवादी दार्शनिक दृष्टिकोण को उजागर करता है।

आचार्य रामजी उपाध्याय अपने नाटकों में दार्शनिक तत्वों का भी समावेश करते हैं। उनके दो नाटक 'नन्दगौतमीयम्' और 'अशोकविजयम्' तो

पूर्णतः दार्शनिक और आध्यात्मिक विचारों पर केन्द्रित है। संसार की असारता, आत्मचिंतन, कामवासनाओं और इन्द्रियसुख का त्याग, ब्रह्मवर्णन, मानव कल्याण का तप मार्ग आदि विषयों का नाटकों में सांगोपांग वर्णन प्राप्त होता है जो इनके दार्शनिक महत्व को प्रकट करता है। हिन्दू और बौद्धदर्शन को भिन्न न मानकर दोनों का समन्वय भारतीय दर्शन की पृष्ठभूमि में नाटकों की कथावस्तु स्पष्ट होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आचार्य रामजी उपाध्याय के नाटकों में दार्शनिक चिन्तन की समग्रता है जो नवीन चिन्तन को जन्म देती है।

सन्दर्भ -

1. *नाट्यशास्त्र- 1-107,114,115,119,*
2. *वही- 1-113*
3. *शम्बूकाभिषेकम्-पंचम अंक*
4. *नन्दगौतमीयम्-षष्ठम् अंक*
5. *वही- प्रथम अंक*
6. *वही- प्रथम अंक*
7. *वही- प्रवेशक पृ. 8*
8. *वही- द्वितीय अंक, पृ.14,16*
9. *वही- तृतीय अंक, पृ. 20*
10. *वही- चतुर्थ अंक, पृ. 33*
11. *वही-पंचम अंक, पृ. 78*
12. *अशोकविजयम्- द्वितीय अंक पृ. 10, तृतीय अंक पृ. 17, पंचम अंक पृ. 28*
13. *नन्दगौतमीयम्- तृतीय अंक पृ. 22*
14. *वही-षष्ठम् अंक, पृ. 49*
15. *वही- षष्ठम् अंक, पृ. 50*
16. *अशोकविजयम्- तृतीय अंक पृ. 15*
17. *वही- चतुर्थ अंक पृ. 20*
18. *वही- पंचम अंक पृ. 31*
19. *मदनमोहनमालवीयकीर्तिमञ्जरी नाटकम् - प्रथम अंक, पृ. 5*

27

रामजी उपाध्याय के नाटकों में गंगा माहात्म्य

निकिता यादव

इस भूलोक में नदियाँ मात्र जलधाराएं नहीं हैं, अपितु भारतीय संस्कृति और सभ्यता में इन्हें दैवीय स्वरूप के रूप में स्वीकार किया है। वे सनातन हिन्दू धर्म में पूजनीय हैं। इनसे लोगों की आस्था और श्रद्धा की भावना जुड़ी हुई है। इन नदियों में महानदी कही जाने वाली गंगा का इस पृथ्वी पर अपना विशिष्ट महत्त्व है। गंगा का इतिहास पौराणिक तथा प्राचीनतम है। मोक्ष प्रदान करने वाली मोक्षदायनी पापों को नाश करने वाली पापनाशनी नदी गंगा उत्तर भारत की अर्थव्यवस्था की मेरूदण्ड कही जाती है। वह भारत की सबसे महत्त्वपूर्ण नदियों में से एक है। यह उत्तर भारत के मैदानों की विशाल नदी है। प्राकृतिक पर्यावरण की दृष्टि से नदियों का विशेष महत्त्व होता है। ये भूलोक के प्राकृतिक जलस्रोत हैं, जिनके तटों पर भारत के कई नगर बसे हुये हैं।

प्रकृति के मनोहर सौंदर्य का सभी साहित्य सर्जकों ने गुणगान किया है। रामजी उपाध्याय का भी गंगा नदी के प्रति विशेष आत्मीय लगाव था। क्योंकि उनका जन्म गंगा के तटवर्ती प्रदेश में हुआ, उन्होंने गंगा नदी के रूप, सौन्दर्य का बड़ा ही मनोहारी वर्णन अपने साहित्य में किया। संस्कृत साहित्य के वाल्मीकीय, वेदव्यास, भास, कालिदास, वाणभट्ट, दण्डी, पण्डित राजजगन्नाथ इत्यादि कवियों के द्वारा गंगा की प्रतिष्ठा एवं महात्म्य का वर्णन अनेक रूपों में किया गया है। यह वर्णन आध्यात्म के साथ-साथ साहित्य की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। जहाँ गंगा के प्राकृतिक स्वरूप का चित्रण किया गया है। इसी रूप में आधुनिक नाटककार रामजी उपाध्याय अपने नाटक अशोक विजयम् और सीताभ्युदयम् में विशेष रूप से गंगा के महात्म्य को प्रस्तुत किये हैं।

'अशोक विजयम्' नाटक के तृतीय अंक का यह परिदृश्य है। स्थान अशोक की राजधानी पाटलिपुत्र का है यहाँ के राजप्रसाद प्रांगण में सम्राट अशोक मन ही मन चिन्तित हैं और सोचते हैं, यह तो असिधारा-व्रत ही है कि निःशस्त्र होकर साम्राज्य-शासन का भार वहन करूँ और विश्वविजय का स्वप्न देखूँ। ऐसी किंकर्त्तव्य-मूढता की स्थिति में हमारे पूर्वज पथ-प्रदर्शन के लिए महामना महर्षि सर्वज्ञ के पास पहुँचते थे। क्यों न मैं भी अपनी समस्या का समाधान करने के लिए उनसे मिलूँ? आज का दिन विशेष सुहावना है। राजधानी के पिंजर से बाहर निकलकर वन विहार करते हुये रथ से गंङ्गातटीय यात्रा में वासन्तिक सौरभ से वासित चित्त प्रफुल्ल होगा और वह रथ पर सवार होकर गंगातट की ओर प्रस्थान कर देते है। इस प्रकार यहाँ गंगा महात्म्य का विशेष रूप से परिलक्षित होता है। अशोक स्वयं गंगा के सम्बन्ध में कहते हैं -

पावनिगंगे शुभ्रतरंगे द्वारे तव याचक आयातः।
सर्वलोकनिष्ठायतनः स्यां विश्वधुरंधर सेवाचारः।।1।।
परम पावनपुण्यकलिले ऋषिपवित्रिपुण्यजलदे।
तरण-तारण-चरणशीले भक्तजनपरितोषवरदे।।2।।
चराचराश्रयण तटं तव लताप्रतानैः सफलं विभाति।
खगामृगा भक्तजनाः प्रसन्नाः सम्प्रीतीभावं परिदर्शयन्ति।।3।।
सकलकलुषभङ्गे स्वर्गसोपान गंगे तरलतरतरंगे देवि गंगे प्रसीद।
शरणगतजनानां पोषिके पुण्यकीर्ते सुकृता-सलिलपूते देवि गंगे प्रसीद।
इति पतितशरव्ये त्वां प्रपकोऽस्मि मातः ललिततरतरंगे देवि गंगे प्रसीद पवत्।।4।।[1]

अर्थात् परम पवित्र गंगा की शुभ्रतरंग के सामने सदैव याचक लोग खड़े रहते हैं। सम्पूर्ण जगत् के लोग गंगा से भिक्षा मांगा करते हैं। परम पवित्र गंगा का जल अत्यन्त पुण्यशील है। गंगा दर्शन मात्र से ही सबका कल्याण और मोक्ष प्राप्त होता है तथा सन्तोष और आनन्द से युक्त होते हैं। इस गंगा के तट पर चर और अचर सभी प्रेम भाव प्रकट करते हैं। कुछ लोग अपने गान से, कुछ नृत्य से तथा कुछ तान मिलाकर गंगा के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करते हैं। यह गंगा सभी दुर्गुणों को समाप्त करने वाली हैं। यह स्वर्ग के सोपान समान है। यह सभी दीन, आर्त को परित्राण देने वाली है। ऐसी सम्पूर्ण ऐश्वर्यशालिनि तुम्हें नमस्कार है। हे पतित पाविनी शरणभूत माता तुम प्रसन्न हो।

बहुत ही सुंदर और सटीक शब्दयोजना के साथ रामजी उपाध्याय ने गंगा जी के प्रति अपने अनुराग करते प्रकट हुए, उनकी स्तुति की है, जो अद्वितीय है। लेखक ने अपने साहित्य में गंगा जी के प्रति अपनी आस्था प्रकट कर उनके प्राकृतिक सौन्दर्य का भाव-विभोर हो वर्णन विस्तार से किया है। वाल्मीकीय रामायण में भी गंगा की पूजा स्तुति का वर्णन मिलता है-

ततस्त्वां देवी सुभगे क्षेमेण पुनरागता।
यक्ष्ये प्रमुदिता गंगे सर्वकामसमृद्धिनी।।
त्वं हि त्रिपथगं देवी ब्रह्मलोकं समक्षसे।
भार्या चोदधिराजस्य लोकेऽस्मिन् सम्प्रदृष्यसे।।[2]

अर्थात् हे सौभाग्यशालिनी गंगे! उस समय वन से कुशलतापूर्वक लौटने पर सम्पूर्ण मनोरथों से सम्पन्न हुई, मैं बड़ी प्रसन्नता से आपकी पूजा करूंगी। स्वर्ग भूत और पाताल तीनों भागों में विचरने वाली देवी! तुम यहाँ से ब्रह्मलोक तक फैली हुई हो और इस लोक में समुद्रराज की पत्नी के रूप में दिखाई देती है।

इस तरह गंगा महात्म्य का दर्शन वाल्मीकि रामायण में भी होता है। भारत में नदियों का अपना गौरव है। जिसके सम्बन्ध में डॉ. संजय कुमार ने ठीक ही लिखा है - ''ये नदियाँ केवल जल नहीं हैं बल्कि हमारे तीर्थ हैं। इनका जल अमृत स्वरूप है। इनमें दैवी वास है। ये हमारी पूजनीय है।''[3] इसी प्रकार अनेक लोगों के द्वारा नदियों के देवत्त्व स्वरूप का वर्णन किया गया है। रामजी उपाध्याय अपने नाटक सीताभ्युदयम् में भी गंगा के विषय में कहते हैं।

गंगा जी निर्मल पावन धारा सच्चियों से भारत को पवित्र करती आ रही है। यह मान्यता है कि गंगा जी में स्नान करने से मनुष्यों के सारे पापों का नाश हो जाता है। मृत्यु उपरांत लोग गंगा जी में अपनी राख विसर्जित करना मोक्ष प्राप्ति के लिये आवश्यक समझते हैं। यहाँ तक कि कुछ लोग गंगा जी के किनारे ही प्राण विसर्जन या अंतिम संस्कार की इच्छा भी रखते हैं। इसके घाटों पर शिव पूजा अर्चना करते है और ध्यान लगाते है। गंगा जल को पवित्र समझा जाता है।

'सीताभ्युदयम्' नाटक में भी देवी गंगा जी का वर्णन प्राप्त होता है उनके माहात्म्य को स्पष्ट किया गया है। यह दृश्य द्वितीय अंक का है जब माता सीता और दशरथ प्रियराम महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में पहुँचते हैं और तीनों लोगों का आपस में संवाद होता है, तब महर्षि वशिष्ठ कहते हैं —

गङ्गातमसयोः सङ्गमप्रदेशे काशी-प्रयागमध्ये महामुनेर्वाल्मीकेराश्रमोऽयोध्यातः सुदूरमेकान्ते। स महर्षि ब्रह्मादिमहादेवानां लब्धप्रसादः सीतापितुः सुहृत स्वीयतपः प्रभावेण त्रिलोकी सनाथीकर्टं समर्थः। तस्याश्रमसन्निवेशे सीता ऋषिपत्नीनां सङ्गमे यथापूर्व स्वीयसर्वोदय-वृत्तिं साधयतु।[4]

अर्थात् गंगा और तमसा के संगम पर काशी और प्रयाग के बीच मुनिवर वाल्मीकि का आश्रम है अध्योध्या से दूर एकान्त में। उन महर्षि को ब्रह्मादि महादेवों की कृपा प्राप्त है। उनका सीता के पिता जनक से सौहार्द्र भी है वे अपने आश्रम में सीता ऋषि-पत्नियों की संगति में रहती हुई पूर्ववत् अपनी सर्वोदय में लगी रहेंगी।

सीता- रम्याः संकल्पा मां महामुनिशरणे गङ्गाधिष्ठत प्रदेशे त्वप्यन्ति। इदानी तु नित्यं पुष्पहारादिना पूजापरायणा मातुर्गङ्गया उत्सङ्गे निषीदन्तीमात्मानं कल्पयामि।[5] अर्थात् माता सीता उल्लासपूर्वक महर्षि वशिष्ठ से कहती है- मेरे मन को भाने वाले संकल्प मुझे महामुनि वाल्मीकि के आश्रम की और खींच रहे हैं, जहाँ गंगा मैया का प्रतिष्ठित प्रदेश है। अब तो मैं समझ रही हूँ कि गंगा माता की गोद में बैठी हुई पुष्प हारादि के द्वारा उनकी पूजा कर रही हूँ। यह दृश्य तृतीय अंक में वर्णित है स्थान गंगा के समीप तमसा तट का है जहाँ प्रभु राम गंगा की ओर प्रणामपूर्वक देखते हुये कहते हैं-

आदावादिपितामहस्य नियमण्यापार-पौत्र जलम्
पश्चात् पन्नगशायिनो भगवतः पादोदकं पावनम्।
भूयः शम्भुजटाविभूषणमणिर्जह्नोर्महर्षेरियं
कन्या कल्मपनाशिदी भगवती भागीरथी सेव्यताम्।।[6]

भगवती भागीरथी की उपासना करें, जो आरम्भ में आदिपितामह के स्वाध्यायोपयोगी कमण्डलु के जल रूप में प्रगट हुई, फिर विष्णु भगवान् के चरण प्रक्षालन से पावन बनी और शम्भु के जटासूत में मणिमाला बनी। ये महर्षि जह्नु की कन्या जाह्न्वी हैं, जो सभी पापों के दुष्प्रभाव को दूर करने में समर्थ हैं। (3/1)

तमसा नदी को हाथ जोड़कर प्रणाम करती हुई माता सीता कहती हैं-

सीता -

तमसा योगितां प्रेष्ठा पशुपक्षिगणान्विता।
गङ्गाप्रवाहमापन्ना सख्भावेन संगता।।
गङ्गतमसर्योमध्ये वाल्मीकि संभवो मुनिः।
स्वयं ब्रह्ममयो जातो ध्यानेन परमेष्ठिनः।।[7]

तमसा योगियों को बहुत प्रिय हैं। उनके तट पर पशु-पक्षियों का झुण्ड बसेरा लेता है। गंगा की धारा से तमसा सखी की भांति मिलती है। गंगा और तमसा के मध्यवर्ती प्रदेश में वाल्मीकि मुनि ब्रह्म का ध्यान करते हुये स्वयं ब्रह्ममय बन गये हैं। (3/2/31)

यह दृश्य चतुर्थ अंक का है, स्थान वाल्मीकि आश्रम है, जहाँ माता सीता सुभद्रा से कहती हैं - गंगा मैया की उपासना का समय हो गया। हम लोग गंगातीर्थ पर चलते है मेरी गूँथी हुई मालाओं को ले आयो।

सीता -

शैलेन्द्रादवतारिणी, निजजले मज्जज्जनोत्तारिणी
पारावार-विहारिणी, भवभय-श्रेणी-समुत्सारिणी।
विष्णोः पादविचारिणी हरशिरोजूटच्छटाधारिणी
काशीप्रान्तविहारिणी विजयते गंगा मनोहारिणी।।[8]

हिमालय से अवतरण करने वाली, अपने जल में स्नान करने वाले को तारने वाली, महासागर से अठखेलियां करने वाली और पुनर्जन्मकारक पापों से मुक्त कर देने वाली ये गंगा हैं, जो अपनी श्वेताभा से शेषनाग के अंगों से स्पर्धा करती है। ये शिव के जटाजूट को समलंकृत करती है। काशीखण्ड में विहार करने वाली मनमोहनी गंगा शाश्वत विजयिनी हैं। (4/1)

भगवति तव तीरे नीरमात्राशनाहं
विगतविषयतृष्णा राममाराध्यामि।
सकलकलुषभङ्गे स्वर्गसोपानरङ्गे,
तरलतरतरङ्गे देवि गंगे प्रसीद।।[9]

हे भगवती गंगे, आपके तीर पर जलमात्र का सेवन करती हुई मैं विषयतृष्णा से विमुक्त होकर राम की आराधना करती रही हूँ। आप सभी दुष्प्रवृत्तियों का विनाश कर देती हैं, स्वर्ग की कामना करने वालों के लिये सोपान रूप है, आपकी चंचल तरंगे तृप्तिदायक हैं। हे देवि, मेरे ऊपर कृपा करें। (4/2)

देवि तव प्रसादेन मे मनोरथाः पूर्णाः।

हे देवि! आपकी कृपा से मेरे मनोरथ पूर्ण हुए।[10]

वहाँ गन्धर्व गायन के माध्यम से भारत माता की वन्दना करते हुये गंगा माहात्म्य का उल्लेख किया गया है -

महिममयि मंगलरूपे कनकरत्नमालिनि
विन्ध्यशैलस्तव मेखला त्वं हि श्यामपर्णकुन्तलता
वनप्रान्तरनीलाउचला त्वं हिमगिरिकिरीटिनि।
चुम्वति तव चरणपद्मं फेनिलपारावारः
लसति हृदि यमुना-गंगा-नर्मदानीरहारः।
देशे देशे निसर्गस्य लावण्यं नेत्रलोभनम्
जन्मभूमिसमं देशं न पश्यामि मनोहरम्।।[11]

महिमशालिनि, मंगलरूपा, स्वर्णरत्नों की माला धारण करने वाली माँ, विन्ध्य पर्वत तुम्हारी मेखला है, तमालवृक्ष तुम्हारे केशपाश हैं, वनप्रदेश तुम्हारे नील अंचल हैं, हिमालय तुम्हारा मुकुट है। फेनिल महासागर तुम्हारे पादारविन्द का चुम्बन करता है। तुम्हारे हृदय पर गंगा-यमुना-नर्मदा की धारा हार बनकर विराजती है। प्रत्येक प्रान्त में प्रकृति का लावण्य आँखों को मोह लेता है। मुझे तो मातृभूमि के समान रमणीय लोक दिखाई नहीं पड़ता।

इस प्रकार रामजी उपाध्याय ने 'सीताभ्युदयम्' नाटक में माँ गंगा जी के माहात्म्य को बहुत ही सुंदर तथा रोचक वर्णन किया है।

सन्दर्भ -

1. *अशोक विजयम्, अंक 3/1-4*
2. *वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्ड, 52/85-86*
3. *कुमार डॉ. संजय, संस्कृत काव्यों में पर्यावरण का देव स्वरूप, पृ.29*
4. *सीताभ्युदयम्, अंक 2*
5. *वही अङ्क 2*
6. *वही अङ्क 3/1*
7. *वही, 3/3, 3/9*
8. *वही अंक 4*
9. *वही अंक 2*
10. *वही, अंक-4*
11. *वही, अंक-6*

28

रामजी उपाध्याय के नाटकों में रूढ़ियों का निराकरण

प्रभाशंकर शुक्ल

युगद्रष्टा साहित्यकार रामजी उपाध्याय ने आधुनिक भारतीय समाज में व्याप्त विसंगतियों, रूढ़ियों एवं समस्याओं के समाधानार्थ सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव किया। उन्होंने अपनी नाट्यकृतियों में समाजोत्थान के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता, नैतिकता, पर्यावरण संरक्षण आदि को आवश्यक स्वीकार किया है। उन्होंने नारी उपेक्षा, वर्णगत भेदभाव, बलिप्रथा तथा अशिक्षा आदि सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन की अनेक समस्याओं एवं रूढ़ियों का निराकरण करनें का प्रयास किया है।

रामजी उपाध्याय का नारियों के प्रति अत्यंत उदार दृष्टिकोण उनके नाटकों में परिलक्षित होता है। नारी जागृति के लिए तत्पर डॉ. उपाध्याय अपनी नाट्यकृतियों में भारतीय समाज एवं साहित्य में उपेक्षित नारी पात्रों को सामाजिक प्रतिष्ठा एवं न्याय दिलाने का प्रयास किया है। कैकेयीविजयम् नाटक में उन्होंने वाल्मीकि रामायण कथा आधारित कथावस्तु में परिष्कार कर जनसामान्य में कैकेयीविषयक प्राचीन धारणा के प्रति नवीन चिन्तन दृष्टि प्रदान करने का सार्थक प्रयास किया है। कैकेयी के चरित्र को निष्कलुष कर नाटककार ने उसे परम मङ्गलकारिणी, पतिव्रता स्त्रीरत्न के रूप में चित्रित किया है।

'त्रैलोक्यवन्द्यावीराङ्गना'[3] के रूप में प्रतिष्ठित कैकेयी राष्ट्र रक्षा के लिए अनेक कार्यों को सम्पादित करती है। राजनीति एवं कूटनीति में प्रवीण वह कुशल प्रशासिका के रूप में अयोध्या के राजकार्य में संलग्न रहती है। नाटक में यह विवेचन है कि राम ने महाबलशाली रावण का वध कर जो पृथ्वी को राक्षस रहित किया यह सब कैकयी के सत्प्रयत्न से ही हुआ। वह लोकमङ्गलकारिणी, पतिपरायणा भारतीय नारी है। ब्रह्मा के आदेशानुसार कैकेयी लोककल्याण के लिए

अनेक प्रकार के कष्टों एवं अपयशों को सहन करती हुई कर्तव्यपथ पर अग्रसर रहती है। ब्रह्मा स्वयं उसके गुणों की प्रशंसा करते है - 'सत्यं वदसि भो देवि, किन्तु प्रकरणेऽस्मिन् नैतन्मम नैष्ठुर्यमपितु सूर्यवंशायानुग्रह एव प्रतिफलति। ये भवन्ति मे प्रसादपात्रं तानेव लोकहितलतिकापशोनानुबध्नामि। ये भवन्ति यशः कामास्ते कार्यं किं करिष्यन्ति। अतः परं त्वदीयं राशीकृतमपयशो-पहरामि।'[4]

'सीताभ्युदयम्' नाटक में डा. उपाध्याय ने सीता विषयक पूर्व की कविकृत त्रुटियों को वक्रोक्ति के द्वारा धवलित करने का प्रयास किया है। राम ने सीता का परित्याग नहीं किया था बल्कि गुरु वशिष्ठ के आदेशानुसार स्वयं सीता को लेकर वाल्मीकि के आश्रम में गये थे। अभुक्त मूल में पुत्र-प्रसव जन्य महाविपत्तियों के निदान हेतु 16 वर्ष तक सीता का राजप्रासाद से दूर रहना आवश्यक था। नाटककार द्वारा वाल्मीकि आश्रम में निवास करती हुई सीता का आदर्श चरित्र प्रस्तुत किया गया है। सीता एक सुशिक्षित, कर्मठ एवं जागरूक भारतीय नारी का प्रतिनिधित्व करती हैं। गुरु वशिष्ठ के द्वारा वाल्मीकि आश्रम में अपने निवास की बात को सुनकर सीता दुःखी नहीं होती हैं बल्कि प्रसन्नता पूर्वक कहती हैं - 'रम्याः संकल्पा मां महामुनिशरणे गङ्गाधिष्ठितप्रदेशे त्वरयन्ति। इदानीं तु नित्यं पुष्पहारादिना पूजापरायणा मातुर्गङ्गाया उत्सङ्गे निषीदन्तीमात्मानं कल्पयामि।'[5]

सीता वाल्मीकि आश्रम में स्वाभिमान के साथ आश्रमीय जीवन का निर्वाह करते हुए अपने बच्चों का भरण पोषण करती है। आश्रम के पुष्प, लता, पशु, पक्षियों के प्रति भी उनका अनन्य स्नेह है। 'अनुपमे, किमाश्रमकुमारिकाभिः पुष्प-लता-क्षुपाणां केदारिका अभिषिक्ताः? किं वा पशु-पक्षिणां प्रपाः पूरिताः? उताहो पिपीलिकाभ्योऽन्नकणा वितीर्णाः?'[6]

सीता एक सुशिक्षिता एवं सबला नारी हैं। वह रामायण के लेखन में महर्षिवाल्मीकि की सहायता करती हैं। सीता भूमि में नही प्रविष्ट हुई, अपितु अपनी माता पृथ्वी के साथ पाताललोक में जाकर वहां विश्वविद्यापीठ की स्थापना कर रामकथा के माध्यम से भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार में संलग्न रहती हैं। राम से वियुक्ता सीता न केवल मानवलोक का अपितु पातालवासियों का भी कल्याण करती हैं। सीता की महिमा के विषय में ब्रह्मा कहते हैं - 'सर्ववेदमयी, सर्वदेवमयी, सर्वलोकमयी, सर्वकीर्तिमयी, सर्वधर्ममयी, सर्वाधार, कार्यकारणमयी, महालक्ष्मी, देवर्षि-मनुष्य-गन्धर्वरूपा, असुरराक्षस-भूत-प्रेत-पिशाच-भूतादिभूतशरीररूपा च विज्ञायते।[7]

इस प्रकार डॉ. उपाध्याय ने अपनी नाट्यकृतियों में नारियों को प्रतिष्ठित एवं गौरवशाली पद प्रदान किया है। इन स्त्री पात्रों का सौन्दर्य संघर्ष की आग में तप कर उज्ज्वल हुआ है। इनका चरित्र हर युग की नारी को उसका मार्ग प्रशस्त करता रहेगा। नारी स्वातन्त्र्य के इस युग में इन पात्रों की महत्ता और अधिक बढ़ जाती है। वे अपने ऊपर किसी प्रकार का अत्याचार एवं अन्याय सहन नहीं कर सकती। समाज में नारी और पुरुष एक दूसरे के पूरक तत्व हैं। नारी जीवन भी पुरुष जीवन के समान ही बहुमूल्य है। सामाजिक उन्नयन के लिए नारीजागृति अत्यावश्यक है।

डॉ. उपाध्याय वैदिककाल में प्रचलित समता मूलक समाज के समर्थक थे। उन्होंने अपनी कृतियों में भेदभाव रहित समतामूलक समाज की संकल्पना की है। उन्होंने शम्बूकाभिषेक नाटक में रामकथा पर आधारित ग्रन्थों रघुवंशम् और उत्तररामचरितम् आदि से भिन्न अपना मत प्रस्तुत किया है। वह रामकथा के इस अंश से लेशमात्र भी सहमत नहीं हैं कि 'शूद्रः तपोधिकारी नास्ति'।[8] उनका अभिमत है कि शूद्र का तप करना अधर्म नहीं है। राम के पहले और बाद में अनेक शूद्र उच्च कोटि के ऋषि-मुनि और महातपस्वी हुए हैं। अत्र एतत् कथनं समुपयुक्तमस्ति - 'वैदिकसाहित्ये शूद्राणां तपोनिषेधः कुत्रचिदपि नास्ति 'रामायणे शम्बूकवधकथा कलङ्कतुल्यास्ति। अस्यां निर्मल कथायां यदि प्रमादेन कोऽपि क्षेपकः कलंको वा आगतः तर्हि तस्य निदानमावश्यकम्।[9]

रामजी उपाध्याय वाल्मीकि रामायण में उल्लिखित शम्बूक वध की घटना को क्षेपक मात्र स्वीकार करते हैं। संस्कृत कवियों की परम्परागत अवधारणा को परिष्कृत कर डॉ. उपाध्याय ने शम्बूकाभिषेक नाटक में राम के द्वारा ही शम्बूक का राज्याभिषेक कराकर उनके उदात्त चरित्र को प्रदर्शित किया है। जो नाटककार की मौलिक लेखन प्रतिभा का परिचायक है। राम शबरों के प्रदेश में अगस्त्य के प्रशंसनीय आदर्शों को प्रतिस्थापित करना चाहते हैं। राजोचित वस्त्रालंकार से प्रसाधित शम्बूक का राम अपने हाथों से अभिषेक कर गले लगाते हैं। तदनन्तर वे शम्बूक और प्रजा को रामराज्य के आदर्श जीवन-दर्शन के प्रति प्रोत्साहित करते हुए कहते हैं - 'ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षतीति। तव मनः साम्ये प्रतितिष्ठतु। त्वं प्रजानां हृदये तथैव प्रतितिष्ठ यथाहं तव हृदये वसामि। राजा च प्रजशच सर्वे समनुव्रता आचरन्तु। त्वयि प्रजाः सुदृढमनुरक्ताः स्युः।'[10]

'शम्बूकाभिषेकम्' नाटक में अपने पिता शबरराज हिरण्यकेश के द्वारा ही रज्जुबन्धित राजकुमार शम्बूक को राम बन्धनमुक्त करते हैं। शम्बूक के कहने पर ही राम उसके पिता हिरण्यकेश के द्वारा बन्दी बनाये गये तथा बलि के निमित्त पुष्पमाला और परिधानों से अलङ्कृत उसके मित्र बह्मचारी वेदपा की काली मन्दिर में जाकर प्राण रक्षा करते हैं। राम पशु बलि को अनावश्यक बताते हुए हिरण्यकेश से कहते हैं- 'भो मूढ! वनलक्ष्मी भवानी पशु-देवता नास्ति। सा प्रकृति-रुपा।[11]' राम कहते है भवानी पशु बलि प्रिया नहीं है वह प्रकृति स्वरुपा हैं। प्रकृति की रक्षा करने पर वह प्रसन्न होती हैं किसी की बलि देनें से वह अप्रसन्न होती है और बलि देनें वाले को मृत्यु दण्ड देती हैं। डॉ. उपाध्याय ने इस प्रसंग के द्वारा समाज में व्याप्त बलि प्रथा को समाप्त करने की प्रेरणा दी है ।

नाट्यरचना के समय जो सामाजिक वातावरण समाज में विद्यमान होता है नाटककार उसके प्रति संवेदनात्नमक प्रक्रिया अपनी नाट्यकृतियों में व्यक्त करता है। असाधारण प्रतिभा सम्पन्न डॉ. उपाध्याय ने अपनी नाट्यकृतियों के द्वारा पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित वर्तमान भारतीय समाज में व्याप्त भोगविलासोन्मुख प्रवृत्तियों के नियन्त्रण हेतु सांसारिकविरक्ति की आदर्शजीवनशैली का चित्रण किया है। नन्दगौतमीय नाटक में गौतमबुद्ध ने आत्महित के लिए सांसारिक सुख के परित्याग को श्रेयस्कर माना है। आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेदितिव्रतिकः प्रव्रजितोऽस्मि।[12] ज्ञान प्राप्त करने के बाद गौतमबुद्ध के द्वारा स्वभ्राता नन्द के राजोचित भोगविलासमयजीवन की विरक्तिकथा को इस नाटक में नाटककार द्वारा वर्णित किया गया है। ऐन्द्रिक भोगविलास की तुच्छता से विमुख होकर लोग तप करके शाश्वत परमानन्द पद को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।'तपो नाम साध्यं भवति निरानन्दे प्रशान्तप्रदेशे। एकैव प्रशस्या तपोभूमिर्हिमालयो नाम सर्वाश्चर्यनिधानम्' ।[13]

रामजी उपाध्याय ने अपनी कृतियों के द्वारा भारतीय सांस्कृतिक अध्यात्मभाव को प्रसारित कर राष्ट्र और समाज को आदर्श जीवन जीने की शिक्षा प्रदान किया है। सांसारिकभोग मृगतृष्णा से भ्रान्त मानवों के सुखशान्ति के लिए ये ग्रन्थ अत्यन्तोपयोगी हैं।

रामजी उपाध्याय विश्वशान्ति एवं मानवतावाद के समर्थक थे। उनके साहित्य में वैचारिक दृढ़ता दिखाई देती है। जहां एक ओर वैदिक ऋषियों की चिन्तनधारा उनके व्यक्तित्व में समाविष्ट है वहीं दूसरी ओर जैन तीर्थङ्करों एवं बौद्ध

दर्शानिक सिद्धान्तों का प्रभाव भी उनकी रचनाओं में परिलक्षित होता है। उन्होंने किसी धर्म का पक्षकार होना नहीं स्वीकार किया बल्कि वे इन सबसे ऊपर उठकर उनमें एक तत्व को सिद्व करना चाहते थे। उन्होने एक विश्व धर्म या विश्व एक्य का सपना देखा था। जहां समस्त प्राणी सुखपूर्वक रहें व सबका कल्याण हो। महामारक कलिङ्गविजेता सम्राट् अशोक सुधर्मा के करुण वचनों से द्रवीभूत होकर करुणामूर्ति एवं मानवता का महान् सेवक हो गये। सः सुधर्मणः एतादृशं करुणवचनं श्रुत्वा राजलक्ष्मीं चन्द्रहासं च दूरं क्षिप्त्वा संकल्पं कृतवान्- आजीवनं निःशस्त्रमेव प्रजा आराधयिष्यामि। अपि भवान् मे याचनाममोघीकरिष्यति।[14]

रामजी उपाध्याय ने इस रुढ़िगत धारणा को परिवर्तित करने का प्रयास किया है कि विजय के लिये अस्त्र-शस्त्र एवं युद्ध ही आवश्यक नहीं है अपितु युद्ध का परित्याग कर शान्ति, अहिंसा एवं सत्य संकल्प के द्वारा भी विश्वविजय प्राप्त की जा सकती है। अस्त्र-शस्त्र एवं युद्ध को तिलाञ्जलि देकर अहिंसा तपोव्रतधारी सम्राट अशोक ने अखिल विश्व को शान्ति का सन्देश दिया।

रामजी उपाध्याय ने केवल प्राचीनाख्यानों के माध्यम से ही रूढ़ियों का निराकरण करने का प्रयास नहीं किया है, अपितु वर्तमानकालिक महामनीषियों के चारित्रिक विशिष्टगुणों, शिक्षा एवं ज्ञानविज्ञान के प्रसार से भी भारतीय नवपीठिका को सामाजिक कुप्रथाओं का विरोध कर नवयुग निर्माण हेतु प्रेरित किया है। मदनमोहन मालवीय कीर्तिमञ्जरी नाटक पं. मदनमोहन मालवीय के जीवन प्रसङ्गों की पृष्ठभूमि में विरचित है। उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना सदृश महान कार्य कर पराधीन भारतीय जनमानस को सुशिक्षित करने का कार्य किया। इसमें महामना के जीवनचरित, राजनैतिक एवं सामाजिक प्रवृत्तियों उनके व्यक्तित्व, कर्तृत्व, तपोमयसाधना, परोपकार परायणता, कर्मठता इत्यादि गुणों का सम्यग्विवेचन प्राप्त होता है। नाटककार ने मालवीय जी के विराट व्यक्तित्व एवं प्रगतिशील सिद्धान्तों से प्रेरणा लेकर भव्य भारत के निर्माण की संकल्पना की है।

किसी भी रचनाकार का व्यक्तित्व उसकी रचना के माध्यम से व्यक्त होता है। सहित्य सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है। समाज के सम्मुख आने वाली समस्याओं को सुलझाने में वह उसका मार्ग प्रशस्त करता है। डॉ. उपाध्याय ने अपनी रचनाओं के द्वारा समाज में व्याप्त कुप्रथाओं एवं रूढियो को दूर करने का अथक प्रयास किया है। भारतीय संस्कृति के प्रसिद्ध पात्रों के चरित्र चित्रण मे वर्णित विसंगतियों और न्यूनता को अपनी कृतियों के माध्यम

से दूर करने के लिए प्रयत्नशील रहे। उनकी रचनाओं में वे ही महापुरुष कथानायक हैं जो अपनें कार्यों से समग्र मानवीय चेतना और भारतीय संस्कृति को परिपुष्ट किया है। संस्कृत की प्राचीन परम्पराओं की अक्षुण्णता के साथ नवीनता का मणिकाञ्चन संयोग उनकी रचनाओं में दिखाई देता है। न प्राचीन के प्रति दुराग्रह और न नवीन के प्रति मोह। रामजी उपाध्याय प्राचीन और नवीन के मध्य जो श्रेष्ठ है उसे युक्ति आगम और तर्क के द्वारा स्वीकार करते हैं। महाकवि कालिदास का यह श्लोक डॉ. उपाध्याय के विषय में पूर्णतः उपयुक्त प्रतीत होता है -

पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरं भजन्ते मूढः परः प्रत्ययनेय बुद्धिः।।[15]

सन्दर्भ -

1. *सागरिका विशेषाङ्क 42/1-2, विक्रमसंवत् 2068, पृ. 46-51 ।*
2. *वहीं*
3. *कैकेयीविजयम् चतुर्थोऽङ्कः पृ.-20।*
4. *कैकेयीविजयम् पञ्चमोऽङ्कः पृ.-32।*
5. *सीताभ्युदयं द्वितीयोऽङ्कः पृ.-13।*
6. *सीताभ्युदयं चतुर्थोऽकः पृ.-18 ।*
7. *सीताभ्युदयं पञ्चमोऽङ्कः, पृ.-28।*
8. *शम्बूकाभिषेकं भूमिका, पृ.-1।*
9. *शम्बूकाभिषेकम् आमुखं, पृ. 20।*
10. *शम्बूकाभिषेकम्, पंचमोऽङ्कः पृ.- 33*
11. *शम्बूकाभिषेकम् चतुर्थोऽङ्कः पृ.-25*
12. *नन्दगौतमीयम् प्रथमोऽङ्कः पृ.- 7*
13. *नन्दगौतमीयम् तृतीयोऽङ्कः, पृ.-19*
14. *अशोकविजयं द्वितीयोऽङ्कः पृ.-12*
15. *मालविकाग्निमित्रम् - प्रस्तावना।*

29

रामजी उपाध्याय के नाटकों में रस

पूनम यादव

रामजी उपाध्याय द्वारा नाट्य में रस को दो रूपों में स्वीकार किया गया है अंगीरस अर्थात् प्रधान रस एवं अंगरस अर्थात् गौण रस। अंगीरस के रूप में श्रृंगार, हास्य, वीर, रौद्र, करूण, अद्भुत एवं शान्तरस तथा अन्य रसों (भयानक एवं बीभत्सरस) को गौणरस के रूप में स्वीकार किया गया है। इस सन्दर्भ में आचार्य रामजी उपाध्याय अभिनवगुप्त मतानुयायी परिलक्षित होते हैं। प्रायः आचार्यों द्वारा शान्त रस को अंगीरस के रूप में अस्वीकार किया गया है। इनका कथन है कि शान्त रस अनभिनेय है, इसका अभिनय नहीं किया जा सकता। यह चित्तवृत्तियों का अभावरूप है। शान्तरस के स्वरूप के विषय में कहा गया है कि जहाँ न सुख है, न दुःख है, न चिन्ता, न राग, न द्वेष है और न ही कोई इच्छा है। सभी भावों में शम की प्रधानता है, वह शान्तरस कहलाता है।[1] किन्तु रामजी उपाध्याय के नाटकों का दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि इनके द्वारा सीताभ्युदयम् , केकैयीविजयम्, अशोकविजयम्, नन्दगौतमीयम्, एकलव्यविजयम् आदि नाटकों में शान्तरस का अंगीरस, प्रधान रस एवं अन्य रसों का उसके अंगरूप में प्रयोग किया गया है।
शम्बूकाभिषेक नामक नाटक में रामजी उपाध्याय द्वारा वीर रस का मुख्य रस के रूप में सफल प्रयोग किया गया है तथा अन्य रसों का अमुख्य रस के रूप में ।

सीताभ्युदयम् नाटक में रसयोजना -

सीताभ्युदयम् नाटक का उपजीव्य रामायण का उत्तरकाण्ड है। मूल कथानक में यथासंभव परिवर्तन कर रामजी उपाध्याय द्वारा प्रस्तुत नाटक की रचना की गयी है। प्रस्तुत नाटक नायिकाप्रधान नाटक है और नायिका के नाम के आधार पर ही इसका नामकरण किया गया है। यहाँ नायिका के चरित्र को उदात्त रूप में

प्रस्तुत किया गया है। वह प्रत्येक अंक में शान्तचित्त, लोकहित में संलग्न दृष्टिगत होती हैं और प्रत्येक कार्य में लोकहितार्थ ही प्रवृत्त होती हैं। सम्पूर्ण नाटक में सीता ऋषिचर्या का पालन करती हुई आश्रम निवासिनी रूप में परिलक्षित होती हैं। अतएव यहाँ शान्तरस प्रधान रूप में तथा अन्य रस उसके अंग रूप में परिलक्षित होते हैं।

प्रथम अंक में ब्रह्मा द्वारा नायिका सीता के कार्यों (मानव लोक एवं पाताल लोक के कल्याण हेतु राम से सीता की वियुक्ति, वाल्मीकि की रामायण रचना में सहयोगिनी, रामचरित का प्रचार करने हेतु ऋषिव्रत का पालन करती हुई सभी लोकों के जनमानस को लोकाराधन मार्ग पर प्रशस्त करना आदि) की सूचना दी जाती है और द्वितीय अंक में नायिका सीता का नायक राम के साथ (स्थान - वशिष्ठ ऋषि का आश्रम) प्रवेश होता है। चतुर्थ अंक में सभी मनोरथ पूर्ण हो जाने पर, तृष्णाक्षय हो जाने पर सीता के हृदय में निर्वेद/शम का भाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है, जिसके फलस्वरूप कषाय वस्त्र धारण कर लेती हैं और लोकहितार्थ पातालगमन हेतु तैयार हो जाती है। नाटक के अन्तिम अंक में पाताल लोक में चली जाती हैं। इस दौरान मध्यवर्ती अंकों में सीता के हृदय में जाग्रत निर्वेद/शम नामक भाव और अधिक पुष्ट होता सा परिलक्षित होता है।

इस प्रकार प्रत्येक अंक में शान्तरस के उदाहरण दृष्टिगत होते हैं —

देवि, तव प्रसादेन मे मनोरथाः पूर्णाः ....

मे धर्मविजयिनि शक्तिं संवर्धयत्विति वरं याचे।।[2]

प्रस्तुत गद्यांश में सीता गंगा (नदी) से कह रही है कि मेरे सभी मनोरथ (रामायण की रचना, एवं पुत्रों की वेदाध्ययन अनन्तर प्रजापालन में नियुक्ति) पूर्ण हो गए हैं। अब मेरी किसी प्रकार की इच्छा नहीं रही है। अतः मैंने जो विश्व को पवित्र करने का व्रत लिया था उसके लिए महर्षि वाल्मीकि से दीक्षा ग्रहण कर काषाय पात्र धारण कर लिया है। यहां सीता आलम्बन विभाव एवं मनोरथ पूर्ण होना उद्दीपन विभाव, सीता द्वारा गंगा का आभार प्रकटन, पाताललोक गमन हेतु तैयार होना आदि अनुभाव, हर्ष, निर्वेद आदि व्यभिचारिभाव हैं। उपर्युक्त विभावादि से शम/निर्वेद स्थायिभाव शान्तरस के रूप में अभिव्यक्त होता है।

प्रस्तुत नाटक में शान्त रस के अंगरूप में अन्य रस यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। अद्‌भुत रस, जैसे - अतोऽपि विशेषः कल्पवृक्षस्य ...... वितरन् राजते।[3]

अशोकविजयम् नाटक में रसयोजना -

अशोकविजयम् नाटक का उपजीव्य मगध नरेश सम्राट अशोक द्वारा उत्कीर्ण शिलालेख रहे हैं। प्रस्तुत नाटक में अशोक के हृदय में युद्ध के परिणामस्वरूप नरसंहार को देखकर एवं सुधर्मा के विरागपूर्ण कथन से निर्वेद/शम की उत्पत्ति, प्रेम एवं शान्ति से विश्वविजय एवं धर्मविजय की इच्छा तदर्थ, राजगुरू सर्वज्ञ से आज्ञा प्राप्त कर हिमालय पर तपश्चर्या, तप के फलस्वरूप प्रेम एवं शान्ति से विश्वविजय हेतु वरदान प्राप्ति, स्वराज्य में लौटकर सेना को धर्मविजय का आदेश तथा अन्त में सम्पूर्ण विश्व में मैत्रीभाव, शान्ति, प्रेम, धर्म आदि की स्थापना आदि का उल्लेख किया गया है। अतएव प्रस्तुत नाटक में शान्तरस अंगीरूप अर्थात् प्रधान रूप में तथा अन्य रस उसके अंगरूप में परिलक्षित होते हैं। जैसे -

तृतीय अंक में सुधर्मा के वचन सुनकर अशोक के हृदय में विराग/निर्वेद/शम का भाव दृष्टिगोचर होता है - अतीतं च भवच्च भावि च चिन्तयत एव ..... तस्य संविधे गच्छेयम्।[4]

प्रस्तुत गद्यांश में अशोक द्वारा निःशस्त्र होकर शान्ति से विश्वविजय, साम्राज्य के परिपालन की इच्छा की गयी है। यहाँ अशोक आलम्बन विभाव है एवं सुधर्मा के विरागपूर्ण कथन उद्दीपन विभाव हैं। निःशस्त्र होकर विश्वविजय, साम्राज्य परिपालन की इच्छा, एवं उपर्युक्त प्रयोजनसिद्धि के प्रयोगात्मक पक्ष को जानने हेतु राजगुरू सर्वज्ञ के पास जाने का निश्चय आदि अनुभाव, तथा विषाद, ग्लानि, निर्वेद आदि व्यभिचारिभाव हैं। उपर्युक्त विभावादि से निर्वेद/शम नामक स्थायिभाव शान्तरस के रूप में अभिव्यक्त होता है।

इसी प्रकार चतुर्थ अंक में - त्यक्तयुद्धजयेऽस्तु धर्मविजय ...... बन्धुत्व संवर्धनम्।।[5]

प्रस्तुत गद्यांश में अशोक कह रहे हैं कि अब युद्धविजय को छोड़ देने पर संसार में शान्तिप्रद धर्म की विजय हो। श्रेष्ठ व्रतों को धारण करने वाली मेरी अग्रणी सेना अब सर्वत्र जाए। सम्पूर्ण संसार में स्थित तम का विनश करे और सम्पूर्ण लोकों को प्रेम से परिपूर्ण कर दे। यहाँ अशोक आलम्बन विभाव हैं, सेना द्वारा किये गए नरसंहार का दर्शन, सुधर्मा के मृत पुत्र के शरीर का दर्शन आदि उद्दीपन विभाव हैं। अशोक द्वारा युद्ध त्याग का आदेश करना, शान्तिप्रद धर्मविजय एवं सर्वत्र प्रेम व्याप्ति की इच्छा करना आदि अनुभाव हैं। निर्वेद, ग्लानि, विषाद आदि व्यभिचारिभाव हैं। उपर्युक्त विभावादि से शम/निर्वेद स्थायिभाव शान्तरस के

रूप में अभिव्यक्त हो रहा है। प्रस्तुत नाटक में शान्तरस के अंगरूप में अद्‌भुत, करूण आदि रसों का प्रयोग किया गया है। चतुर्थ अंक में ब्रह्मा-अशोक संवाद, विष्णु-अशोक संवाद, शिव-अशोक संवाद तथा देवगण-अशोक संवाद, आदि अवसरों पर अद्‌भुत रस को देखा जा सकता है।[6]

इसी प्रकार सुधर्मा-ओक संवाद में कलिङ्ग युद्धेन ..... परलोकं गन्तुकामाः[7] करुण रस को शान्तरस के अंगरूप में देखा जा सकता है।

नन्दगौतमीयम् नाटक में रसयोजना -

नन्दगौतमीयम् नाटक में महात्मा बुद्ध के जीवन चरित का वर्णन किया गया है। इसमें सिद्धार्थ (कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन के पुत्र, जो कि बोधिसत्त्व प्राप्त कर महात्मा बुद्ध बन जाते हैं) द्वारा जन्म-मरण रूप बन्धन से मुक्ति हेतु गृहत्याग, बुद्ध द्वारा लिया गया संकल्प (मानव मात्र को बन्धन से मुक्त करना) तदर्थ भिक्षाटन, उपदेश, तपश्चर्या आदि का पालन, अपने बड़े भाई नन्द को मोह-माया, काम भाव आदि से निवृत्त कर तपश्चर्या का उपदेश एवं मानव मात्र के कल्याण में संलग्न करना आदि का उल्लेख किया गया है इस प्रकार प्रस्तुत नाटक में सर्वत्र महात्मा बुद्ध का शान्तचित्त, संसार के प्रति विराग, मानवमात्र की बन्धन मुक्ति हेतु प्रयास दृष्टिगत होते हैं। अतएव इसमें शान्तरस अंगीरूप में तथा शृंगार, करूण, बीभत्स आदि रस अंगरूप में दृष्टिगोचर होते हैं। चतुर्थ अंक में आनन्द-नन्द संवाद में शान्त रस यथा - स्वर्गस्थां प्रज्ञानस्थलीं त्वाम् ...... श्रावस्तिप्रस्थानाय।[8]

यहाँ आनन्द नन्द को स्वर्ग के प्रज्ञानस्थली नामक स्थान पर पुण्यक्षीण होने पर दुदर्शाग्रस्त जनों की वास्तविकता का दर्शन कराते हैं जिसके फलस्वरूप नन्द के हृदय में काम के प्रति विराग उत्पन्न होता है और वह बुद्ध की शरण में जाने को उद्यत हो जाता है।

प्रस्तुत गद्यांश में नन्द आलम्बन विभाव है तथा स्वर्ग में पुण्यक्षीण हुए जनों, अप्सराओं आदि की वास्तविकता का दर्शन, आनन्द के वचन उद्दीपन विभाव हैं। वास्तविकता को देखकर काम से मुक्ति की इच्छा, मुक्ति हेतु संकल्प एवं तदर्थ आनन्द के कथननानुसार बुद्ध की शरण में श्रावस्ति गमन आदि अनुभाव हैं। निर्वेद, ग्लानि, विशाद, जड़ता आदि व्यभिचारिभाव हैं। उपर्युक्त विभावादि से निर्वेद/शम नामक स्थायिभाव शान्तरस के रूप में अभिव्यक्त होता है।

अत्र विहारिण्यः सन्ति रमण्योऽप्सरसो ..... विहरतुकामोऽस्मि,[9]

हा चैत्ररथ हा वापि ...... अधो अधो लम्बमाना,[10]

मासादखेचरैश्चञ्चवा ...... विद्रावयन्ति[11] आदि गद्यांशों में क्रमशः शृंगार, करूण एवं बीभत्स आदि रस शान्तरस के अंगरूप में परिलक्षित होते हैं।

कैकेयीविजयम् एवं शम्बूकाभिषेक नाटक में रसयोजना -

कैकेयीविजयम् नाटक में भृशमापतितं आवयोरूपरि नास्त्यत्र मनागपि तवापराधः ..... विपर्यासितुं कः समर्थः।[12] रामो मे मिलतात् समश्चलभतां रामं ..... सीताराममयः जगत् प्रणयतात् सर्वस्य सर्वोत्तमम्[13] आदि गद्यांश एवं पद्यांश में शान्तरस परिलक्षित होता है। अन्य रस (करुणरस, वीररस आदि) शान्त रस के अंगरूप में पदे-पदे दृष्टिगत होते हैं।

इसी प्रकार शम्बूकाभिषेकम् नाटक में वीररस प्रधानरूप में तथा अन्य रस (करुणरस, अद्भुत रस आदि) इसके अंग रूप में परिलक्षित होते हैं।

सन्दर्भ -

1. *यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न ..... ।। नाट्यशास्त्र 6/86*
2. *सीताभ्युदयम् चतुर्थ अंक पृ. 2*
3. *वही, पृ. 26*
4. *अशोकविजयम् तृतीय अंक पृ. 14*
5. *वही पंचम अंक पृ. 29*
6. *वही चतुर्थ अंक पृ. 25-27*
7. *वही पृ. 9,10*
8. *नन्दगौतमीयम् चतुर्थ अंक, पृ. 25*
9. *वही, पृ. 17*
10. *वही , पृ. 26*
11. *वही,*
12. *कैकेयीविजयम् पृ. 11*
13. *कैकेयीविजयम् पृ. 32*

30

रामजी उपाध्याय के नाटकों में नायक-नायिका

अरुण कुमार निषाद

पात्रों के बिना किसी नाट्य रचना की सृष्टि वैसे ही है जैसे प्राण के बिना शरीर। किसी भी रचना में नायक-नायिका का स्थान अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण होता है।[1] रामजी उपाध्याय द्वारा प्रणीत प्रमुख नाटकों में पात्र योजना इस प्रकार है -

सीताभ्युदयम् - यह एक नायिका प्रधान नाटक है। इसकी नायिका सीता हैं जो प्रोषितप्रिया नायिका की श्रेणी में आती हैं। इसका लक्षण है- दूरदेशान्तिरस्थे तु कार्यतः प्रोषितप्रिया।[2] सीता कहती हैं कि मैं मन वचन और कर्म से महामुनि (महर्षि वाल्मीकि) की उपासना के लिए अवसर पाने की कामना करती हूँ ।

सीता - (प्रणति-पुरस्सरम)- मनसावाचा कर्मणा महामुनेरुपासन्मभ्यर्थये-
मुनिनाथप्रसादेन वनवासेऽपि सौख्यदा।
सम्भूतिर्नितरां रम्या भविष्येऽपि चिरायताम्
जातास्मि वसुधापुत्री ऋषिपत्नी-सहायिनी।
मनो मे ललतेऽजस्रं मुनिकामार भृत्यके।[3]

राम धीरोदात्त नायक के रुप में इस नाटक में उपस्थित होते हैं। उनकी सम्पूर्ण नाट्याभिव्यक्ति धीरोदत्त नामक के रूप में दृष्टिगोचर होती है।

दशरुककार धनञ्जय ने धारोदत्त नामक के विषय में लिखा है-

"महासत्त्वोऽतिगम्भीररू क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरो निगूढोहङ्कारो धीरोदात्त दृढव्रतः।।"[4]

अर्थात् उत्कृष्ट अन्तरूकरण (सत्त्व) वाला अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, आत्मश्लाघा न करने वाला, स्थिर, अहंभाव को दबाकर रखने वाला, दृढ़व्रती नायक धीरोदात्त कहलाता है। जैसे राम और युधिष्ठिर हमारे नाट्य साहित्य में राम और युधिष्ठिर धीरोदात्त नायक के रूप में सामने आते हैं। उसी धीरोदात्त की कसौटी पर

वे सीताम्युदयम् में भी दृष्टि गोचर होते हैं। वैसे आचार्य विश्वनाथ भी धीरोदात्त नामक के विषय में ठीक ही लिखा है-

''अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः।।''[5]

इस नाटक में राम की विनम्रता के विषय में प्रो.उपाध्याय लिखते हैं कि राम अपने कुलगुरु वशिष्ठ मुनि से कहते हैं कि भगवन् अब आप ही मेरा मार्गदर्शन करें।

रामः - (ऋषिमुपगम्य साष्टाङ्ग्म्) अभिवादये महामुनिं रघुवंश-पथप्रदर्शकम्।[6]

राम अपने गुरु वशिष्ठ जी से कहते हैं कि यदि आपका आशीर्वाद मेरे साथ बना रहा तो मैं कोई भी विघ्न बाधा पार कर सकता हूँ।

रामः- भवत प्रसादेनविपत्तिमहार्णवोत्तरणेऽपि वयं न हतोत्साहाः। पुत्राशया सर्वं सहामहे सहर्षमिति संकल्प उदीरयत्यस्मान्।[7]

इस नाटक में ब्रह्मा, वशिष्ठ और महर्षि वाल्मीकि धीरप्रशान्त नायक के रुप में पाठक के सामने आए हैं। जिसका लक्षण आचार्य धनञ्जय ने इस प्रकार दिया है- ''सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः।''[8] अर्थात् सामान्य गुणों से अधिक गुण रखने वाला ब्राह्मण या क्षत्रिय धीरप्रशान्त कहलाता है। जैसे-मृच्छकटिकम् में चारुदत्त आचार्य विश्वनाथ ने इस सम्बन्ध में कहा है—

''सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरप्रशान्तः स्यात्।।''[9] ब्रह्मा वशिष्ठ से कहते हैं कि राम और सीता का जन्म ही पृथ्वी पर लोक कल्याण के लिए हुआ है।

ब्रह्मा-केवल मानव लोक....।[10] महर्षि वाल्मीकि राम और सीता से कहते हैं।

वाल्मीकिः - उदारः कल्पोऽयं.....।[11] इस नाटक के अन्य- पात्र हैं - सूत्रधार, मारिष, वरुण, नारद, दो वैखानश, अनुपमा, सुभद्रा, पृथिवी देवी।

कैकेयीविजयम् - यह नायिका प्रधान नाटक है। मुख्य पात्र कैकेयी है जो स्वधीनपतिका नायिका हैं। इसका लक्षण है। आसन्नायत्तरमणा हृष्टा स्वधीनभर्तृका।[12]

कैकेयी को अपने युद्ध कौशल पर पूरा भरोसा है तथा वह अपने पति दशरथ को प्राणों से भी अधिक प्रेम करती हैं तभी तो वह युद्ध में भी उन्हें अकेला नहीं छोड़ती। कैकेयी ने अपने पत्नी धर्म को इस नाटक में बखूबी निभाया है।

कैकेयी (सविचिकित्सं दशरथामिमुखीभूथ)- अयोध्याकशासनभारो मयि निवेश्यत ......।[13]

दशरथ धीरोदात्त नायक के रुप में इस नाटक में आए हैं ।

दशरथ इन्द्र से बता रहे हैं कि केवल मैंने द्वारा लड़े गये युद्ध से राक्षसों की पराजय नहीं हुई। इस युद्ध में कैकेयी का योगदान भी अतुलनीय है। ऐसे ही कुछ संवाद हैं नाटक में जो उन्हें धीरोदात्त नायक की कोटि में रखते हैं।

दशरथः (साभिनन्दनमिन्द्रं प्रति) दिष्ट्याजवर्धते......। [14]

इस नाटक के अन्य पात्र हैं - ब्रह्मा और वशिष्ठ, रविदत्त, चन्द्र दत्त, प्रतिहारी, वशिष्ठ ऋषि, ऋषि पत्नी, मातलि, देवासुर (इन्द्र), ब्रह्मा, वृहस्पति, प्रियंकर, श्रियंकर, शुभंकर, वेंकटेश।

मदनमोहनमालवीयकीर्तिमञ्जरी - नाटक के मुख्य पात्र मदन मोहन मालवीय हैं। इनको धीरप्रशान्तः कोटि के नायक के अन्तर्गत रख सकते हैं। आचार्य धनञ्जय धीर प्रशांत नायक के सम्बन्ध मं अपने दशरूपक में इस प्रकार लिखा है – ''सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः।''[15]

सामान्य गुणों से अधिक गुण रखने वाला ब्राह्मण या क्षत्रिय धीरप्रशान्त कहलाता है। जैसे- मृच्छकटिकम् में चारुदत्त। आचार्य विश्वनाथ ने भी साहित्य दर्पण में धीरप्रशान्त नामक के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है।

''सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरप्रशान्तः स्यात्।''[16]

इनमें सेवाभाव की भावना कूट कूटकर भरी हुई है। वे कुत्ते के पिल्ले तक का इलाज करने में नहीं हिचकिचाते हैं ।

अरे राकेश, त्वमेव बलिष्ठोऽसि। सावधानो भव। उपचारविधौ माणिको न पालयते।[17]

मालवीय जी ब्रजमोहन नामक एक गरीब छात्र की सहायता करते हैं। वे रामलखन पाण्डेय जैसे छात्र को नशे से मुक्ति दिलवाते हैं। त्रिलोचन पंत की आर्थिक मदद करते हैं। उसकी फीस की व्यवस्था करते हैं।

यह उनकी सहृदयता ही कही जाएगी कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जैसे प्रतिष्ठित संस्थान के कुलपति होने के बाद भी मालवीय जी 173 क्रान्तियकारियों को छुड़ाने के लिए लगभग दस साल बाद पुनः अधिवक्ता की वेशभूषा धारण करते हैं। उनकी वाणी के विषय में मोतीलाल का कथन है कि मालवीय जी की वाणी में सरस्वती निवास करती हैं।

नन्द-गौतमीयम् नाटक - भारतीय इतिहास से सम्बोधित विशेषकर बौद्ध के जीवन लीला से सम्बन्धित है। इसमें नन्द धीरललित नायक के रुप में आए हैं । धीरवललित नायक का लक्षण आचार्य धनञ्जय ने इस प्रकार किया है—

"निश्चिन्तो धीरललितःकलासक्तः सुखी मृदुः ।"[18]

अर्थात् निश्चिन्त, कोमल और रात-दिन नाचगान आदि में रत रहने वाला नायक धीरललित कहलाता है। जैसे- रत्नावली में उदयन।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार - "निश्चिन्तो मृदुनिशं कलापरो धीरललितः स्यात् ।"[19]

इस नाटक में नन्द भोग विलासी नायक के रुप में प्रस्तुत किया गया हैं जो धीरललित कोटि के नायक के चरित्र को दर्शा रहा है ।

नन्दः (आत्मसंवादः) अत्र विहारिण्यः सन्तिर.....लोके शास्वतं विहर्तुकामोऽस्मि।[20]

नन्दः (किञ्चित् सलज्जम्) कथयतु भगवन् .... रामणीयकनिधिमुपभोक्ष्यामि च।

नन्द आनन्दक से कहते हैं कि वह स्वर्ग की अप्सराओं की प्राप्ति के लिए हिमालय पर तप करने आए हैं ।

नन्द :- तपसा स्वर्गे.....हस्तगत एव।[21]

बुद्ध(गौतम) धीरोदात्त नायक हैं। दशरुपककार धनञ्जय ने धीरोदात्त नायक का लक्षण दिया है । उन्होंने लिखा है कि उत्कृष्ट अन्तरूकरण (सत्त्व) वाला अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, आत्मश्लाघा न करने वाला, स्थिर, अहंभाव को दबाकर रखने वाला, दृढ़व्रती नायक धीरोदात्त कहलाता है। जैसे राम और युधिष्ठिर।[22]

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार - आनन्दनः - सुभगोऽसि...... बुद्धस्यौपयिकम्।।[23] नाटक के प्रारम्भ में ही सिद्धार्थ बिम्बिसार को अपना उद्देश्य बता देते हैं। आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेदितिव्रतिकः प्रव्रजितोऽस्मि। स्वयं जन्म-मरण-बन्धाद् विमुक्तो धर्मप्रचारप्रसंगे पर्यटन कपिलावास्तु समागत्य तत्र पित्रा सहान्यानूध पौरजानपदानूध विमोक्ष्यामीति मे सन्देनशः।[24] प्रकरणेऽस्मिनूध भूलोके तु मनागेव साधनीया तव भोगैश्वर्य-प्रसक्तिः।

अतएव तव कार्यसिद्धिं सम्यकूध प्रणोतुं त्वां देवानां भास्वरलोकं नेतुं समीहे।[25]

अशोक विजयम् - इस नाटक में सुधर्मा को एक धीरप्रशान्तर नायक के रुप में दिखाया गया है। महर्षि सर्वज्ञ भी धीरप्रशान्त नायक का लक्षण है-

धनञ्जय के अनुसार इसका लक्षण है – ''सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः।''[26] सामान्य गुणों से अधिक गुण रखने वाला ब्राह्मण या क्षत्रिय धीरप्रशान्त कहलाता है। जैसे- मृच्छकटिकम् में चारुदत्त। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार-''सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरप्रशान्तः स्यात्।''[27]

सुधर्मा-भवतु नाम। तथापि.......वर्तते।[28]

सुधर्मा(सावज्ञम्) - द्वैवमविद्वांसः ......।

अशोक-विजयम् नाटक में में दो गुणों का एक ही साथ सम्मिश्रण परिलक्षित होता है। प्रारम्भ में अशोक धीरोद्धत नायक की श्रेणी में आता है। तदन्तर महर्षि सर्वज्ञ के उपदेशों से प्रभावित होकर वह धीर प्रशान्त नायक की श्रेणी में शामिल हो जाता है। प्रथम अंक में वह धीरोद्धत नायक के रुप में हमारे सामने उपस्थित होता है ।

अशोकः- (आत्मगतम्) अद्यापूर्वो मे.....लप्स्ये।[29]

तृतीय अंक के अंत में अशोक का हृदय परिवर्तन हो जाता है। तब उसमें धीरप्रशान्त नायक के गुण परिलक्षित होने लगते हैं। धीरप्रशान्त नायक का लक्षण

धनञ्जय के अनुसार- ''सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः।''

सामान्य गुणों से अधिक गुण रखने वाला ब्राह्मण या क्षत्रिय धीरप्रशान्त कहलाता है। जैसे- मृच्छकटिकम् में चारुदत्त।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार-

''सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरप्रशान्तः स्यात्।''

सारांशतः हम देखते हैं कि रामजी उपाध्याय के नाटकों के पात्र धार्मिक और ऐतिहासिक ग्रंथों से लिए गये हैं। उनके पात्रों की चयन प्रक्रिया को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने कभी भी मुख्य पात्र के चयन में स्त्री-पुरुष में कोई भेदभाव नहीं किया गया है। उनके नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता है कि समस्त नाटकों में विश्व कल्याण की भावना नजर आती है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि रामजी उपाध्याय ने पात्रों का चयन विषय-वस्तु की दृष्टि से किया है। सभी पात्रों का अपना स्वरुप है और सभी अपने व्यक्तित्व के अनुसार अभिनय करते हुए दिखाई देते हैं।

सन्दर्भ –

1. *आधुनिक संस्कृत काव्य परम्परा, श्री केशवराव मुसलगाँवकर, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी प्रकाशन, संस्करण 2010 ई., पृष्ठ संख्या 347*
2. *दशरूपक 2/43*
3. *सीताभ्युदयम्, पृ.11*
4. *दशरूपक 2/4-5*
5. *साहित्य दर्पण 3/32*
6. *सीताभ्युदयम्, ृ. 10*
7. *सीताभ्युदयम्, पृ. 10*
8. *दशरूपक 2/4*
9. *साहित्यदर्पण 3/34*
10. *सीताभ्युदयम्, पृ. 8-9*
11. *वही, पृ. 15*
12. *दशरूपक 2/37*
13. *कैकेयीविजयम्, पृ. 18*
14. *वही, पृ. 20*
15. *दशरूपक 2/4*
16. *साहित्यदर्पण 3/34*
17. *मदनमोहनमालवीयकीर्तिमञ्जरी नाट्कम, पृ. 3*
18. *दशरूपक 3/2*
19. *साहित्यदर्पण 3/34*
20. *नन्दगौतमीयम्, पृ. 17*
21. *वही, पृ. 23*
22. *दशरूपक 2/4-5*
23. *नान्दीगौतमीयम्, पृ. 25*
24. *वही, पृ. 7*
25. *वही, पृ. 15*
26. *दशरूपक 2/4*
27. *साहित्यदर्पण 3/34*
28. *अशोकविजयम्, पृ. 10-11*
29. *अशोकविजयम्, पृ. 3*

31

रामजी उपाध्याय के नाटकों में रीति-विचार

शिवपूजन चौरसिया

अवयवों का उचित सन्निवेश जिस प्रकार शरीर का सौन्दर्य बढ़ाता है, शरीर का उपकारक होता है, उसी प्रकार काव्य में रीतियाँ शब्दार्थ एवं रस का उपकारक होती हैं। इसीलिए काव्यशास्त्र में रीति का विशेष महत्त्व है। रीति शब्द की निष्पत्ति 'री' धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाकर हुई है, जिसका अर्थ है- प्रणाली, ढंग, तरीका, मार्ग, शैली, वाक्य-विन्यास आदि।[1] राजशेखर ने सुवर्णनाभ को रीति का निर्णय करने वाले ग्रन्थ का निर्माता बताया है।[2] आचार्य भरतमुनि ने रीति को प्रवृत्ति के नाम से सम्बोधित करते हुए चार प्रकार की प्रवृत्तियों का वर्णन किया है- जिनके नाम हैं- आवन्ती, दाक्षिणात्या, पांचाली तथा औड्रमागधी।[3] काव्यादर्श में आचार्य दण्डी ने 'रीति' को 'मार्ग' कहा है, और इनके विभिन्न भेदों की ओर संकेत किया है।[4] रीति शब्द का प्रयोग आठवीं शताब्दी के प्रमुख आचार्य वामन ने विशेष रूप से किया है। इन्होंने विशिष्ट पद रचना को 'रीति' कहा है[5] तथा 'रीति' को ही काव्य की आत्मा[6] स्वीकार करते हुए इसके तीन भेदों का प्रतिपादन किया है- वैदर्भी, गौडी और पांचाली।[7] साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने पदों के मूल या संगठन को पुरुष की देह के संगठन की भाँति काव्य के आत्मभूत 'रस' भाव आदि का उपकारक स्वीकार किया है।[8] इन्होंने वैदर्भी, गौडी तथा पांचाली रीति के अतिरिक्त 'लाटी' नामक चतुर्थ रीति का उल्लेख किया है -

'वैदर्भी चाथ गौडी च पांचाली लाटिका तथा'।[9]

ध्वनि की स्थापना करने वाले आचार्य आनन्दवर्धन ने रीति को काव्यत्व की व्याख्या करने में असमर्थ बताया है,[10] तथा असमासा, मध्यसमासा और दीर्घसमासा के भेद से संघटना (रीति) के तीन प्रकार माने हैं।[11] आधुनिक संस्कृत

नाट्य साहित्य के प्रमुख नाटककार डॉ. रामजी उपाध्याय ने प्रमुख रूप से सात नाटकों की रचना किया है; जिनको तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है -

वाल्मीकि रामायण पर आश्रित तीन नाटक - कैकेयी-विजयम्, सीताभ्युदयम् तथा शम्बुकाभिषेकम्।

इतिहास पर आश्रित तीन नाटक - अशोक-विजयम्, नन्दगौतमीयम् तथा मदनमोहन-मालवीय-कीर्तिमंजरी।

महाभारत पर आश्रित नाटक- एकलव्य-विजयम्

उपर्युक्त नाटकों की पदरचना में डॉ. रामजी उपाध्याय ने अधिकांशतः पांचाली रीति का आश्रय लिया है। इसके साथ ही साथ वीर रस एवं रौद्र रसों के वर्णन में गौड़ी रीति का तथा श्रृंगार एवं करुण रस के वर्णन में वैदर्भी रीति का प्रयोग किया है। विशिष्ट पदरचना स्वरूप वाली इन रीतियों का प्रयोग अपने सभी नाटकों में बड़ी ही सहजता के साथ किया है। जिनके वर्णन निम्नलिखित है -

वैदर्भी रीति -

माधुर्य व्यंजक वर्णों से ओत-प्रोत, दीर्घ समासों से रहित अथवा अल्प समासों वाली ललित पदरचना का नाम वैदर्भी रीति है। आचार्य वामन के अनुसार ओज, प्रसाद आदि सम्पूर्ण गुणों से युक्त वैदर्भी नामक रीति होती है।[12] साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने इसकी विशेषताओं के आधार पर वैदर्भी रीति का लक्षण देते हुए कहा है -

माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भीरीतिरिष्यते।।[13]

अर्थात् माधुर्यगुण के अभिव्यंजक वर्णों से परिपूर्ण, असमस्त अथवा स्वल्प समासों से युक्त मनोहर रचना वैदर्भी रीति है। आचार्य विश्वनाथ ने आगे रुद्रट के मत का उल्लेख करते हुऐ वैदर्भी रीति को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है -

असमस्तैकसमस्तायुक्ता बहुभिर्गुणैश्च वैदर्भी।
वर्गद्वितीया बहुला स्वल्पप्राणाक्षराय सुतिदितैषा।।[14]

अर्थात् जहाँ पर समास रहित अथवा छोटे समास से युक्त ललित पद रचना होती है, जिसमें श्लेषादि दसगुण विराजमान रहा करते हैं, जिसमें द्वितीय वर्ग अर्थात् च वर्ग के वर्णों का बाहुल्य सुन्दर लगा करता है और जिसमें ऐसे वर्ण रहा

करते हैं जो अल्प प्रयत्न से ही उच्चारित हो सकें तो वहाँ पर वैदर्भी रीति होती है। वैदर्भी रीति के सन्दर्भ में देखा जाय तो प्रायः सभी आचार्यों का एक ही मत है कि इसकी पद रचना में मधुर पदावली, अल्पसमास तथा अधिकांश गुणों का समावेश रहता है। रामजी उपाध्याय ने श्रृंगार एवं करुण रस के प्रयोग में वैदर्भी रीति का उदाहरण सुन्दर प्रयोग किया है। कैकीयी-विजयम् में राजा दशरथ के द्वारा सिंह के ऊपर भ्रमवश छोड़े गये शब्दवेधीबाण से घायल श्रवण कुमार का करुण क्रन्दन वैदर्भी रीति का चित्ताकर्षक उदाहरण है -

आः मम मृत्युनान्धौ पितरौ शोचनीयतां गमिष्यतः। विधातः किं नान्धौ तपस्विनौ दयापात्रीकृतौ। नैकवर्षाणि तयोरंसभारिकोऽहं शुश्रुषमाण आसे। अतः परं कास्ताभ्यां परिवर्हमुपकल्पिष्यते। एकेन बाणेन वयं त्र्यो व्यापादितः।[15]

हाय विधाता, यह क्या किया? अब तो मेरी मृत्यु से मेरे पूज्य माता-पिता दोनों की स्थिति सर्वथा शोचनीय हो गयी। अन्धे तपस्वियों पर भी तुम को दया न आयी। कई वर्षों से इनका मैं पालन-पोषण करता आ रहा था। अब इनका जीवन कैसे चलेगा? एक ही बाण से हम तीन मारे गये। इसी प्रकार रामजी उपाध्याय ने नन्दगौतमीयम् नाटक तृतीय अंक में स्वल्प समास वाली मधुर पदावलियों का प्रयोग किया है -

अत्र विहारिण्यः सन्ति रमण्योऽप्सरसो विलासप्रवृत्तिकाः। वनशोभा-संवर्धना इमाः क्षणे-क्षणे नवतामुपेता विलसन्ति। तथाहि -

गायन्तिता धीरमुदात्तमन्याः
पद्मानिकांश्चिल्ललितंलुनन्ति।
अन्योन्यहर्षान्नटरागशीला-
श्चितांगहारा रमणायमानाः।।

इमा विनोदनोपायाः सन्दीपना एव कामस्य। आसां दर्शनमात्रेण रसराजनिबद्धानि ममेन्द्रियाणि मनोऽनूवर्तनमपि परिहरन्ति, अनिमिषप्सरसो माधुरीमापिबन्ति च। ..... अत्रैवाप्सरसां लोके शाश्वतं विहर्तुकामोऽस्मि।[16]

प्रस्तुत उदाहरण में श्रृंगार रस की अभिव्यक्ति हो रही है। साथ ही माधुर्य व्यंजक वर्णों का प्रयोग एवं अल्पसमास होने से यह वैदर्भी रीति का उदाहरण है। वैदर्भी रीति का एक अन्य उदाहरण, जिसमें माधुर्य व्यंजक वर्णों का प्रयोग करके अल्पसमास वाली पदावलियों को स्थापित किया गया है।

शम्बूकः - (शोकाकुलोऽश्रुमुखः) तस्यापि वर्तते व्यथा-कथा। स मम सतीर्थ्यः अभिन्नहृदयः मम प्राण एवास्ति। मम पितातं सिंहसंहननं, प्रतिभाशालिनं, सर्वविद्यं, संशितात्मानं, वल्गुवाचं च परीक्ष्य तमपहृत्य दुर्गादेव्यै बलिदानायेहानयत्।[17]

रामः - (ससंभ्रमम्) किमभवत् तस्य?

शम्बूकः - (शोकाकुलोऽश्रुमुखः) तस्य

भाविविपत्तेर्ध्यानेनापि निःसञ्ज्ञो भवामि। अद्यैव रजनीमुखे तस्य बलिः कलिमन्दिरेमम पित्रा विधास्यते। तेन विरहितोऽहमपि प्राणान् न धारयिष्ये।[18]

गौडी रीति -

ओज और कान्ति गुणों से युक्त गौड़ी नामक रीति है। जैसा कि आचार्य वामन ने कहा है-ओजः कान्तिमतीगौडीया।[19] अर्थात् ओज और कान्ति नामक गुणों से सम्पन्न गौड़ी रीति कहलाती है। आचार्य वामन गौड़ी रीति को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं- ओजः कान्तिश्च विद्येते यस्यां सा ओजः कान्तिमती गीडीया नाम रीतिः। माधुर्यसौकुमार्ययोरभावात् समास बहुला अत्युल्बणपदा च।[20] इसी प्रकार साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने गौड़ी रीति को परिभाषित करते हुए कहा है- ओजःप्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः।। समास बहुला गौडी ....।।[21]

अर्थात् ओजगुण को प्रकाशित करने वाले, कठोर वर्णों से बनाये हुए, प्रचुर समासों से युक्त उद्भट रचना गौड़ी रीति वाली होती है। रामजी उपाध्याय के अधिकांश नाटक वीर रस प्रधान नाटक है। इसलिए इन नाटकों में गौड़ी रीति का प्रयोग होना स्वाभविक ही है। उन्होंने वीर रस और रौद्र रसों के प्रयोग में अधिकतर गौड़ी रीति का ही प्रयोग किया है। यथा-शम्बुकाभिषेकम् नाटक के पंचम अंक में विष्कम्भक की शब्दरचना में प्रयुक्त गौड़ी रीति का रमणीय उदाहरण द्रष्टव्य है-

साप्ताहिकचर्याभिषेचनिकोपक्रमपरम्परान्तरालेषु वियतं नानाविधलीला मनोरञ्जनानि च साम्प्रतमायोज्यानीति भरं राजपुरोहितो मयि परिकल्पितवानस्ति। विशालतमे मनोरञ्जनप्राङ्गणे नृत्य नाट्य संगीत वाद्यादीनां सज्जासम्यगनुष्ठेतेति आमध्याह्नं मया समीक्षितम्। वनविहार जलविहारेन्द्रजाल प्रतिहार्य मल्लयुद्ध शराभ्यासकथाख्यानादिकृते सौकर्यं साधु सम्पादितम्।

यहाँ पर रामजी उपाध्याय ने गौड़ी रीति का प्रयोग किया है। इसी प्रकार कवि ने सीताभ्युदयम् नाटक के षष्ठ अंक में प्रवेशक के कथन में अधिकतर प्रचुर समासों से युक्त कठोर पदावलियों का प्रयोग बड़ी कुशलता के साथ किया है, यथा-

चतुर्दिशमानन्दमहोत्सवोऽनुष्ठीयते। श्रुतं मया वाल्मीकिसीतारामाणां गौरवशलिकृतित्वस्यौ-दार्येण धन्यं मन्यास्त्रैलोक्यवासिनस्तानभिनन्दितुमहमहमिकया प्रवर्तन्ते। अधुनैव लोकचारित्रमुत्क्रष्टुमादिकाव्यं ब्रह्मणादिष्टो वाल्मीकिः सीतासाह्येन समापितवान् .... सीतारामवाल्मिकिसत्कार प्रवणानभ्यागतमहानुभवान्। त्रैलोक्याद् विमानैः, जलयानैः, रथाश्वहस्तिभिश्च वाहिता देवर्षिमानवनागगन्धर्वासुरयक्षराक्षसाः स्वीयशिविरेषु गङ्गातमसयोरन्तर्देशे सन्निवेशिता अभूतपूर्वदृश्यं पुरस्कुर्वन्ति। आदिष्टोऽस्मि कुलपतिनातिथ्योपचाराणां संग्रहं वितरणं व्यवस्थापयितुम्।[23] नन्दगौतमीयम् की प्रस्तावना में ही गौणी रीति का प्रयोग परिलक्षित होता है -

यास्यां नाट्यकृतौ सदाशिवदिशा सौन्दर्यतत्त्वं वहत्
सत्यं पुण्यपयोधिनिर्मितिपरं व्यङ्ग्यं स्रवत्यंजसा।
या सूते नववर्त्मशान्तिललितं प्रीतिप्रसादोन्नतं
तन्निर्मातृकविर्नवार्थघटको धातेव विभ्राजते। .....
त्रयं निर्वृतिसम्पन्नं सच्चारित्र्यप्रकाशकम।
लोकालोकेषु सर्वत्र भूयान्मङ्गलकारकम्।।[24]

इसीप्रकार मालवीयकीर्तिमंजरी नाटक के पंचम अंक में गौड़ी रीति का प्रयोग स्पष्ट रूप से दिखाई देता है -

अस्मिन्नर्थे भवन्तमेव प्रमाणीकरोमि। भवदीयेयं कर्मभूमिः क्रान्तिकारिप्रवृत्तिसूत्रसंचालकानां शिरोबद्धप्रेतवसनोष्णीषाणां पारतन्त्र्यपाशोन्मोचकानां सातष्टम्भपरमवीराणां शरणस्थलीविभाति। क्रान्तिसूत्रसंचालनदिवसेष्वस्माकं दलस्य सर्वश्रेष्ठरत्नं विद्याभूषणो मम गेहे स्वस्रा सह निर्भीकमातिथ्यमभजत।[25]

प्रस्तुत उपर्युक्त सभी उदाहरणों में गौड़ी रीति के अनुकूल विभिन्न संयुक्ताक्षरों एवं महाप्राण ध्वनियों का प्रयोग हुआ है। जिनका गौड़ी रीति को अभिव्यंजित कराने में महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। साथ ही साथ धन्यंमन्यास्त्रैलोक्यवासिनस्तानभिनन्दितुमहमहमिकया, सीतारामवाल्मिकि सत्कारप्रवणानभ्यागतमहानुभवान्, देवर्षिमानवनागगन्धर्वासुरयक्षराक्षसाः जैसे अनेक लम्बे-लम्बे समासिक पदावलियों का प्रयोग हुआ है।

पांचाली रीति -

पांचाली रीति न तो वैदर्भी की भांति समास रहित होती है और न ही गौड़ी रीति की भांति समास जटिल। यह मध्यममार्ग वाली रीति है, जिसमें

यथासम्भव छोटे-छोटे समासों का प्रयोग किया जा सकता है। जैसा कि आचार्य वामन ने कहा है -

माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली।[26]

अर्थात् माधुर्य और सौकुमार्य इन दो गुणों से युक्त पांचाली नामक तृतीय रीति होती है। ओज तथा कान्ति से रहित होने के कारण यह पांचाली रीति उत्कट पदों एवं समासाधिक्य से रहित होती है। इसी प्रकार सहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने अपने काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ साहित्य दर्पण में भोजराज के मत का उल्लेख करते हुए पांचाली रीति के विषय में कहा है-

समस्तपंचषपदामोजःकान्तिसमन्विताम्,
मधुरां सुकुमारां च पांचालिकवयो विदुः।[27]

अर्थात् पांचाली रीति वह रीति है जिसमें पाँच या छः पदों से अधिक पद वाले समास नहीं हुआ करते, जिसमें ओज और कान्ति गुण विराजमान रहा करते हैं और जो माधुर्य के अभिव्यंजक कुछ कोमल वर्णों से पूर्ण पद रचना हुआ करती है। रामजी उपाध्याय के प्रायः सभी नाटकों की पद रचना में पांचाली रीति की बहुलता दृष्टिगोचर होती है। कैकेयीविजयम् के तृतीय अंक में पांचाली रीति का एक सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य है -

राजभवने महाराजस्य पत्नीभूताया मे कार्यभारोऽतिमत्रः संजातः। महादेव्या कोशल्यया, महारजेन च न केवलमन्तः पुरीयाणि, अपि च राजधान्या जनपदानां परराष्ट्राणां च कार्याणि मयि न्यस्तानि। स्वपुत्रस्य भरतस्य विनयार्थमवकाशो मे नासीत्। प्रशिक्षणार्थं स मामकगृहे मया प्रतिष्ठापितः। सम्प्रति उत्तरस्मिन् भारते स्थितिः प्रशान्ता वर्तते, किन्तु दक्षिणभारतस्य प्रजावृत्तिश्चिन्तां जनयति।[28] अशोक-विजयम् नाटक के चतुर्थ अंक में पंचाली रीति एक प्रमुख उदाहरण निम्नलिखित है -

विश्वस्मिन् मे प्रभवतु रतिर्दुःखधारां निरोद्धुं
वैराग्यं च प्रसरतु सदा स्वार्थसिद्धावनिन्द्यम्।
दानं शीलं वरदवचसा भास्वरं मे भवेताम्
सर्वो मे स्यादहमपि समस्वान्तमार्गे स्वकीयः।।[29]

उपर्युक्त सभी उदाहरणों में माधुर्य गुण के अभिव्यंजक वर्णों की अधिकता है, अल्पसमास या समास रहित शब्दावलियों की बहुलता है, अतः यहाँ पर पांचाली रीति का प्रयोग हुआ है।

काव्यशास्त्र के अधिकांश आचार्य उपर्युक्त तीनों रीतियों को किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं। किन्तु काव्यशास्त्रकारों ने वैदर्भी, गौड़ी पांचाली के अतिरिक्त कुछ अन्य रीतियों की भी चर्चा की है; जिनमें राजशेखर ने 'मागधी' नामक एक अन्य रीति स्वीकार किया है, जो मागध देश में व्यवहृत होती है। भोज ने 'अवन्तिका' नामक रीति का उल्लेख किया है। रुद्रट और आचार्य विश्वनाथ ने एक 'लाटी' नामक मध्यम समास वाली रीति को स्वीकार किया है। इसका प्रयोग लाट देश में होता है। वस्तुतः इन रीतियों का अन्तर्भाव वैदर्भी, गौड़ी पांचाली रीति में हो जाता है। इस प्रकार रामजी उपाध्याय ने उपर्युक्त तीनों रीतियों का प्रयोग बड़े ही सहज रूप में किया है। जिनका दिग्दर्शन उनकी कृतियों में होता है।

सन्दर्भ -

1. *आप्टे, वामन शिवराम, संस्कृत हिन्दी शब्दकोश, पृ. सं. 922*
2. *काव्यमीमांसा, 1, पृ. सं. 3, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः।*
3. *नाट्यशास्त्र, 14/36, चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः। आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चोड्रमागधी।।*
4. *काव्यादर्श, 1/40, अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदं परस्परम्। तत्र वैदर्भगोडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ।।*
5. *काव्यालंकारसूत्र, 1/2/7, विशिष्टा पदरचना रीतिः।*
6. *वही, 1/2/6 रीतिरात्मा काव्यस्य।*
7. *वही, 1/2/9, सा त्रेधा वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति।*
8. *साहित्यदर्पण, 9/1, पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्। उपकर्ती रसादीनां सा पुनः स्याच्चतुर्विधो।।*
9. *वही, 9/2*
10. *ध्वन्यालोक, 3/47, अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम्। अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः।।*
11. *वही, 3/5, असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता। तथा दीर्घसमासेति त्रिधासङ्घटनोदिता।।*
12. *काव्यालंकारसूत्र, 1/2/11, समग्रगुणा वैदर्भी।*
13. *साहित्यदर्पण, 9/2-3*
14. *वही,9/2-3*

15. कैकेयी-विजयम्, प्रथम अंक, पृ. सं.-9
16. नन्द-गौतमीयम्, तृतीय अंक पृ.सं.-17
17. शम्बुकाभिषेकम्, चतुर्थ अंक, पृ.सृं-23
18. वही, पृ.सं. 23, 24
19. काव्यालंकारसूत्र, 1/2/12
20. वही, 1/2/12, वृत्तिभाग
21. साहित्यदर्पण, 9/3
22. शम्बुकाभिषेकम्, पंचम अंक, विष्कम्भक, पृ. सं., 28
23. सीताभ्युदयम्, षष्ठ अंक, प्रवेशक, पृ. सं. 25-26
24. नन्दगौतमीयंम्, प्रस्तातना
25. मालवीयकीर्तिमंजरी, पंचम अंक, पृ. सं. 48
26. काव्यालंकारसूत्र, 1/2/1
27. साहित्यदर्पण, 9 /4
28. कैकेयी-विजयम्, तृतीय अंक, पृ. सं., 15
29. अशोक-विजयम् चतुर्थ अंक, पृ. स. 27

32

रामजी उपाध्याय के नाटकों में औचित्य

नीरज कुमार

औचित्य तत्त्व की व्यापकता और इसकी उपयोगिता अनादि काल से रही है। जीवन के हर क्षेत्र में व्यक्ति को उचित- अनुचित का निर्धारण औचित्य के आधार पर ही होता है। सामान्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि अनेक के बीच में एकरूपता, सापेक्षता, समता या सन्तुलन की जो स्थापना करे वही औचित्य है। आचार्य क्षेमेन्द्र औचित्य की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है उसे उचित कहा जाता है और उसी उचित के भाव को आचार्यों ने औचित्य कहा है।[1] अर्थात् जिस अवस्था या वस्तु विशेष के प्रति जैसा भाव या आचरण उपयुक्त हो उसे उचित कहा जाता है और इसके विपरीतार्थ को अनुचित या अनौचित्य कहते हैं जैसे दीनों के प्रति दया का भाव दिखाना उचित है, और इसके विपरीत यदि उनके प्रति क्रोध दिखाया जाय तो वह अनुचित होगा। धार्मिक क्षेत्र में इसी भाव को पाप-पुण्य की संज्ञा दी जाती है तथा सौन्दर्य-क्षेत्र में भी सुन्दर वस्तु के लिये औचित्य और कुरूप के लिये अनौचित्य संज्ञा का प्रयोग किया जाता है।

यही गुण-धर्म जब काव्यशास्त्र में प्रयोग किए जाते हैं तो उनका महत्त्व स्वतः बढ़ जाता है। जैसे काव्यशास्त्र के क्षेत्र में गुण, अलङ्कार और रसों का उचित सन्निवेष जहाँ काव्य की सुन्दरता को बढ़ाता है वहीं इन्हीं तत्त्वों को जब काव्य में बलात् प्रयोग किया जाता है तो ये काव्य के अपकर्ष के कारक भी बन जाते हैं। जिन्हें अनौचित्य नाम से अभिहित किया जाता है। काव्य में औचित्य की व्यापकता और इसकी उपादेयता को देखकर ही आचार्य क्षेमेन्द्र औचित्य को काव्य के प्राण तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं।[2] आचार्य क्षेमेन्द्र औचित्य के प्रमुख सत्ताइस भेदोपभेदों की चर्चा करते हैं - 1- पद 2- वाक्य 3-प्रबन्ध 4-गुण 5-अलङ्कार 6-रस

7-क्रिया 8-कारक 9-लिंग 10-वचन 11-विशेषण 12-उपसर्ग 13-निपात 14-काल 15-देश 16-कुल 17-व्रत 18-तत्त्व 19-सत्त्व 20-अभिप्राय 21-स्वभाव 22-सारसंग्रह 23-प्रतिभा 24-अवस्था 25-विचार 26-नाम 27-आशीर्वाद। ये औचित्य अनेक विषयों से सम्बन्धित हैं, जैसे- मीमांसा दार्शनिक औचित्य, काव्यशास्त्रीय औचित्य, व्याकरण शास्त्रीय औचित्य, लोकविषयक औचित्य तथा कविविषय औचित्य आदि। काव्यशास्त्र में इनकी उपादेयता सर्वविदित है। अवस्था, देश और काल के अनुरूप उचित पदों के प्रयोग से काव्य लोक में स्तुत्य हो जाता है और अनुचित पदों के प्रयोग से न केवल काव्य में विरसता आती है अपितु रसभंग का कारण भी बन जाता है -

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषद् परा।।[3]

इसलिए कवि सम्प्रदाय सदा से ही अपने काव्यों में औचित्य के सिद्धान्तों का पालन करता आ रहा है। औचित्य के इन्हीं सिद्धान्तों से अनुप्राणित आचार्य रामजी उपाध्याय के नाटक हैं। आचार्य रामजी उपाध्याय आधुनिक संस्कृत साहित्य के अप्रतिम प्रतिमान हैं। जिनकी लेखनी से निकले हुए संस्कृत के ग्रन्थ समाज और संस्कृति के वास्तविक चित्र उकेरने के साथ- साथ काव्यशास्त्रीय नियमों के भी उच्च आदर्श उपस्थापित करते हैं। रामजी उपाध्याय औचित्य के सिद्धान्तों का अपने नाटकों में यथास्थान उचित प्रयोग करते हैं। जैसे अशोकविजयम् नाटक में प्रबन्धौचित्य का एक प्रयोग दर्शनीय है-

आशीर्वादैरवितथवचोवैभवैस्तावकीनैः
विश्वप्राणिप्रणयसुधया भावितं जीवितं मे।
कल्याणानां रचयतु मधुस्यन्दिनः कृत्यवर्गान्
सेवाभावो सुदृढमधुरो वर्धतां लोकहेतोः।।[4]

राजा अशोक शिव, ब्रह्मादि देवगणों से आशीर्वाद प्राप्त करके उनका अभिनन्दन करते हुए कहता है कि आप सबके आशीर्वाद और वरदान से मैं प्रोत्साहित हूँ, मैं आप सब के आशीर्वाद से आजीवन विश्वमानवता के कल्याण के व्रत का पालन करूँगा। प्राणिमात्र की सेवा करता हुआ मैं सब के हित में निरत रहूँगा। मेरे पराक्रम तथा आपके वरदान से मुझे सफलता मिले। शील, दान और दया के महासागर में निष्णात होकर मैं विश्वमानवता को अपने में और अपने को विश्वमानवता में देखूँ।

यहाँ पर अशोक जो कभी एक आक्रमणकारी विजेता के रूप में चित्रित किया गया था, आज वही देवताओं के प्रसाद से एक सहृदय, प्रजावत्सल, शील, दया, दान तथा विश्वमानवता के पोषक महान सम्राट के रूप में अपने आप को स्थापित करता है। जो इस प्रबन्ध के प्रणयन का उद्देश्य प्रतीत होता है। राजा अशोक का हृदय परिवर्तित हो गया है जो देवताओं के आशिर्वाद और उसकी तपस्या से सम्भव हो सका है, इस श्लोक से सम्पूर्ण प्रबन्ध के प्रणयन का उद्देश्य द्योतित होने से ही इसे प्रबन्धौचित्य का उदाहरण कहा जा सकता है।

प्रबन्धौचित्य के अतिरिक्त आचार्य रामजी उपाध्याय ने काव्यशास्त्रीय औचित्यों का सफल प्रयोग अपने नाटकों में किया है। जैसे उनके नाटक 'नन्दगौतमीयम्' में अलंकारौचित्य की सुन्दर छटा देखी जा सकती है-

तपो नाम साध्यं भवति निरानन्दे प्रशान्तप्रदेशे। अत्र चतुर्दिशं विलासः, विलासः, विलास एव विभवति, रसाभिनिवेशश्च भृत्यं प्रचुरायते।[5]

तपश्चर्या के लिए उपयुक्त स्थान के बारे में महात्मा बुद्ध कहते हैं कि शान्त और आनन्दरहित प्रदेश में तपस्या की जाती है किन्तु यहाँ (स्वर्गलोक) में चारों ओर विलास-विलास और विलास का ही बोलबाला है, रसिकता के लिए मारामारी है।

उपर्युक्त गद्य में 'विलास' पद की एक से अधिक बार आवृत्ति हुई है अतः यहाँ अनुप्रास अलंकार है। स्वरों की विषमता होने पर भी जहां वर्णों की बार-बार आवृत्ति होती है वहाँ अनुप्रास अलंकार होता है।[6] यहाँ शृंगार वर्णन में अनुप्रास अलंकार के औचित्यपूर्ण प्रयोग से काव्य के सौन्दर्य की अभिवृद्धि हुई है।

अलंकारों के अतिरिक्त आचार्य रामजी उपाध्याय रसों के औचित्यपूर्ण प्रयोग में भी सिद्धहस्त हैं, किस तरह के वर्णन प्रसंग में किन रसों का प्रयोग औचित्यपूर्ण है इसकी विधिवत् जानकारी आचार्य रामजी उपाध्याय को है। 'नन्दगौतमीयम्' में शान्त रस का औचित्यिक का एक द्रष्टान्त दृष्टव्य है -

जरां व्याधिं च मृत्युं च कोहि जानन् सचेतनः।
स्वस्थस्तिष्ठेन्निषीदेद् वा शयेद्वा किं पुनर्हसेत्।।
अनित्यं तु जगन्मत्वा नात्र मे रमते मनः।।[7]

राजा बिम्बसार जब सिद्धार्थ को अपने महल ले जाने के लिए उनके पास आता है और महल चलने के लिए कहता है तब बिम्बसार से सिद्धार्थ (बुद्ध) कहते

हैं कि जरा, व्याधि और मृत्यु कोई चाहे दुर्बल हो, बलशाली हो, ये किसी को नहीं छोड़ते। इस जगत् को अनित्य जानकर मेरा मन अब यहां नहीं लगता।

उपर्युक्त पद्य अल्प समास युक्त तथा कानों को अच्छा लगने वाला है, इसलिए यहां पर माधुर्य गुण है,[8] और माधुर्य गुण शान्त रस में उत्तरोत्तर चमत्कारजनक होता है।[9] इस पद्य का प्रतिपाद्य जगत् की नश्वरता और क्षणभंगुरता है जिसमें शान्त रस का प्रयोग करने से पद्य चमत्कृत हो उठा है। इस लिए इस पद्य को शान्तरसौचित्य का उदाहरण कहा जा सकता है।

आचार्य ने व्याकरण शास्त्र से सम्बन्धित औचित्य का बड़ा सटीक प्रयोग किया है। वचनौचित्य का एक उदाहरण 'नन्दगौतमीयम्' में देखा जा सकता है -

साधूनां धर्मशीलानां मुनीनां पुण्यकर्मणाम्।
त्वं सदा संश्रयः शैल स्वर्गमार्गाभिकांक्षिणाम्।।[10]

नाटक के चतुर्थ अंक में नन्द को खोजते हुए आनन्द हिमालय पर्वत पर आते हैं और हिमालय की शोभा देखकर कहते हैं पर्वतराज (हिमालय)! तुम सज्जनों, धर्मावलम्बियों, मुनियों, पुण्यकर्मकर्ताओं तथा स्वर्गाभिलासियों के सदा से आश्रयदाता रहे हो।

इस पद्य में साधूनां, धर्मशीलानां, मुनीनां, पुण्यकर्मणां, स्वर्गमार्गाभि-कांक्षिणां आदि सभी पद बहुवचन में प्रयुक्त किये गए हैं जिससे न केवल पद्य चमत्कृत हुआ है अपितु हिमालय का गुणाभिवर्धन भी किया गया है जो पर्वतराज के अनुरूप है। इस पद्य के सौन्दर्य और चमत्कार का कारण पदों का बहुवचन में प्रयोग ही है, अतः इसे वचनौचित्य का उदाहरण कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त आचार्य ने पृथ्वी की वन्दना में अधिकरण कारक का बहुत ही रमणीय औचित्यिक प्रयोग किया है। यथा-

जय जय जलाधारे जलशीले जलप्रदे।
सर्वाधारे च सर्वज्ञे सर्वशक्ति-समन्विते।।
सर्वकामप्रदे देवि सर्वेष्टां देहि सम्भवे।
पुण्यस्वरूपे पुण्यानां बीजरूपे सनातनि।।[11]

यहाँ पर आचार्य ने पृथ्वी के लिए जलाधारे, जलशीले, जलप्रदे जैसे अनेक अधिकरण वाची वचनों का एक साथ प्रयोग करके श्लोक के सौन्दर्य का अभिधान कराया है। इन अधिकरणवाची पदों के प्रयोग से वसुन्धरा के गुणों को गिनाया गया

है तथा इस कारक के उचित प्रयोग से पद्य के चारुत्व की अभिवृद्धि भी हुई है। इसके अतिरिक्त आचार्य रामजी उपाध्याय के नाटक में कुलौचित्य का भी सुन्दर परिपाक हुआ है -

अभियोगेऽस्मिन् विपक्षसाक्षिणो मात्रव्यावसायिकाः समाजेऽप्रतिष्ठिता न देशभक्ता न राजभक्ताः, इतस्ततो निघृणाजीवा वृत्यर्थं रक्षिभवनचञ्चरीका सन्तीति पत्रावली- समीक्षया प्रतीयात्।[12] चौरी-चौरा काण्ड के अभियोगियों के पक्ष से वकालत करते हुए मोतीलाल नेहरु जी मुख्य न्यायाधीश महोदय से कहते हैं कि पत्रावली को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि विपक्ष ने जिन लोगों को साक्षी के रूप में उपस्थित किया है उनका गवाह बनना व्यवसाय है, समाज में अप्रतिष्ठित हैं, न तो देशभक्त हैं और न ही राजभक्त हैं, इधर-उधर घूमकर अपना जीवन यापन करने वाले हैं। इसलिए उनके झूठे गवाह के आधार पर मृत्युदण्ड का विधान न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता है।

इस गद्य में आचार्य रामजी उपाध्याय ने कहा है कि जीवन और मृत्यु से सम्बन्धित वाद में किसी महत्वपूर्ण, प्रतिष्ठित, राष्ट्रभक्त की गवाही ही मान्य होनी चाहिए न कि किसी अप्रतिष्ठित, लोभी या राष्ट्रदोही की गवाही। इस आधार पर इसे कुलौचित्य का उत्तम उदाहरण कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त आचार्य ने अपने नाटकों में व्रत का भी औचित्यपरक सुन्दर प्रयोग किया है। यथा-

मुहुर्मुक्तहस्तोऽहं भूरिव्ययः। सम्प्रति रिक्तहस्तोऽस्मि। किन्तु अद्यावधि न कदाचनाल्पव्ययजीवी प्रवर्तते। अद्य वस्तुतो ब्राह्मणोऽस्मि। मम गृहे भोज्यं नास्तीति।[13]

मालवीय जी के पास कोई गरीब ब्राह्मण अपनी पुत्री के विवाह के लिए धन की याचना से आता है किन्तु दुर्भाग्य से उस दिन मालवीय जी के पास कुछ भी नहीं होता इस स्थिति में वे भगवान की पूजा-अर्चना में प्रयुक्त होने वाले पात्रों को ही उस ब्राह्मण को दे देते हैं। उसी अवस्था के विषय में मालवीय जी सोचते हैं कि अत्यधिक व्यय करने के कारण क्षण भर के लिए मैं रिक्तहस्त हो गया हूँ। आज वास्तव में मैं निर्धन होने के कारण ब्राह्मण हो गया हूँ, मेरे घर में भोजन नहीं है।

यहाँ मालवीय जी को एक अत्यन्त निर्धन संन्यासी के व्रत का पालन करते हुए दिखाया गया है। जबकि वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति तथा एक प्रसिद्ध वकील भी थे। इस गद्य में मालवीय जी की उदारता और

कर्तव्यपरायणता के साथ-साथ उनके वास्तविक व्रत (संन्यास) का अवबोध होता है, इसलिए इसे व्रतौचित्य का उदाहरण कहा गया है। व्रतौचित्य के अतिरिक्त आचार्य रामजी उपाध्याय ने तत्व का भी औचित्यिक प्रयोग अपने नाटकों में किया

मित्रदुःखेन सन्तप्ता ये न सन्ति नराधमा।
तेषां नरकवासस्तु क्षयं याति न कर्हिचित्।।[14]

अर्थात् जो नराधम मित्र के दुःखी होने पर दुःखी नही होते वे अपना सब कुछ नष्ट करके नरकलोकाभिगामी होते हैं।

आचार्य रामजी उपाध्याय इस पद्य के माध्यम से सांसारिक वास्तविकता को बता रहे हैं कि जो व्यक्ति अपने मित्र/सगे-सम्बन्धी अथवा पारिवारिक सदस्यों के दुःख में दुःखी नहीं होते तथा उनके सुख में सुख का अनुभव नही करते उनका सब कुछ नष्ट हो जाता है तथा वे नरक लोक को जाते हैं। इस पद्य के चमत्कार का कारण इसमें तत्व के औचित्यिक प्रयोग से है। अतः इसे तत्त्वौचित्य कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त तत्व औचित्य का एक अन्य सुन्दर उदाहरण दृष्टव्य है-

रामवनगमनस्य प्रथममुद्देश्यमासीद् राक्षसोपप्लवाद् ऋषीणां परित्राणम्।[15]

इस पद्य में चर्चा की गई है कि श्री राम के वन गमन का प्रमुख प्रयोजन राक्षसों का संहार और ऋषियों/सज्जनों की रक्षा करना है। क्योंकि राम के वन गमन का उद्देश्य न तो राज्य विस्तार था और न ही किसी प्रकार का वन में अन्य अभिप्राय था अपितु वे पूर्व में विश्वामित्र आश्रम में राक्षसों के आतंक से त्रस्त ऋषियों की स्थिति देखकर द्रवित थे और असुरों का समूल नास बिना वनगमन के सम्भव नहीं था। इसलिए इस गद्य को राम के वनगमन के प्रयोजन के तत्व के रूप में देखा जा सकता है, जो औचित्यपूर्ण है। तत्व औचित्य के अतिरिक्त आचार्य रामजी उपाध्याय के नाटकों में स्वभाव औचित्य के भी पर्याप्त उदाहरण प्राप्त होते हैं। एक उदाहरण 'अशोक-विजयम् नाटकम्' से दृष्टव्य है -

महाराजस्य घोषणेयं प्रकाशिता यद् दिवानिशं यस्य कस्यापि, यत्र कुत्रापि, यत् किंचिद्प्युच्चावचं कार्यं भवतु, तत् सत्वरं मह्यं सूचनीयम्।[16]

महाराज अशोक हिमालय से तपस्या करके तथा अनेक देवताओं से वरदान प्राप्त करने के उपरान्त अपनी राजधानी लौटकर यह घोषणा करवाते हैं कि दिन हो अथवा रात, कहीं भी, छोटा अथवा बड़ा कोई भी कार्य प्रजा का हो तो मुझे त्वरित सूचित किया जाय।

यह गद्य राजा अशोक के चरित्र की स्वाभाविक उदारता को व्यक्त करता है। हिमालय में तपस्या करने के उपरान्त देवों से अशोक को प्राणि मात्र की सेवा करते हुए अपने धवल यश को प्रसरित करने का वरदान प्राप्त हुआ था इसीलिए अशोक के स्वभाव में सेवाभाव की सहजता दिखाई देती है। अशोक के स्वभाव की सहजता और उदात्तता के कारण ही यह गद्य चमत्कृत हुआ है अतः इसे स्वभाव औचित्य का उदाहरण कहा जा सकता है। इसी नाटक से नाम औचित्य का एक सुन्दर उदाहरण दृष्टव्य है-

देवगणः - वत्साशोक! तपसा त्वं देवानां प्रियः संवृत्तः। वयं त्वां 'देवानां प्रियः' इत्युपाधिनालंकुर्मः। त्वं जगतः प्रियदर्शोऽसि। अनेनातिशयेन तव प्रियदर्शी नाम सार्थकं रोचिष्यते।[17]

देवगण अशोक को आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि पुत्र अशोक तपस्या से तुम देवताओं के प्रिय हो गए हो। हम तुम्हे 'देवानां प्रिय' इस उपाधि से अलंकृत करते हैं। तुम सबका प्रिय देखना चाहते हो इसलिए तुम्हारा 'प्रियदर्शी' नाम सार्थक होगा।

तपस्या के बाद अशोक की मनोवृत्तियां बदल गई थीं और वह उच्चकोटि का धार्मिक तथा शान्ति प्रिय राजा हो गया था जिससे वह देवताओं को अतिशय प्रिय हो गया था इसीलिए देवताओं ने उसे 'देवानां प्रिय' कहकर सम्बोधित किया तथा समस्त प्राणियों को कल्याणकारक नजरों से देखने के लिए प्रियदर्शी नाम भी रखा। इस गद्य में अशोक का नामकरण उसके गुणों के कारण हुआ है इसलिए इसे नाम औचित्य का उदाहरण कहा जा सकता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य रामजी उपाध्याय के नाटक औचित्य की दृष्टि से सार्थक हैं। इनमें औचित्य सिद्धान्त की मूल भावना का सुतरां निर्वाह किया गया है। यहां औचित्य के सभी भेदोपभेदों के तत्तत् प्रकरणें में पर्याप्त उदाहरण देखे जा सकते हैं। जैसा कि स्पष्ट है कि काव्य यदि औचित्य की दृष्टि से लिखे जाते हैं तो वे सामाजिक के द्वारा स्वीकार्य किये जाते हैं, जैसे यदि कवि शृंगारिक प्रसंगों में वर्गों के अन्तिम वर्ण, ह्रस्व रकार, णकार से युक्त पद तथा समास रहित अथवा स्वल्प समासवाले पदों का प्रयोग करता है[18] तो वे पद औचित्य परक कहे जायेंगे तथा सामाजिक के द्वारा सहज स्वीकार्य होगे, इसी तरह अन्य औचित्यिक पदों के प्रयोग भी भाव और भाषा के अनुरूप होने चाहिए। आचार्य उपाध्याय के नाटक इस कसौटी में खरे उतरते हैं। इसीलिए उनके नाटकों की लोकप्रियता बढ़ी है।

सन्दर्भ -

1. उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।
   उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ।। औचित्यविचारचर्चा, 7
2. वही, 5
3. ध्वन्यालोक, 3/14
4. अशोक- विजयम् नाटकम्, अंक 4, पृ. 27
5. नन्दगौतमीयम् अंक 3, पृ. 18
6. काव्यप्रकाश, नवम उल्लास, सू. 103
7. नन्दगौतमीयम् अंक 1 पृ. 6
8. श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते ।। काव्यालंकार, भामह 2/3
9. करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् । काव्यप्रकाश, मम्मट सू. 90
10. नन्दगौतमीयम् अंक 4, पृ. 21
11. वही, अंक 6, पृ. 34-35
12. मदनमोहन-मालवीय-कीर्तिमंजरी नाटकम्, अंक 3, पृ. 26
13. वही, अंक 5, पृ. 51
14. वही, अंक 5, पृ. 46
15. कैकेयी- विजयम् नाटकम्, अंक 5, पृ. 23
16. अशोक- विजयम् नाटकम्, अंक 5, पृ. 28
17. वही, अंक 4, पृ. 26
18. काव्यप्रकाश, अष्टम् उल्लास, सू. 98

33

नन्दगौतमीयम् में विश्वशान्ति

मैत्रयी कुमारी

भारतीय संस्कृति के उपासक एवं आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाले उपाध्याय जी ने अपनी रचनाओं में विभिन्न विषयों पर स्वविचार भी प्रस्तुत किए हैं। 'नन्दगौतमीय' नाटक इनके द्वारा रचित विशिष्ट नाटक है। छः अंकों में निबद्ध इस नाटक में पात्रों की बहुलता है। यथा सूत्रधारः, परिपार्श्विकः, बिम्बिसारः, द्वारपालकः, सचिवः, प्रतिहारी, बुद्धः, श्रावकः, नन्दः, देवदूतः, महामुनिः, द्वारपालः, पृथिवी आदि। स्त्रीपात्र के रूप में मात्र पृथ्वी देवी हैं। विदूषक का इस नाटक में अभाव है। अत्यन्त सरल, सहज एवं सरस ढंग से महात्मा बुद्ध के उपदेशों एवं उनके कार्यों का वर्णन इस नाटक में किया गया है। भारतीय संस्कृत में वर्णित दशावतारों में से भगवान् बुद्ध भी हैं।[1] ये विष्णु के अवतार माने जाते हैं।

निन्दसि यज्ञ विधेरहह श्रुतिजातम् सदयहृदयदर्शितपशुघातम्।
केशवः, धृतबुद्धशरीर, जय जगदीश हरे।[2]

नन्द गौतम के चचेरे भाई हैं। द्वितीय अंक में नन्द रंगमंच पर आता है। बुद्ध का पत्र पढ़कर आनन्दित नन्द बुद्ध का आभार मानकर उनके साथ न केवल चल पड़ता है, बल्कि बुद्ध के बताये मार्ग पर चलकर वह बुद्धत्व अथवा गौतमत्व को प्राप्त होता है।

महाकवि अश्वघोष ने जिस प्रकार 'बुद्धचरितम्' तथा 'सौन्दरनन्द' महाकाव्य के द्वारा बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन एवं प्रसारण किया ठीक वैसे ही रामजी उपाध्याय ने भी आज के इस भौतिकवादी युग में अध्यात्म की ओर बौद्ध धर्म के मूल तत्वों को समझाने के उद्देश्य से 'नन्दगौतमीयम्' नाटक की रचना की है और यह समझाने का प्रयास किया है कि हर व्यक्ति जिन-बुद्ध है, जिन-बीज है, आवश्यकता है तो बस उस सुप्त भाव को जागृत करने की। जन्मों के संचित

संस्कार एवं कर्म व्यक्ति को बन्धन में डाले रहते हैं। लेकिन योग्य गुरु का सानिध्य प्राप्त कर उनके आशीर्वाद से व्यक्ति उस परम तत्व को न केवल जान जाता है अथवा पा लेता है बल्कि गुरु कृपा से स्वयं भी वही हो जाता है। कोई भेद नहीं रह जाता भक्त-भगवान् में, गुरु शिष्य में। जैसा कि प्रस्तुत नाटक के शीर्षक 'नन्दगौतमीयम्' से स्पष्ट होता है। यही इस नाटक का स्वारस्य भी है। विश्व में भी शान्ति-स्थापना इस नाटक का उद्देश्य है। इस नाटक में आचार्य रामजी उपाध्याय ने ब्रह्मा, ब्रह्मलोक, ब्रह्मभवन, ब्रह्मसमाज का बहुत सुन्दर और उदात्त वर्णन किया है। पृथ्वी देवी की यह उक्ति-

नैकभूभागेषु पापात्मानो मानवान् विहाय सर्वे चराचर यथा भवता विहितं तथा साधु आचरति। अन्यथालीकपरा जना निर्घृणस्वार्थवशाद् व्यभिचरन्तीति व्यथा मां भृशं दुनोति। तेषां कारणाद् मानवता यथेष्टं सत्त्वं नोपदधाति।[4]

तदुपरान्त ब्रह्माजी द्वारा यह कहना कि ब्रह्मा (बुद्धभिमुखम्)- पृथ्वी देवी दृशं विषण्णाः नैराश्यं गता। किं करोति भवान् मानवलोके शान्ति बहुली कर्तुम्? किं न स्मरति भवान् यदेतदर्थं देवलोकाद् भवतो बुद्धवतारो मया संकल्पितः?[5] बुद्धावतार के प्रयोजन की ओर संकेत करता है।

बुद्धः - आम्। स्मरामि। पृथ्वी देव्या लोक व्यवस्थापकर्षः सम्यक् उद्घाटितम् इति समर्थये। माता पृथ्वी महीयम्। अत्रभवत्याः केवलैकभागे भारतेऽहमार्य सत्यादि सात्विक धर्मविधानेनः पौरजानपदानां ब्रह्म-विहारोन्मुखौन्नयने व्यापृतोऽस्मि। शेषभागेषु बहुकरणीयमवशिष्यते। भारतेतर लोका इदानीं यावदौदात्त्यपथे संस्काराणां पेक्षमाणाः प्रकृति प्रदत्त सौष्ठवस्यात्मसात्करणे मन्दगतिकाः सन्ति। अस्मिन् विपर्यासे न् तेषामपित्वस्माकमेवानवधानं विलम्बहेतुः।[6]

पृथिवी के उद्धार हेतु क्या किया जाना चाहिए? ब्रह्मा द्वारा यह कहे जाने पर बुद्ध का उत्तर बहुत सुन्दर और सटीक है - यथा भवान् सर्वदुःखप्रशान्ति कृत् शश्वद् ब्रह्म लोके समुत्थापयति, तथैव ब्रह्म रूपा एव भवतोंशावतारा योगिनो जगत्सुहृदो वर्तन्तम्। आत्मवत् सर्वभूतानि पश्यन्तु ब्रह्ममूर्तयः।[7]

आपके योगैश्वर्य की ऋद्धियों से उत्पन्न कोटि-कोटि ब्रह्मा अपने कार्यक्षेत्र में ब्राह्मी चारित्रिक संस्कृति का प्रवर्तन करेंगे। विविध- सांस्कृतिक वर्गों में सामाजिक एकता, समता, समरसता, प्रेम एवं सर्वविद एवं सर्वमंगल कामना से ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उदात्त भावना एवं विश्वशान्ति की स्थापना हो सकती है।

धार्मिक विवादों के कारण उत्पन्न शान्ति विघटन का उपाय भी ब्रह्मधर्म का प्रवर्तन ही है- 'भवतः योगैश्वर्यप्रभावेय योगमाययानाधनेन च पृथिव्यां सर्वत्र संभवेत्।'[8] इतना ही नहीं बुद्ध के विचार से संपूर्ण पृथ्वीलोक की मानवता ब्रह्मशरण-प्रपन्न होकर भेदभावना से मुक्त होकर विश्वशान्ति का संदेश संपूर्ण चराचर को देगी और अन्त में ये परम पद प्राप्त करेंगे। महात्मा बुद्ध और ब्रह्मा जी के इस संवाद से यह भी ज्ञात होता है की ब्रह्मा द्वारा निर्मित ब्राह्मी को सांस्कृतिक उपक्रमों में नियोजित करने के लिए और उसकी अध्यक्षता के लिए पृथ्वी-लोक में नियामक का काम करने के लिए विशेष अवतार पुरुष की आवश्यकता होती है। ब्रह्मा की दृष्टि में बुद्ध इसके लिए सर्वथा उपयुक्त हैं। लेकिन बुद्ध स्वयं इस पद को स्वीकार न कर इसके लिए नन्द के नाम का प्रस्ताव रखते हुए कहते हैं की स्वशक्तिपात द्वारा नन्द को योग्यता प्रदान करें जिससे वह पृथिवी देवी का भार उतारने में मुझसे बढ़कर सफल होगा- 'भवतो योगशक्तिपातेन भवदीयभीष्टं सर्वथा साधयितुं स समर्थो भविष्यति। एतदर्थं ब्रह्मतपसा ब्रह्मचर्येण च स मया सम्यक् प्रशिक्षितः।[9]

ब्रह्मा जी महात्मा बुद्ध का प्रस्ताव स्वीकार कर नन्द को विश्वशान्ति के लिए ब्राह्मी योगशक्ति से युक्त करते हैं।

'भवदीयः प्रस्तावो वितर्कं नार्हति। (नन्दाभिमुखः) एहि तात्, मम् ब्राह्मीं योगशक्तिं लभस्व। (नन्दो ब्रह्मणः सविधे सविनयमुपसृत्य) शिरसि तस्य करतल-संस्पर्शेन शक्तिपातविधिनात्मानं परात्मुच्छ्रयते।[10]

ब्रह्माजी की स्तुति द्वारा विश्वशान्ति की कामना के साथ ही रामजी उपाध्याय ने इस नाटक का पटाक्षेप किया है, समाप्ति की है जो दर्शनीय एवं उल्लेखनीय है -

'मुदितमण्डित विश्वंधाता क्रीडापरायणाः।
प्रमोदयतु भूतानि संनिविष्ट नु दृच्छयः।।
चराचरेषु सर्वत्र संप्रियतां विवर्धयन्।
मैत्रीं समस्तभूतेषु भावयन् नैष्ठिकश्चरेत्।।
पराविद्याकरः पारं नयतु भूतभावनः।
त्वामहं करुणासिन्धुं वन्दे वै परमेष्ठिनम्।।
उपेक्षायुक्त चित्तेन शत्रुमित्रसमावृतः।
सर्वात्मना निवृत्तः सन् परात्परं विगाहताम्।।

सन्दर्भ -

1. *मत्स्यः कूर्मो वराहश्च पुरुषहरिवापुर्वामनो।*
   काकुत्स्थ कंसहन्ता स च सुगतमुनिः कल्किनामा च विष्णुः।। दशावतारचरितम्, क्षेमेन्द्र, 1/2
2. *गीत गोविन्दम्, जयदेव, 1/9*
3. *न ह्यसत्यात् परोऽधर्म इति होवाच भूरियम्।*
   सर्वे सोढुमलं मन्ये ऋतेऽलीकपर नरम्।। महाभारते आदिपर्वणः 58/27,28, भागवते 8/204, भीष्मपर्वणि 9/76
4. *नन्दगौतमीयम्, षष्ठोऽङ्कः, पृ. 35*
5. *वही पृ. 35*
6. *वही पृ. 35*
7. *नन्दगौतमीयम्, पृ. 36-37*
8. *वही पृ. 37*
9. *वही पृ. 38*
10. *वही पृ. 38*

34

रामजी उपाध्याय के नाटकों में भाषिक सौन्दर्य

सरोज कौशल

आचार्य रामजी उपाध्याय समकालीन संस्कृत साहित्य के अग्रगण्य तथा कनिष्ठिकाधिष्ठित कवि के रूप में सुप्रथित हैं। भारतीय संस्कृति तथा संस्कृत साहित्य को इन्होंने आजीवन समृद्ध किया। यद्यपि इन्होंने प्रभूत मात्रा में सर्जनात्मक तथा आलोचनात्मक साहित्य का सर्जन किया तथापि इनके द्वारा रचित नाट्य-साहित्य पुरातन परम्परा में अनेक मौलिक संयोजन करता है। उन्होंने कैकेयीविजयम् शम्बूकाभिषेकम्, नन्दगौतमीयम्, मदनमोहनमालवीयकीर्तिमञ्जरी, अशोकविजयम्, सीताभ्युदयम् जैसे नाटकों के माध्यम से समकालीन नाट्य परम्परा को सम्वर्धित किया है। प्रत्येक नाटक को विशेष प्रयोजन से रचा गया है। नाटकों के व्याज से प्रो. रामजी उपाध्याय ने भ्रान्त तथा प्रचलित अवधारणाओं को उन्मूलन का प्रयास किया है।

प्रो. रामजी उपाध्याय ने शम्बूकाभिषेकम् नाटक की प्रस्तावना में कहा, 'रसास्वादन कराना नाटक का विशेष महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। इसके साथ ही नाटक के कतिपय अन्य योगदान सामाजिक और वैयक्तिक संव्यवहार के उदात्तीकरण के लिए पर्याप्त प्रशंसनीय हैं। बातचीत कैसे करें, अच्छे से अच्छे शब्दों के यथोचित प्रयोग द्वारा वक्ता श्रोता को कैसे प्रभावित करें, किसे कैसे सम्बोधित किया जाये, यह नाटकों से सीखा जा सकता है।'[1]

आचार्य रामजी उपाध्याय ने अपने नाटकों की प्रस्तावना में नाट्यशास्त्र से सम्बद्ध अनेक प्रातिस्विक सिद्धान्तों की स्थापना की जो कि रेखांकित करने योग्य है। 'शम्बूकाभिषेकम्' नामक नाटक में वे कहते हैं –

'सोपन्यासं वदतु सप्रमाणमुदाहरतु च।'[2]

सिद्धान्त तथा उदाहरण (प्रयाग) के विषय में कवि सावचेत करता है। उपन्यास सहित बोलना चाहिए और प्रमाणपुरस्सर उदाहरण प्रस्तुत करने चाहिए। यह संकेत केवल नाटक के लिए ही सीमित नहीं है वरन् एक सामान्य कथन भी प्रतीत होता है। रामजी उपाध्याय यह भी प्रतिपादित करना चाहते हैं कि नाटक में जो भी वार्तालाप सम्पादित किया जाये वह सोपन्यास होना चाहिए तथा प्रामाणिक उदाहरणों से पुष्ट होना चाहिए अन्यथा उसकी विश्वसनीयता संदिग्ध हो जाएगी।

'कैकेयीविजयम्' नाटक में वे छल-प्रपञ्च से युक्त तथा अस्पष्ट वचनों की उपेक्षा करते हुए प्रतीत होते हैं। 'प्रहेलिकैव भवतः प्रतिच्छन्नवचनं मां विमोहयति।'[3] प्रहेलिका के समान आपके ये वचन मुझको विमोहित कर रहे हैं। स्पष्टता भी वाणी का अमूल्य आभूषण है। कवि ऐसी वाणी का समर्थन नहीं करता जो स्पष्टता के अभाव में ऐसे अर्थान्तर प्रस्तुत करती है जो कि अनिष्ट होते हैं।

नाटकों का मूलस्वर आचार्य रामजी उपाध्याय के नाटकों में लोकरञ्जन तथा लोकमंगल के अनेक कोणों को रेखांकित किया गया है। राजकुमार सिद्धार्थ प्रासाद से जब निर्गत हो गये तब सुमति के द्वारा उनके अन्तिम वचन का स्मरण कराया गया - 'तस्यान्तिमं वचनं श्रुतमासीत् - युवकाः, लोकसंग्रहो भवतु भवतां जीवनोद्देश्यम्।'[4]

जीवन का उद्देश्य ही लोकसंग्रह होना चाहिए। नन्दगौतमीयम् नाटक में ही प्रतिहारी तथा प्रतिहार का सम्वाद इस सन्दर्भ में ध्यातव्य है - 'पार्थिवराजाः प्रजानामिह लौकिकसंवर्धनाय चेष्टन्ते। बुद्धस्तु विश्वजनस्य लौकिकं पारलौकिकं चोभयविधं मङ्गलं विधातुं कृतसंकल्पोऽनिशं यतते।'[5]

पार्थिव राजाओं से बुद्ध का व्यतिरेक प्रदर्शित करते हुए नाटककार रामजी उपाध्याय ने यह अपेक्षा की है कि पार्थिवराजा का परम एवं पावन कर्त्तव्य प्रजाओं का इहलौकिक सम्वर्धन तो है ही, परन्तु यदि कोई राजा विश्वजन के लौकिक एवं पारलौकिक उभयविध मङ्गल करने के लिए कृतसंकल्प हो जाये तो वह बुद्धत्व पद योग्य हो सकता है। नाटक में इस प्रकार के वैचारिक औदात्य की स्थापना वस्तुतः दर्शकों को आन्दोलित करती हैं।

'शम्बूकाभिषेकम्' नाटक में राम शम्बूक के प्रति राज्यरक्षण के साधनों का कथन करते हुए कहते हैं - 'ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षतीति' तव मनः साम्ये प्रतितिष्ठतु। त्वं प्रजानां हृदये तथैव प्रतितिष्ठ यथाऽहं तव हृदये वसामि।[6]

राजा ब्रह्मचर्य तथा तपस्या के द्वारा राष्ट्र की विशेष रक्षा करता है। तुम्हारा मन साम्यावस्था में अवस्थित होवे। तुम प्रजाओं के हृदय में उस प्रकार सुप्रतिष्ठित हो जाओ जैसे मैं तुम्हारे हृदय में रहता हूँ। राम के द्वारा राजा से जिस योग्यता की अपेक्षा की जा रही है वह वस्तुतः योगी के समकक्ष है। ब्रह्मचर्य तथा तप अन्तःबल के आधायक हैं। प्रजा के साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित करने का आह्वान करते हुए नाटककार ने शम्बूकाभिषेक के प्रसङ्ग में यह महत्त्वपूर्ण लोकमङ्गलात्मक सिद्धान्त प्रदान किया है।

'नन्दगौतमीयम्' नाटक में भी आचार्य रामजी उपाध्याय ने 'स्वराज्य' का प्रकारान्तर से लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा - समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति।[7]

आत्मयाजी समभाव में रहता हुआ अथवा सभी में समभाव का दर्शन करता हुआ स्वाराज्याधिकारी हो जाता है।

बुद्ध प्राणिमात्र में अत्यधिक उदारता से संसक्त होने के कारण स्वराज्य को साम्राज्य से भी अधिक वरेण्य मानते हैं।

'गौतमोऽयं प्राणिमात्रेऽतिमात्रचेताः स्वाराज्यं साम्राज्यादपि वरीयो मन्यते।'[8]

नन्द के द्वारा यह पूछा गया कि मेरे द्वारा आपके लिए क्या कर्त्तव्य सम्पादित किया जाये? इस पर बुद्ध का प्रत्युत्तर द्रष्टव्य है - विश्वजन-हित के लिए मेरा जो-जो कार्य अवशिष्ट है, वह-वह तुम्हारे द्वारा सम्पादित किया जाना चाहिए। यही गुरुदक्षिणा मुझे अभिप्रेत है।[9]

'सीताभ्युदयम्' नामक नाटक में ब्रह्मा ने राम की लोकप्रशासन चातुरी का निर्देश करते हुए कहा - 'अनिशं लोकव्यवस्थां चारुतरं विदधानः स श्रान्तिं न प्रत्येति।'

राम लोकव्यवस्था को अवनवरत श्रेष्ठरीति से निभाये बिना विश्राम नहीं कर सकते। यह लोक-कल्याणपरक तथा प्रजा को असत् से हटाकर सत् की ओर उन्मुख करने रूप लोकसंग्रह की स्थापना रामजी उपाध्याय के नाटकों में आद्यन्त पर्यवसित होती है।

'नन्दगौतमीयम्' नामक नाटक में लोकोपकार को महान् व्यक्तियों का चारित्रिक गुण बताया गया है - 'अविलम्बितक्रममहो महताम्, इतरेतरोपकृतिमच्चरितम्'[10]

ये सूत्र वाक्य नाटकों के प्राण-तत्त्व हैं। ये पात्रों की चारित्रिक उत्कृष्टता का भी संकेत करते हैं और सामाजिक तथा राष्ट्रीय बोध का भी संकेत करते हैं।

'मदनमोहनमालवीयकीर्तिमञ्जरी' नामक नाटक में आचार्य रामजी उपाध्याय ने एक ऐसा वार्तालाप-प्रसङ्ग उत्थापित किया जिसमें मदनमोहन मालवीय की समष्टि में अध्यात्मपरक दृष्टि का उदात्त परिचय प्रदान किया है। राकेश कहता है कि कुक्कुरस्पर्श से हम अशुद्ध हो गये हैं अतः क्या पुष्पचयन से पूर्व हमको पुनः स्नान करना चाहिए?

इस पर मदनमोहनमालवीय ने कहा - क्या तुमने भागवतकथाप्रसङ्ग में मेरे पिता के प्रवचनों को नहीं सुना? 'यद् भूतग्रामो भगवत एव प्रतिरूपः सामान्य प्रतिपत्तिपूर्वकं द्रष्टव्यः। अथ च भूतात्मा शोभते भूतानुकम्पया। विपत्प्रतिकारपरायणा हि सात्त्विकी स्यादीश्वरसेवा। कुक्कुरशिशोः सेवया वस्तुतः मया विष्णुरेव सेवितः।'[11]

कुक्कुरशिशु की सेवा के द्वारा मैंने वस्तुतः विष्णु की ही सेवा की है। यह ऐसा अध्यात्म है जो कि लोक में रचा-पचा है। विपत्तियों के प्रतिकार में ही सात्त्विक ईश्वर सेवा निहित है। ईश्वर सेवा के नाम पर जो प्रचलित पाखण्ड है, उसका यहाँ सतर्क खण्डन किया गया है। नाटक में इत्याकारक प्रसङ्ग प्रेक्षकों की वैचारिक उदात्तता के अभिप्रेरक हैं। अध्यात्म कोई अलौकिक अवधारणा नहीं है अपितु लोक और अध्यात्म गलबहियाँ करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

आचार्य रामजी उपाध्याय ने अनेक नूतन आभाणक गढ़े हैं। ये आभाणक पौराणिक संस्कृत में प्राप्त नहीं होते। समकालीन संस्कृत साहित्य को उन्होंने आधुनिक भाषा-चातुरी से समृद्ध किया है। 'नन्दगौतमीयम्' नाटक में एक आभाणक प्रयोग द्रष्टव्य है - नास्त्यत्रभवतो दोषः। दोषस्तु ममैव, कल्पवृक्षात् तृणयाचने। यद् भूतं तद् भूतम्।[12]

'कल्पवृक्ष से तृणयाचना करना' वस्तुतः दोष है। यद्यपि पूर्ववर्ती साहित्य में ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं जहाँ इस प्रकार का आभाणक प्रयुक्त किया जा सकता था परन्तु इस आभाणक का आचार्य उपाध्याय ने सम्यग्प्रयोग कर नाटक में सौन्दर्य का आधान किया है। एक अन्य स्थान पर कहा गया -'न हि कायस्य कृते जातु युक्ता मुक्तामणेः क्षतिः।'[13]

काँच के लिए मुक्तामणि को नष्ट करना कदापि युक्तिसंगत नहीं है। तात्पर्य यह है कि महनीय व्यक्तित्व का अथवा महार्ह पदार्थ का अधम अथवा अनिष्ट पदार्थ के लिए अवमूल्यन नहीं करना चाहिए।

नन्दगौतमीयम् में आनन्द कहता है -'तपस्विनां मनोरथः इति विसङ्गतिः प्रतिभाति ।'[14] तपस्वीजन के भी मनोरथ हों? यह तो विसङ्गति ही है क्योंकि मनोरथों के त्यागानन्तर ही तपः प्रवृत्ति अभिप्रेत है। इन्द्रियों को उनके विषयों से पराङ्मुख करना, तदनन्तर मन को उत्कृष्ट लक्ष्य पर केन्द्रित करना - यह तपस्वी की योग्यता की पूर्वभूमिका है। यह पूरा भाव केवल एक लघुवाक्य में समाहित कर देना, 'तपस्विनां मनोरथः' वस्तुतः यह व्यञ्जना का भी ज्ञापन करता है। 'कैकेयीविजयम्' में कैकेयी ऋषियों के अलौकिक प्रभाव को रेखांकित करती है - 'महाप्रभावाः सन्ति ऋषयः। तेषां तपःसमाधिभिः असाध्यमपि सिद्धं भवति ।'[15]

ऋषियों की तपःसाधना से असाध्य भी सिद्ध हो जाता है। इस आभाणक में ऋषि-परम्परा का गौरव भी निहित है और तपस्या का फल भी निरूपित किया गया है। तपस्या अथवा समाधि उच्चकोटि की साधना है और उस साधना से असाध्य भी प्राप्त किया जा सकता है।

आचार्य रामजी उपाध्याय ने नाटकों में पदे-पदे दार्शनिक सूत्र भी प्रदान किये हैं। यह कवि का जीवन-दर्शन है जो कि नाटकों के पात्रों के व्याज से अभिव्यक्त होता है। 'शम्बूकाभिषेकम्' नाटक में सुमति जब राजकुमार के मन्दभाग्य की विडम्बना का वर्णन करता है तो योगेश्वर कहते हैं -'नैवं वद। वंशधरोऽयं राजकुमारः। किं नाम सूर्यो ग्रहणं सततं भजते? भगवदनुग्रहेण तस्य विपत्तिमहार्णवोऽपि शोक्ष्यति ।'[16]

शम्बूक कुलीन है। और क्या सूर्यग्रहण निरन्तर होता रहता है। भगवान् के अनुग्रह से विपत्ति रूप समुद्र भी सूख जायेगा। ऐसे अभिप्रेरक सूत्र वाक्य वस्तुतः जीवन में सम्बल बनाये रखते हैं। प्रकृति के उपादानों का निदर्शन सर्वजनसम्वेद्य होता है। सूर्य जैसे तेजस्वी को भी ग्रहण लगता है परन्तु क्या यह ग्रहण अनवरत प्रवर्तमान रहता है? ग्रहण का मोचन ,क निश्चित कालावधि के पश्चात् हो जाता है। उसी प्रकार प्रत्येक कठिनाई अथवा विपत्ति कतिपय कालानन्तर स्वतः समाप्त हो सकती है।

नन्दगौतमीयम् में भी इसी आशय के जीवन-दर्शन को पृथक् सौष्ठव से व्याख्यायित किया गया है - श्रेयांसि लब्धुं न सुखानि विनान्तरायैः। खल्वाटस्यापि केशोच्चयजननं मे सुसिद्धम्।।[17]

बिना विघ्नों के कल्याणप्राप्ति सुखद प्रतीत नहीं होती। कल्याणप्राप्ति का मूल्य पूर्णरूपेण तभी ज्ञात होता है जबकि वह अनेक विघ्नों पर विजय प्राप्ति के पश्चात् अधिगत हुई हो।

समकालीन संस्कृत साहित्य की रचनाओं ने अनेक प्रकार के भ्रम-भञ्जन किये हैं। संस्कृत जैसी उदात्त एवं गम्भीर भाषा में प्रायः हास-परिहास का अभाव है, ऐसा आरोप अन्य भाषाविद् आरोपित करते हैं परन्तु आचार्य रामजी उपाध्याय ने अपने नाटकों में परिहास की उपपत्ति को सुन्दररीत्या प्रस्तुत किया है - भवतु नाम सपरिहासम्। परिहासोऽपि क्वचिदपरिहार्यो भवति कार्यसाधकः।[18]

परिहास का प्रसङ्ग अवश्य होना चाहिए क्योंकि कभी-कभी परिहास भी अपरिहार्य कार्यसाधक हो जाता है। परिहास से जिस आत्मिक प्रसन्नता की धवलता का प्रसार होता है वह वस्तुतः अनिर्वचनीय है।

आचार्य रामजी उपाध्याय का प्रकृति-सम्बन्धी सम्वेदन भी विशेषरूपेण ध्यातव्य है। 'शम्बूकाभिषेकम्' नाटक में प्रकृति सम्वेदन के अनेक प्रसङ्ग हैं। हिरण्यकेश प्रकृति के विषय में जो मनोभाव प्रकट करता है उससे दर्शकवर्ग में एक समानुभूति का सञ्चार होता है। प्रकृति का वनस्पति-काय सौरभ जो सुख प्रदान करता है वैसा सुख तो मेरा विशाल राज्य भी प्रदान नहीं कर सकता है। विशाल राज्य के सुख को प्राकृतिक-सुषमा-उद्भूत सुख मानो विस्थापित करता हुआ प्रतीत होता है। हिरण्यकेश की अनुभूति तथा प्रकृति के प्रत्येक उपादान का सौन्दर्य परस्पर स्पर्धि है -

'अहो मातृरूपाया वसुन्धराया अलङ्कारभूताः प्रकृति-विभूतयोऽत्र परितः परिवारयन्ति। तथाहि हरितच्छदा शाद्वला मही, पक्षिणां चीची-कूची-कूजितैः संगीतमयं गगनम्, पुष्पहासविलासैः सुरभिर्वायुः, कल-कलोच्छलनिनादरम्यं जलम् इत्येतानि चराचरमनादिकालतो विष्वक् प्रमोदयन्ति।'[19]

प्रकृति के जो अमूल्य उपादान हमारे चारों ओर फैले हुए हैं, वे जीवन में अनिर्वचनीय माधुर्य का सञ्चार करते हैं परन्तु हम इस नैसर्गिक सम्पदा की महार्हता से अनवगत-प्रायः ही हैं। इस वर्णन में आचार्य रामजी उपाध्याय ने जिस पदावलि का प्रयोग किया है वह पूर्वापेक्षा भिन्न है। जब वे पक्षियों के कलरव का कथन करते हैं तो 'पक्षिणां चीची-कूची-कूजितैः संगीतमयं गगनम्' यहाँ चीची-कूची कूजितैः का प्रयोग सर्वथा विलक्षण एवं अप्रचलित है।

इसी प्रकार मनुष्यों के द्वारा वन-सुषमा के नाश के प्रसङ्ग में आचार्य उपाध्यायजी कहते हैं - 'न केवलं वनान्तस्यापितु सान्द्रवनान्तरस्यापि सांस्कृतिकप्रशान्तरमणीयतां ते नृशंसं विलोपयन्ति। अहो तेषां वञ्चनचुञ्चुता!'[20]

'वञ्चनचुञ्चुता' शब्द प्रयोग में प्रायः अल्प ही आता है। यद्यपि व्युत्पत्ति-दृष्ट्या यह युक्तियुक्त है।

'सीताभ्युदयम्' नाटक में गङ्गास्तुति का भी सुन्दर प्रसङ्ग है। गङ्गा के लिए जिस पदशय्या का प्रयोग किया है, वह अनुप्रास के सौन्दर्य की छटा बिखेरता है। शैलेन्द्रावतारिणी मज्जज्जनोत्तारिणी, पारावार-विहारिणी, भवभय-श्रेणी-समुत्सारिणी, विष्णोः पादविचारिणी[21] आदि पदसन्तान के द्वारा गङ्गा के भौतिक-सौन्दर्य तथा पौराणिक महत्त्व को एकत्र निरूपित किया है।

सीताभ्युदयम् में सीता के विशेषणों की एक माला ही गूँथ दी गई है - 'सीता सर्ववेदमयी, सर्वदेवमयी, सर्वाधारकार्यकारणमयी, महालक्ष्मीः, देवर्षि-मनुष्य-गन्धर्वरूपा, असुरराक्षस- भूत-प्रेत- पिशाच-भूतादिभूतशरीररूपा च विज्ञायते।'[22] सीता की अलौकिक छवि को अनेक विशेषणों से निरूपित करते हुए कवि ने अपने शब्दकोश तथा हार्दिकी श्रद्धा को भी प्रकट किया है तथा सीता के चरित की महनीयता का भी निरूपण कर दिया है।

शम्बूकाभिषेकम् में नान्दी में भी शम्बूक कथा के माध्यम से श्रेयवर्धन का आशीर्वादात्मक स्वर-प्राधान्य है। यद्यपि यह मुद्रालङ्कार नहीं कहा जा सकता है क्योंकि मुद्रालङ्कार में नाटक में प्रयुक्त पात्रों के नामों का प्रकारान्तर से प्रयोग होता है तथापि कवि कहते हैं - 'सा शम्बूक-विचित्रिता हरिकथा श्रेयांसिवो वर्धयेत्।' शम्बूक के प्रसङ्ग से विचित्रिता हरिकथा आप सभी का कल्याण-सम्वर्धन करे।

नाट्य-शैली-वैशिष्ट्य -

आचार्य रामजी उपाध्याय इस तथ्य से अवगत थे कि प्राचीन नाटकों के प्रति अत्यधिक आदर करने वाले नूतन परम्परा के विद्वान् नूतन नाटकों में प्रायः मन्दरुचि वाले हो सकते हैं। परन्तु वे इससे हतोत्साहित नहीं हुए। सूत्रधार के माध्यम से स्वकीय नाटकों के विषय-चयन पर जो टिप्पणियाँ प्रदान की गईं, वे नाटककार के वैदुष्य तथा स्वाभिमान की द्योतक हैं।

'सीताभ्युदयम्' नाटक की रचना का उद्देश्य सोपपत्तिक स्पष्ट करते हुए कहा गया कि सीता के औदात्य को रेखांकित करना तथा तत्सम्बद्ध प्रक्षिप्त अंशों का परिमार्जन करना ही इस नाटक का लक्ष्य है।

'शम्बूकाभिषेकम्' नाटक में आचार्य रामजी उपाध्याय शम्बूक के राज्याभिषेक को प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं। नाटक की भूमिका में नाटककार कहते हैं - 'शम्बूकाभिषेक नाटक में रामकथा का वह अंश अभिनेय बनाया गया है, जिसमें रामायण के अनुसार राम शम्बूक नामक शूद्र तपस्वी की इहलोक लीला समाप्त कर देते हैं, क्योंकि शूद्र को तप करने का अधिकार नहीं है और उसके तपस्या रूपी

अधर्माचरण से किसी ब्राह्मण का पुत्र निर्जीव हो गया है। यह बात मेरे गले के नीचे नहीं उतरती। शूद्र का तप करना अधर्म नहीं है। --- नाटक की कथा के अनुसार शम्बूक वनवासी शबर था और ऋषियों की संगति में वह प्रह्लाद जैसा महान् साधक बन चुका था। पिता के द्वारा बन्दी बनाये जाने पर राम ने उसे मुक्त करके उसका अभिषेक किया और उसके द्वारा शबर-प्रदेश में रामराज्यादर्श को पल्लवित किया गया।'[23]

मदनमोहनमालवीय-कीर्तिमञ्जरी सर्वथा नूतन तथा समकालीन उदात्त व्यक्तित्व को आधार बनाकर रचा गया नाटक है। अशोकविजयम् तथा कैकेयी-विजयम् नाटक भी नवीन वैचारिकी का प्रसार करते हैं।

रामजी उपाध्याय के नाटकों में भरत-वाक्यों पर यदि दृष्टिपात किया जाये तो 'शम्बूकाभिषेकम्' में सौहार्द का प्रसार और वैरोद्गम-ध्वंस का आह्वान सर्वथा युक्तियुक्त है -

विश्वो विश्वजनाय जीवतु मही स्यात् संपदां वर्धिनी।
सौहार्दोल्लसिता समग्रजनता वैरोद्गमं ध्वंसयेत्।।[24]

'अशोकविजयम्' नाटक के भरतवाक्य में भी शान्तिगर्भित ऐश्वर्य की मङ्गलकामना की गई है।[25]

आचार्य रामजी उपाध्याय ने जिन विषयों को नाटक का विषय बनाया उनमें विदूषक का प्रसङ्ग अपेक्षित नहीं था। यद्यपि नाट्यशास्त्र में विदूषक का विधान किया गया है। ये समस्त नाटक सीधे-सीधे कथावस्तु को प्रस्तुत करते हैं किसी भी प्रकार की प्रकरणवक्रता के द्वारा उत्पन्न चमत्कार के दर्शन इन नाटकों में नहीं होते। ऐसा भी प्रतीत होता है कि आचार्य रामजी उपाध्याय ने नाटक-रचना के द्वारा समकालीन संस्कृत साहित्य को संस्कृत भाषा की प्रत्यग्र छटा तथा नूतन विषयों अथवा कथावस्तु के द्वारा समृद्ध किया है। प्रायः प्रत्येक नाटक पौराणिकता में पुनर्नवता का आधान करता है।

सन्दर्भ -

1. *शम्बूकाभिषेकम्, पृ. 19*
2. *शम्बूकाभिषेकम्, पृ. 5*
3. *कैकेयीविजयम्, पृ. 8*
4. *नन्दगौतमीयम्, पृ. 8*

5. *नन्दगौतमीयम्, पृ. 9-10*
6. *शम्बूकाभिषेकम्, पृ. 32*
7. *नन्दगौतमीयम्, पृ.*
8. *नन्दगौतमीयम्, पृ. 9*
9. *विश्वजनहिताय यत्कार्यं मेऽवशिष्यते, तत्त्वया सातत्येन सम्पादनीयमिति मे गुरुदक्षिणाऽभिप्रेता। - नन्दगौतमीयम्, पृ. 31*
10. *नन्दगौतमीयम्, पृ. 5*
11. *मदनमोहनमालवीयकीर्तिमञ्जरी, पृ. 4*
12. *नन्दगौतमीयम्, पृ. 29*
13. *नन्दगौतमीयम्, पृ. 23*
14. *नन्दगौतमीयम्, पृ. 22*
15. *कैकेयीविजयम्, पृ. 4*
16. *शम्बूकाभिषेकम्, पृ. 14*
17. *नन्दगौतमीयम्, पृ. 24*
18. *नन्दगौतमीयम्, पृ. 17*
19. *शम्बूकाभिषेकम्, पृ. 3*
20. *शम्बूकाभिषेकम्, पृ. 12*
21. *सीताभ्युदयम्, पृ. 19*
22. *सीताभ्युदयम्, पृ. 28*
23. *शम्बूकाभिषेकम्, भूमिका*
24. *शम्बूकाभिषेकम्, पृ. 35*
25. *रम्या स्यात् प्रकृतिः परार्थघटिका सौख्यस्य भूमास्पदाम् लोको विस्मरतात् परस्परगतामुद्वेजिनीं वैरिताम्।। - अशोकविजयम्, पृ. 34*

लेखकों के पते

प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी	-	21, लैण्डमार्क सिटी, नियर बीएचईएल, संगम सोसायटी, भोपाल - 462043
श्यामसुंदर दुबे	-	चण्डीजी वार्ड, हटा, दमोह (म.प्र.)
डॉ. संजय कुमार	-	सहायक-आचार्य, संस्कृत विभाग डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) 470003
प्रो. राम सुमेर यादव	-	अध्यक्षरः संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ - 226007
डॉ. वत्सला	-	सह आचार्य, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, झालावाड़ (राजस्थान)
रूपा कुमारी	-	शोध-छात्र, संस्कृत विभाग जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली 110025
डॉ. जयप्रकाश नारायण	-	उपाचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली
डॉ. सुकदेव वाजपेयी	-	अध्यक्ष, संस्कृत विभाग स्वामी विवेकानंद विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
डॉ. शिल्पा सिंह	-	असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)
डॉ. कृष्णा जैन	-	प्राध्यापक संस्कृत, शासकीय कमला राजा कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय ग्वालियर (म.प्र.)
कविता कुमारी मीणा	-	शोध-छात्रा, संस्कृत विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
रमाकान्त पाण्डेय	-	आचार्य, साहित्य विभाग केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर परिसर, त्रिवेणीनगर, गोपालपुरा बाईपास, जयपुर-302018

डॉ. अजय कुमार मिश्र - वरिष्ठ समालोचक फ्लैट संख्या : 2/802, ईस्ट एंड अपार्टमेंट मयूर विहार फेज-1 एक्सटेंशन, नई दिल्ली - पिन 110096

प्रो. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी - अध्यक्ष संस्कृत विभाग डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर 470003

यशदेव आर्य - शोधछात्र, संस्कृत विभाग जामिया मिल्लिया इस्लामिक वि.वि. नई दिल्ली

डॉ. रामहेत गौतम - सहायक आचार्य संस्कृत विभाग डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

डॉ. ठा. शिवलोचन शाण्डिल्य - सहायक आचार्य, संस्कृतविभाग, कलासंकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. जहाँआरा - जामिया मिल्लिया विश्वविद्यालय

प्रो. शालिनी सक्सेना - प्रोफेसर भाषाविज्ञान, राजकीय महाराज आचार्य संस्कृत महाविद्यालय, गाँधीनगर, गाँधी सर्किल के पास, जयपुर 302015

डॉ. सन्दीप कुमार यादव - अतिथि प्रवक्ता, संस्कृत-विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज (उ.प्र.)

डॉ. किरण आर्या - सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

अर्चना जोशी - प्राध्यापक, संस्कृत इंदौर (म.प्र.)

डॉ. रामाश्रय राजभर - प्रवक्ता (संस्कृत) सरदार पटेल इण्टर कालेज, लक्ष्मीपुर, महराजगंज (उ.प्र.)

डॉ. नौनिहाल गौतम - सहा.आचार्य, संस्कृत विभाग डॉ. हरीसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) 470003

डॉ. प्रभातकुमार सिंह - असिस्टेण्ट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, चुनार, मीरजापुर (उ.प्र.)

रवीन्द्र कुमार पंथ - शोध-छात्र, संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

निकिता यादव - असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
शासकीय महाराजा (स्वशासी) स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, छतरपुर (म.प्र.)

प्रभाशंकर शुक्ल - शोधछात्र (संस्कृत)
विक्रमाजीतसिंह - सनातनधर्म महाविद्यालय,
कानपुर (उ.प्र.)

पूनम यादव - शोध-छात्र, संस्कृत विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

डॉ. अरुण कुमार निषाद - असिस्टेण्ट प्रोफेसर (संस्कृत विभाग)
मदर टेरेसा महिला महाविद्यालय, कटकाखानपुर
द्वारिकागंज, सुल्तानपुर

डॉ. शिवपूजन चौरसिया - प्रवक्ता संस्कृत
गंगापुर इण्टर कॉलेज (उ.प्र.)

डॉ. नीरज कुमार - श्री महावीर इण्टर कॉलेज सामी, जालौन (उ.प्र.)

डॉ. सरोज कौशल - प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग,
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

डॉ. मैत्रयी कुमारी - सहायकाचार्य, संस्कृत विभाग
कमला नेहरू महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली- 49